श्रीभट्टोजिदीक्षितविरचिता

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

[समासप्रकरणम्]

आचार्य जगदीश शास्त्री
श्रीमती मधुबाला शर्मा

मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स
प्राईवेट लिमिटेड • दिल्ली

श्रीभट्टोजिदीक्षितविरचिता

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

हिन्दीव्याख्यानुवादरूपसिद्धिसंवलिता

[समासप्रकरणम्]

आचार्य जगदीश शास्त्री

श्रीमती मधुबाला शर्मा

मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स
प्राईवेट लिमिटेड • दिल्ली

प्रथम संस्करण : दिल्ली, १९७९
पुनर्मुद्रण : दिल्ली, १९८८, १९८९, १९९२, १९९५

© **मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड**
सर्वाधिकार सुरक्षित

अन्य प्राप्ति स्थान:

मोतीलाल बनारसीदास
बंगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली ११० ००७
१२० रॉयपेट्टा हाई रोड, मैलापुर, मद्रास ६०० ००४
१६ सेन्ट मार्क्स रोड, बंगलौर ५६० ००१
अशोक राजपथ, पटना ८०० ००४
चौक, वाराणसी २२१ ००१

मूल्य : रु० ५८

नरेन्द्रप्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, बंगलो रोड,
दिल्ली ११० ००७ द्वारा प्रकाशित तथा जैनेन्द्रप्रकाश जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस,
ए-४५ नारायणा, फेज़-१, नई दिल्ली ११० ०२८ द्वारा मुद्रित

प्रस्तावना

किसी भी भाषा का शुद्ध एवं पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उस भाषा के व्याकरण शास्त्र का अध्ययन करना आवश्यक होता है। यह नियम संस्कृत भाषा के लिये विशेषतः चरितार्थ है। संस्कृत शास्त्रकार सभी विद्याओं में व्याकरण को प्रमुख स्थान देते हैं : **मुखं व्याकरणं स्मृतम्** ।

आचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी व्याकरण शास्त्र का सुपरिचित एवं सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त ग्रन्थ है। इसके उत्तरवर्ती जितने भी व्याकरण-सम्प्रदायों का प्रचलन हुआ उनका आधार अधिकांशतः पाणिनि की अष्टाध्यायी है, यद्यपि पाणिनि से पूर्व व्याकरण के क्षेत्र में प्रातिशाख्य ग्रन्थ विद्यमान थे और ऐन्द्र, चान्द्र आदि व्याकरणों की भी रचना हो चुकी थी। किन्तु प्रातिशाख्य ग्रन्थ केवल वैदिक पद्धतियों के ही निर्देष्टा थे और ऐन्द्र प्रभृति व्याकरण एक प्रकार से विद्वत्समाज की वस्तु न होकर आरम्भिक विद्यार्थियों के उपयोग तक ही सीमित रहे। मध्ययुग के बृहत्तर भारत में भाषाशास्त्र के क्षेत्र में कातन्त्र व्याकरण की यद्यपि पर्याप्त ख्याति थी तो भी पाणिनि की अष्टाध्यायी एक ऐसी सर्वाङ्गीण और सर्वोत्कृष्ट कृति सिद्ध हुई जिसके नियम, निर्देश और साधन अन्तिम प्रमाण के रूप में स्वीकृत हुए। पाणिनि व्याकरण ही अपने बृहद् नीति-नियमों के कारण व्यापक ख्याति को अर्जित कर सका है।

भट्टोजिदीक्षित की कृति वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी व्याकरणशास्त्र का बहु प्रचलित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। केवल इस देश में ही नहीं, अपितु अन्य देशों में भी इस ग्रन्थ का अध्ययन संस्कृत भाषा के परिज्ञान के लिए अनिवार्य समझा जा रहा है।

सिद्धान्तकौमुदी व्याकरण का एक व्यापक प्रक्रियात्मक ग्रन्थ है। संस्कृत भाषा का व्याकरण इसमें पूर्ण रूपेण आ गया है। इस एक ग्रन्थ का ज्ञान होने से संस्कृत भाषा के व्याकरण के लिये अन्य किसी ग्रन्थ के अध्ययन की अपेक्षा नहीं रहती। इसीलिए इसका सर्वत्र प्रचार है। संस्कृत की परीक्षाओं में सिद्धान्तकौमुदी, कहीं अंशतः, कहीं पूर्ण, पाठ्य ग्रन्थ नियत है। इससे इस ग्रन्थ का गौरव स्पष्ट हो जाता है।

सिद्धान्तकौमुदी की कई संस्कृत टीकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं—बालमनोरमा, तत्त्वबोधिनी आदि। उनका प्रचार भी पर्याप्त है। किन्तु नवीन जिज्ञासुओं के लिये उनसे लाभ उठाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

इस कठिनता के निवारणार्थ, प्राच्यविद्याग्रन्थों के वरिष्ठ प्रकाशक तथा मोतीलाल बनारसीदास संस्थान के प्रमुख सञ्चालक दिवंगत लाला सुन्दरलाल जी को विचार हुआ कि सिद्धान्तकौमुदी का एक ऐसा संस्करण प्रकाशित किया जाय जिसमें हिन्दी अनुवाद, हिन्दी व्याख्या और हिन्दी में रूपसिद्धि हो जिससे जिज्ञासु किसी आचार्य की सहायता के बिना ही कठिन से कठिन स्थल को भी समझ सके। उनके आदेशानुसार

प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण हुआ और उनके जीवनकाल में ही प्रस्तुत प्रकरण का मुद्रण आरम्भ हुआ। क्योंकि प्रायः विश्वविद्यालयों में यह प्रकरण पाठ्यक्रम में नियत है इसलिये इसे प्राथमिकता दी गई। लाला जी के शोकप्रद निधन से उक्त प्रकरण के प्रकाशन में कुछ विलम्ब तो अवश्य हुआ है किन्तु उनके द्वारा समर्थित योजना में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आई। इस दिशा में इस संस्था के वर्तमान सञ्चालकों के प्रयत्न सराहनीय हैं।

इस प्रकरण में सर्वप्रथम पाणिनि के सूत्र, तदनन्तर प्रत्येक सूत्र पर भट्टोजि-दीक्षित की वृत्ति, तत्पश्चात् वृत्ति का अक्षरशः अनुवाद, वृत्ति के कठिन स्थलों की व्याख्या, टिप्पणियाँ, विशेष आदि दिये गये हैं। वृत्ति के उदाहरणों की रूपसिद्धि भी की गई है। रूपसिद्धि में प्रयुक्त अन्य स्थलों के सूत्रों के प्रतीक देकर उनके साथ संख्यांक भी लगा दिये हैं ताकि पाठक संख्यांकों से सूत्र को देखकर उसका अर्थ समझ सकें। पाठकों की सुविधा के लिये हमने रूपसिद्धि में कई सूत्रों की आवृत्ति भी कर दी है।

सिद्धान्तकौमुदी के समास प्रकरण की इस प्रकार व्याख्या करने का यह प्रयास सर्वप्रथम ही किया गया है। आशा है पाठक अवश्य ही इससे लाभ उठायेंगे।

दीपावली
२०-१०-१९७९

जगदीश शास्त्री
मधुबाला शर्मा

विषय-सूची

१.	सुप्सुपासमासः	... ...	१
२.	अव्ययीभावः	... ...	५
३.	तत्पुरुषः (कर्मधारयः, द्विगुश्च)	... ...	४५
४.	बहुव्रीहिः	... ...	१९९
५.	द्वन्द्वः	... ...	२६६
६.	एकशेषः	... ...	२८५
७.	सर्वसमासशेषः	... ...	२९१
८.	सर्वसमासान्तः	... ...	२९३
९.	अलुक्समासः	... ...	३०५
१०.	समासाश्रयविधिः	... ...	३१३
११.	सूत्रसूची	... ...	३३९
१२.	वार्त्तिकसूची	... ...	३४४

सुप्सुपासमास:

६४७. समर्थः पदविधिः (२.१.१)

पदसम्बन्धी यो विधिः स समर्थाश्रितो बोध्यः ।

अनुवाद—पद-सम्बन्धी विधि समर्थ पदों की होती है ।

व्याख्या—एक पद का दूसरे पद के साथ समस्त होना पद-विधि है । विधि उन्हीं पदों की होती है जिनका परस्पर सामर्थ्य होता है अर्थात् जिनमें परस्पर समस्त होने की योग्यता है ।

सामर्थ्य क्या है ? इसे समझने से पहले सामर्थ्य के प्रकारों को समझना चाहिए । सामर्थ्य दो प्रकार का होता है—१. व्यपेक्षा, २. एकार्थीभाव ।

व्यपेक्षा—आकांक्षा[1], योग्यता[2], और सन्निधि[3] (आसत्ति) के कारण पदों का परस्पर सम्बन्ध होता है । जैसे कि 'राज्ञः पुरुषः ।'

(१) यहाँ 'राज्ञः' (राजा का) कहने से अर्थ पूर्ण नहीं होता । किसी अन्य पद ('पुरुषः' आदि) की आकांक्षा रहती है । (२) यहाँ 'राज्ञः पुरुषः' इन दोनों पदों की आपस में समस्त होने की योग्यता है । (३) राज्ञः पुरुषः—इन दोनों पदों के उच्चारण काल में व्यवधान नहीं होना चाहिए । 'राज्ञः' कहने के पश्चात् अव्यवहितोत्तर काल में ही 'पुरुषः' का उच्चारण होना चाहिए । इस प्रकार यहाँ व्यपेक्षा रूप सामर्थ्य होने पर समास होता है । व्यपेक्षा वाक्य में होती है । 'राज्ञः पुरुषः' एक वाक्य है । इसमें 'राज्ञः' और 'पुरुषः' ये दोनों पद ऊपर कहे गए प्रकार से व्यपेक्षा सामर्थ्य रखते हैं ।

जहां पदों में आकांक्षा नहीं होती वहाँ समास नहीं होता । जैसे—'पश्य कृष्णं श्रितो राममित्रम् ।' इस वाक्य में 'कृष्णम्' इस पद का 'पश्य' के साथ अन्वय है, 'श्रितः' के साथ नहीं । यहाँ 'कृष्णं' और 'श्रितः' इन दोनों पदों का परस्पर आकांक्षा-सम्बन्ध नहीं है । अतः यहाँ व्यपेक्षा सामर्थ्य के न होने से दोनों पद समस्त नहीं होते ।

इसी प्रकार 'ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः' विग्रह में पहले 'राज्ञः पुरुषः' का षष्ठी तत्पुरुष समास हो जाने पर पश्चात् 'राजपुरुषः' का 'ऋद्धस्य' के साथ समास नहीं होता । यद्यपि यहाँ 'राज्ञः' का सम्बन्ध अपने विशेषण 'ऋद्धस्य' के साथ भी है तो भी जब 'राज्ञः' पद 'पुरुषः' पद के साथ समस्त हो जाता है तब उसका 'ऋद्धस्य' के साथ

---

१. आकांक्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः—साहित्यदर्पण, परिच्छेद २, कारिका १
२. योग्यता पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः— वही
३. आसत्तिर्बुद्ध्यविच्छेदः— वही

सम्बन्ध नहीं रहता। दूसरी ओर, यदि हम 'राज्ञः' पद का अपने विशेषण 'ऋद्धस्य' के साथ सम्बन्ध रखना चाहते हैं तो हम 'राज्ञः' पद का 'पुरुषः' के साथ समास नहीं करते। इस लिए कहा गया है—'सविशेषणानां वृत्तिर्न, वृत्तस्य च विशेषणयोगो न'।

अतः जिन पदों में आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि हो उन्हीं पदों का समास होता है।

(२) एकार्थीभाव—सामर्थ्य का यह दूसरा प्रकार है। इसमें पृथक्-पृथक् पदों के अर्थों की एक साथ उपस्थिति होती है। एकार्थीभाव समस्त पदों में पाया जाता है। जैसे 'राजपुरुषः' इसमें राज्ञः पुरुषः—ये दो पृथक् पद हैं। इनका अर्थ अलग-अलग है किन्तु जब इन दो पदों का समास होकर 'राजपुरुषः' एक सुबन्त पद बन जाता है तब उन दोनों पदों के अर्थ का एक साथ बोध होता है। इसको एकार्थीभाव सामर्थ्य कहते हैं।

इस प्रकार व्यपेक्षा और एकार्थीभाव रूप सामर्थ्य से युक्त पदों का समास हो सकता है।

६४८. प्राक्कडारात्समासः (२.१.३)

कडाराः कर्मधारये (२.२.३८) इत्यतः प्राक् समास इत्यधिक्रियते।

अनु०—'कडाराः कर्मधारये' इस सूत्र से पूर्व समास का अधिकार है।

व्याख्या—'कडाराः कर्मधारये'[७५१] पाणिनि की अष्टाध्यायी के द्वितीय अध्याय द्वितीय पाद का अन्तिम सूत्र है। इस सूत्र तक द्वितीय अध्याय के सभी सूत्र समास-विधि से सम्बद्ध हैं। यह सूत्र समास-प्रकरण की सीमा को निर्धारित करता है।

६४९. सह सुपा (२. १. ४)

'सह'इति योगो विभज्यते। सुबन्तं समर्थेन सह समस्यते। योगविभागस्येष्टसिद्ध्यर्थत्वात्कतिपयतिङन्तोत्तरपदोऽयं समासः, स च छन्दस्येव। पर्यभूषयत्। अनुव्यचलत्। 'सुपा'। सुप्सुपा सह समस्यते। समासत्वात्प्रातिपदिकत्वम्।

अनु०—इस सूत्र के 'सह' पद को 'सुपा' से अलग किया जाता है। (तब इसका अर्थ होगा) सुबन्त का समर्थ पद के साथ समास होता है। यह योग-विभाग (अर्थात् 'सह' को 'सुपा' से अलग करना) सप्रयोजन (इष्टसिद्धचर्थक) है। अतः कुछ उत्तरवर्ती तिङन्त पदों का पूर्ववर्ती सुबन्त पदों के साथ समास हो जाता है। किन्तु वह वेद में ही होता है जैसे पर्यभूषयत्, अनुव्यचलत्। सूत्र के दूसरे पद 'सुपा' का अर्थ है 'सुबन्त' का सुबन्त के साथ समास होता है। समास होने पर प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

व्याख्या—'सह सुपा'[६४९] इस सूत्र में 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे'[३६५६] (२.१.२.) इस सूत्र से 'सुप्' इस प्रथमान्त पद की अनुवृत्ति[१] होती है। तब 'सुप् सह सुपा' ऐसे सूत्र

---

१. व्याकरणशास्त्र में 'अनुवृत्ति' की व्याख्या इस प्रकार की गई है—"सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र।" जो पद सूत्र में नहीं है किन्तु वहाँ जिसका होना

का निर्माण होता है। तब हम इस सूत्र का योगविभाग करते हैं अर्थात् सूत्र को दो भागों में बांट देते हैं (१) सुप् (समर्थेन) सह समस्यते। (२) सुप् सुपा सहस मस्यते।

'सुप्' प्रत्यय है। जहां प्रत्यय के निर्देश से कोई विधान किया जाता है वहां प्रत्यय के अन्त का ग्रहण करना चाहिए (प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्)। जैसे 'सह सुपा' इस सूत्र में सुप् प्रत्यय के निर्देश से समास का विधान किया गया है यहां 'सुपा' का अर्थ 'सुबन्तेन' है।

सूत्र को दो भागों में बांटा गया है। पहले भाग का अर्थ है—सुबन्त पद का समर्थ के साथ समास होता है। सूत्र का विभाजन सप्रयोजन है। इस विभाग के आधार पर हम सुबन्त पदों का तिङन्त पदों के साथ समास कर सकते हैं किन्तु यह वैदिक प्रयोगों में ही पाया जाता है। जैसे कि परि+अभूषयत् इसमें सुबन्त 'परि' और तिङन्त 'अभूषयत्' समस्त हो जाते हैं। इसी प्रकार सुबन्त 'वि' पद और तिङन्त 'अचलत्' पद का समास हो जाने पर 'व्यचलत्' एक पद हो जाता है। पुनः सुबन्त 'अनु' पद के साथ समास होकर 'अनुव्यचलत्' हो जाता है।

योगविभाग में सूत्र के दूसरे भाग का अर्थ इस प्रकार है—'सुबन्त पद का सुबन्त पद के साथ समास होता है।' यह अर्थ प्रायः लौकिक संस्कृत के समस्यमान पदों में चरितार्थ होता है।

समासत्वादिति। समास होने पर अर्थात् 'सह सुपा' (२.१.४.) इस सूत्र से समास होने की योग्यता का समर्थन होने पर 'कृत्तद्धितसमासाश्च'[१७९] (१.२.४६) इस सूत्र से समस्यमान पदों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

६५०. सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२. ४. ७१)

एतयोरवयवस्य सुपो लुक्स्यात्। 'भूतपूर्वे चरट्' (सू० १९९९) इति निर्देशाद् भूतशब्दस्य पूर्वनिपातः। पूर्वं भूतो भूतपूर्वः। 'इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च' (वा० १२३६,१३४१)। जीमूतस्येव।

अनु०—धातु और प्रातिपदिक के अवयवभूत सुप् का लुक् होता है। 'भूतपूर्वे चरट्' इस निर्देश से भूत शब्द का पूर्वनिपात हुआ है। भूतपूर्वः—जो पहले हो चुका हो। 'इव' अव्यय पद के साथ सुबन्त का समास होता है किन्तु विभक्ति का लोप नहीं होता। जैसे—जीमूतस्येव—जीमूत (मेघ) के सदृश।

व्याख्या—इस सूत्र में 'ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः'[१२७६] (२.४.५८) इस सूत्र से 'लुक्' की अनुवृत्ति[1] हुई है।

भूतपूर्वे चरडिति। पाणिनि ने 'भूतपूर्वे चरट्'[१९९९] (५.३.५३) सूत्र में भूत शब्द

आवश्यक है उसको किसी अन्य पूर्वागत सूत्र से ले लेना चाहिए। उदा० 'सह सुपा' इस सूत्र में अर्थसंगति के लिए 'सुप्' पद का होना आवश्यक है अतः 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे' (२.१.२.)—इस पूर्वागत सूत्र से हम सुप् की अनुवृत्ति कर लेते हैं।

१. द्रष्टव्य पृष्ठ संख्या २. टिप्पण संख्या १.

का पूर्वनिपात किया है। इसी प्रामाण्य से 'भूतपूर्वः' शब्द में भी भूत शब्द का पूर्वनिपात हुआ है, अन्यथा पूर्वभूतः रूप होता। इसी से स्पष्ट है कि पाणिनि को 'भूतपूर्वः' प्रयोग ही इष्ट था।

जीमूतस्येव। यहां 'जीमूतस्य' का 'इव' के साथ समास हुआ है किन्तु विभक्ति का लोप नहीं हुआ।

समास के तीन फल होते हैं (१) एकपद बन जाना, (२) विभक्ति का लोप, (३) एकपद बन जाने से एकस्वर होना। 'जीमूतस्येव' इस समस्त पद में षष्ठी विभक्ति का लोप नहीं हुआ। लौकिक विग्रह 'जीमूतस्य इव'–में जो अवस्था थी वही समास हो जाने पर भी रही। अतः यह एकपद प्रतीत नहीं होता। **प्रश्न**—तो समास क्यों किया? **उत्तर**—यहां समास हो जाने पर पूर्व पद में उदात्त स्वर आ जाता है। यहां स्वर में विशेषता आ जाना ही समास का फल है।

रूपसिद्धिः—भूतपूर्वः

लौकिक विग्रह[1]—पूर्वं भूतः

अलौकिक विग्रह—पूर्व अम् भूत सु

यहां 'सह सुपा'[६४९] (२.१.४) से 'पूर्वम्' इस सुबन्त पद का 'भूतः' इस सुबन्त पद के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७१] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (अम् और सु प्रत्यय) का लोप (पूर्वभूत)। 'भूतपूर्वे चरट्'[१९९९] (५.३.५३) इस सूत्र के प्रामाण्य से भूत शब्द का पूर्वनिपात (भूतपूर्व)। 'एकदेश-विकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु प्रत्यय (भूतपूर्व सु)। 'उपदेशेऽज०'[३] (१.३.२) से सु के उ की इत्संज्ञा। 'तस्य लोपः'[९] (१.३.९) से इत्संज्ञक 'उ' का लोप (भूतपूर्व स्)। 'ससजुषो रुः'[१६२] (८.२.६६) से स् को रु (भूतपूर्व रु)। 'उपदेशेऽज०'[३] (१.३.२) से रु के 'उ' की इत्संज्ञा। 'तस्य लोपः'[९] (१.३.९) से इत्संज्ञक 'उ' का लोप (भूतपूर्व र्)। 'खरवसानयो०'[७६] (८.३.१५) से र् को विसर्ग (:) होकर भूतपूर्वः।

जीमूतस्येव

लौ० वि०—जीमूतस्य इव

अलौ० वि०—जीमूत ङस् इव

यहां 'इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च'—(वा० १२३६) से 'जीमूतस्य' इस सुबन्त पद का इव के साथ समास। इसी वार्त्तिक से विभक्ति का लोप-निषेध (जीमूतस्य इव)। 'आद् गुणः'[९९] (६.१.८७) से गुण संधि होकर जीमूतस्येव।

---

१. लौकिक विग्रह का लोक में प्रयोग होता है। जैसे 'राज्ञः पुरुषः' इसका लोक में प्रयोग होता है। अलौकिक विग्रह का लोक में प्रयोग नहीं होता। 'राजपुरुषः' का अलौकिक विग्रह है—'राजन् ङस् पुरुष सु'। इसे अलौकिक कहा गया है क्योंकि इस का लोक में प्रयोग नहीं होता।

अव्ययीभावसमासः

६५१. अव्ययीभावः (२.१.५)

अधिकारोऽयम् ।

अनु०—'अव्ययीभावः' (२.१.५) इस सूत्र का 'तत्पुरुषः' (२.१.२२) इस सूत्र तक अधिकार है ।

व्या०—अष्टाध्यायी के २।१।५ से २।१।२२ तक के सूत्रों द्वारा किए गए समासों को अव्ययीभाव कहते हैं । समास एक सामान्य संज्ञा है जिसका अर्थ है संक्षेप—समसनं समासः । इसके अव्ययीभाव, तत्पुरुष, कर्मधारय, द्विगु, द्वन्द्व और बहुव्रीहि विभाग हैं ।

अव्ययीभाव—इसमें पूर्वपद अव्यय और उत्तरपद अनव्यय होता है । किन्तु समस्त पद अव्यय हो जाता है । (अनव्ययम् अव्ययं भवति इत्यव्ययीभावः ।) ।

इस समास में पूर्वपद अव्यय की प्रधानता होती है ।

६५२. अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासंप्रतिशब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्यथाऽऽनुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु (२.१.६)

'अव्ययम्' इति योगो विभज्यते । अव्ययं समर्थेन सह समस्यते, सोऽव्ययीभावः ।

अनु०—सूत्र में 'अव्ययम्' इस पद को 'विभक्ति. . .वचनेषु' इस पद से अलग किया जाता है । (तब 'अव्ययम्' एक अलग सूत्र हो जाता है जिसका अर्थ है) समर्थ सुबन्त के साथ अव्यय का समास होता है । उस समास को अव्ययीभाव कहते हैं ।

व्या०—विभक्ति, सामीप्य, समृद्धि, व्यृद्धि (ऋद्धि का अभाव), अर्थाभाव, अत्यय (अतीत होता), असम्प्रति (वर्तमान काल में युक्त न होना), शब्दप्रादुर्भाव (प्रसिद्धि) पश्चात्, यथार्थ, आनुपूर्व्य (अनुक्रम), यौगपद्य (एक ही समय में होना), सादृश्य, सम्पत्ति (आत्मानुरूपता), साकल्य (सम्पूर्णता) और अन्त–इन अर्थों में से किसी भी अर्थ में वर्तमान अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है ।

इस सूत्र में दो पद हैं (१) अव्ययं (२) विभक्ति. . . .वचनेषु । इन दोनों पदों को अलग-अलग (योगविभाग) करने से दो सूत्र बनेंगे—(१) अव्ययम् (२) विभक्ति. . . .वचनेषु । 'अव्ययम्' को पृथक् सूत्र मान लेने का परिणाम यह है कि विभक्ति आदि अर्थों से भिन्न अर्थों में भी अव्ययीभाव समास हो सकता है । जैसे दिशयोर्मध्ये अपदिशम् । यहां विभक्ति आदि अर्थों में से किसी अर्थ के न होने पर भी अव्ययीभाव समास हुआ है ।

६५३. प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् (१.२.४३)

समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनसंज्ञं स्यात् ।

अनु०—समास विधायक सूत्र में जिस पद का प्रथमा में निर्देश हुआ हो (उसके

द्वारा विग्रह वाक्य में स्थित जिस पद का बोध हो) उसे उपसर्जन कहते हैं।

व्या०—'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६)—इस सूत्र में 'अव्ययं' पद का प्रथमा में निर्देश हुआ है। सूत्रस्थ प्रथमान्त पद से हरि ङि अधि इस अलौकिक विग्रह वाक्य में 'अधि' अव्यय का बोध होता है, अतः अधि को उपसर्जन कहते हैं और उपसर्जन होने से वह समास का प्रथम अवयव होता है। इसी प्रकार समास विधायक 'द्वितीया श्रितातीत-पतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः'[६५३] (२.१.२४) इस सूत्र में 'द्वितीया' पद का प्रथमा विभक्ति में निर्देश हुआ है। इससे कृष्णं श्रितः इस लौकिक विग्रह वाक्य में 'कृष्णं' पद का बोध होता है। अतः 'कृष्णं' को उपसर्जन कहते हैं और वह समास का प्रथम अवयव होता है।

६५४. उपसर्जनं पूर्वम् (२.२.३०)

समासे उपसर्जनं प्राक्प्रयोज्यम्।

अनु०—समास में उपसर्जन संज्ञक पद को पहले रखना चाहिए।

व्या०—विग्रह वाक्य में जिसे उपसर्जन कहा है वह समास में प्रथम अवयव बनता है। अधिहरि के अलौकिक विग्रह वाक्य—'हरि ङि अधि' में उपसर्जनसंज्ञक अधि को समास में पहले रखते हैं।

६५५. एकविभक्ति चापूर्वनिपाते (१.२.४४)

विग्रहे यन्नियतविभक्तिकं तदुपसर्जनसंज्ञं स्यात्, न तु तस्य पूर्वनिपातः।

अनु०—विग्रह वाक्य में जिस पद की विभक्ति नियत है (अर्थात् अनेक प्रकार से विग्रह करने पर भी जिस पद की विभक्ति में परिवर्तन नहीं होता) उस पद की उपसर्जन संज्ञा होती है किन्तु उसका पूर्व प्रयोग नहीं होता।

व्या०—ऊपर कहा गया है कि 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्'[६५३] (१.२.४३) से उपसर्जन संज्ञा होने पर 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक पद का पूर्वप्रयोग होता है। किन्तु प्रस्तुत सूत्र 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते'[६५५] (१.२.४४) से जिस पद की उपसर्जन संज्ञा की गई हो उसका पूर्व प्रयोग नहीं होता।

उदा०—निष्कौशाम्बिः इस पद का विग्रह कई प्रकार से हो सकता है—निष्क्रान्तं कौशाम्ब्याः, निष्क्रान्तेन कौशाम्ब्याः, निष्क्रान्ताय कौशाम्ब्याः, निष्क्रान्तात् कौशाम्ब्याः, निष्क्रान्तस्य कौशाम्ब्याः, निष्क्रान्ते कौशाम्ब्याः। यहां पूर्वपद निष्क्रान्त का कई विभक्तियों में प्रयोग हुआ है। उत्तरपद 'कौशाम्ब्याः' नियतविभक्तिक है अतः प्रकृत सूत्र 'एक विभक्ति०'[६५५] (१.२.४४) से उत्तरपद कौशाम्ब्याः' की उपसर्जन संज्ञा होती है किन्तु उसका पूर्व प्रयोग नहीं होता।

'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४)—सूत्र द्वारा उपसर्जन संज्ञा करने का फल स्त्री-वाचक प्रत्यय के अन्तिम दीर्घ स्वर को ह्रस्व करना होता है। उदा०—निष्कौशाम्बिः। यहां 'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४)—से कौशाम्बी की उपसर्जन संज्ञा होने पर 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य'[६५६] (१.२.४८) से कौशाम्बी के ईकार को ह्रस्व हो जाता है।

६५६. गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१.२.४८)

उपसर्जनं यो गोशब्दः स्त्रीप्रत्ययान्तं च तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः स्यात्। 'अव्ययीभावश्च' (सू० ४५१) इत्यव्ययत्वम्।

अनु०—उपसर्जन जो गो शब्द और स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द तदन्त प्रातिपदिक को ह्रस्व हो। 'अव्ययीभावश्च' इस सूत्र से अव्ययीभाव समास की अव्यय संज्ञा होती है।

व्या०—जिस प्रातिपदिक के अन्त में उपसर्जन संज्ञक गोशब्द अथवा उपसर्जन संज्ञक कोई स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द हो उस शब्द के अन्त्य स्वर को ह्रस्व हो जाता है। उदा०—चित्रगुः और अतिमालः। यहां 'चित्रगुः' और 'अतिमालः' के लौकिक विग्रहों—'चित्राः गावः' और 'अतिक्रान्तो मालाम्'—में 'गावः' और 'मालाम्' पदों की विग्रह में सदा नियतविभक्तिक होने के कारण उपसर्जन संज्ञा होती है। 'चित्रगुः' के अलौकिक विग्रह 'चित्र जस् गो जस्' में प्रकृत सूत्र से उपसर्जनसंज्ञक गो को ह्रस्व होकर 'चित्रगुः' रूप बनता है। इसी प्रकार 'अतिमालः' के अलौकिक विग्रह 'अति सु माला अम्'—में उपसर्जन-संज्ञक स्त्रीप्रत्ययान्त 'माला' के अन्त्य 'आकार' को ह्रस्व 'अकार' होकर अतिमालः रूप बनता है।

अव्ययीभावश्चेति। 'अव्ययीभावश्च'[१४१] (१.१.४१) इस सूत्र से अव्ययसंज्ञा होती है। अव्ययसंज्ञा होने से 'अव्ययादाप्सुपः'[१४५२] (२.४.८२) से विभक्ति का लोप प्राप्त होता है। किन्तु अकारान्त अव्ययीभाव से परे सुप् लोप का निषेध अग्रिम सूत्र से हो जाता है।

६५७. नाव्ययीभावादतोऽत्वपञ्चम्याः (२.४.८३)

अदन्तादव्ययीभावात्सुपो न लुक्, तस्य तु पञ्चमीं विना अमादेशश्च स्यात्। दिशयोर्मध्येऽपदिशम्। 'क्लीबाव्ययं त्वपदिशं दिशोर्मध्ये विदिक् स्त्रियाम्।' इत्यमरः।

अनु०—अदन्त अव्ययीभाव से परे सुप् का लोप नहीं होता, उसके स्थान पर अम् आदेश हो जाता है पञ्चमी विभक्ति को छोड़कर। अपदिशम्—दो दिशाओं के मध्य। अमरकोश के अनुसार 'अपदिशम्' का अर्थ 'दो दिशाओं के बीच' होता है। यह अव्यय है और इसका प्रयोग नपुंसक लिङ्ग में होता है। स्त्रीलिङ्ग में 'विदिक्'।

व्याख्या०—यह सूत्र अदन्त अव्ययीभाव से परे सुप् का लुक् और सुप् के स्थान पर अमादेश करता है। यथा अपदिशम्।

यदि अव्ययीभाव समास में अदन्त पद पञ्चमी विभक्ति में हो तो सुप् को लुक् और अमादेश नहीं होते जैसे—अपदिशात्, अपदिशाभ्याम्, अपदिशेभ्यः। यहां सुप् का लुक् और अमादेश नहीं हुए।

रूपसिद्धि—अपदिशम्—द्रष्टव्य पृ० ९

अपदिश+सु नाव्ययीभावा० से सु को अम् अपदिश अम्। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६१.१०७) से अम् के अ को पूर्व रूप।

६५८. तृतीयासप्तम्योर्बहुलम (२.४.८४)

अदन्तादव्ययीभावात्तृतीयासप्तम्योर्बहुलमम्भावः स्यात् । अपदिशम्, अपदिशेन । अपदिशम्, अपदिशे । बहुलग्रहणात् सुमद्रम् उन्मत्तगङ्गम् इत्यादौ सप्तम्या नित्यमम्भावः । 'विभक्ति—' इत्यादेरयमर्थः—विभक्त्यर्थादिषु वर्तमानमव्ययं सुबन्तेन सह समस्यते, सोऽव्ययीभावः । विभक्तौ तावत्—हरौ इत्यधिहरि । सप्तम्यर्थस्यैवात्र द्योतकोऽधिः । हरि ङि अधि इत्यलौकिकं विग्रहवाक्यम् । अत्र निपातेनाभिहितेऽप्यधिकरणे वचनसामर्थ्यात्सप्तमी ।

अनु०—अदन्त अव्ययीभाव से परे तृतीया और सप्तमी को अम् आदेश बहुलता से होता है । जैसे अपदिशम्, अपदिशेन । अपदिशम्, अपदिशे । बहुल ग्रहण से 'सुमद्रम्' और उन्मत्तगङ्गम् आदि (प्रयोगों) में सप्तमी के सुप् को नित्य अम् हुआ है ।

विभक्ति आदि का यह अर्थ है—विभक्ति आदि अर्थों में किसी अर्थ में वर्तमान अव्यय पद का सुबन्त पद के साथ समास होता है और वह अव्ययीभाव समास कहलाता है । जैसे विभक्त्यर्थ में—हरौ इति अधिहरि । यहां 'अधि' अव्यय सप्तम्यर्थ का द्योतक है । 'हरि ङि अधि' यह अलौकिक विग्रह वाक्य है । यद्यपि यहां 'अधि' निपात से अधिकरण-सप्तम्यर्थ-उक्त हुआ है (और 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इस नियम से निपातोक्त सप्तम्यर्थ में समासनिषेध प्राप्त था) तो भी ('अव्ययं विभक्ति०[६५२] (प० ५) इस सूत्र में 'वचन' ग्रहण से निपातोक्त सप्तम्यर्थ में भी समास उचित है ।

व्या०—इस (६५८)सूत्र में 'नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः'[६५७] (२.४.८३) इस सूत्र से 'अतः', 'अव्ययीभावात्' 'अम्', 'अपञ्चम्याः', इन पदों की अनुवृत्ति होती है । 'अपञ्चम्याः' की अनुवृत्ति से पञ्चमी में अम् आदेश नहीं होता । अतः पञ्चमी में 'अपदिशात्' रूप बनता है । तृतीया और सप्तमी में वैकल्पिक अम् होने से अपदिशम्, अपदिशेन (तृतीया), और अपदिशम्, अपदिशे (सप्तमी) रूप बनते हैं ।

बहुलग्रहणादिति । प्रश्न—'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्'[६५८] (२.४.८४) इस सूत्र में 'बहुलम्' के स्थान पर अक्षरलाघव के लिए 'वा' का प्रयोग हो सकता था । वह क्यों नहीं किया ? उत्तर—बहुल शब्द के प्रयोग से तृतीया सप्तमी को अम् कहीं विकल्प से और कहीं नित्य होता है । यदि 'वा' का प्रयोग करते तब तृतीया और सप्तमी में सर्वत्र विकल्प से अम् होता जो कि इष्ट नहीं है । उदा० 'सुमद्रम्' और 'उन्मत्तगङ्गम्' में सप्तमी के सुप् (ङि) को नित्य अम् होता है । विकल्प में 'सुमद्रे' और 'उन्मत्तगङ्गे' प्रयोग नहीं बनते ।

विभक्तीति । यहां विभक्ति आदि से तात्पर्य विभक्ति, समीप, समृद्धि, व्यृद्धि, अभाव अत्यय, असम्प्रति, शब्दप्रादुर्भाव, पश्चात्, यथा, आनुपूर्व्य, यौगपद्य, सादृश्य, सम्पत्ति, सम्पूर्णता और अन्त से है । इन सभी अर्थों में से किसी भी अर्थ के होने पर अव्यय पद का सुबन्त पद से समास होता है । यथा 'अधिहरि' यहां सप्तम्यर्थ में अधि अव्यय का हरि के साथ समास हुआ है ।

अत्रेति । अधिहरि का लौकिक विग्रह 'हरौ' है । इसमें 'अधि' शब्द अधिकरण (सप्तम्यर्थ) का द्योतक है और सप्तम्यर्थ 'हरौ' में सप्तमी द्वारा पहले ही उपस्थित है ।

प्रश्न—जहां विभक्ति निपात से उक्त हुई हो वहां 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाण-वचनमात्रे प्रथमा'[५३२] (२.३.४६) इस सूत्र से प्रथमा होती है (जैसे—विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्, यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति) । 'अधिहरि' में 'अधि' अव्यय से विभक्त्यर्थ उक्त है । अधि से उक्त विभक्त्यर्थ में प्रथमा विभक्ति प्राप्त थी तब सप्तमी कैसे ?

उत्तर—'अव्ययं विभक्ति'[६५२] (२.१.६) इस सूत्र में 'वचन' शब्द का प्रयोग हुआ है । यहां 'साकल्यान्तेषु' ऐसा पाठ ही पर्याप्त था फिर 'वचन' शब्द का प्रयोग क्यों हुआ ? 'वचन' शब्द के प्रयोग से सिद्ध होता है कि विभक्त्यादि अर्थ के बोधक 'अधि' आदि अव्ययों की उपस्थिति में जो समास होता है वह उस विभक्ति के अर्थ का प्रत्यायक होता है। 'अधिहरि', 'अधिगोपम्' इत्यादि प्रयोगों में 'अधि' शब्द अधिकरण वाची सप्तम्यर्थ का बोधक है अतः 'अधिहरि' और 'अधिगोपम्' में सप्तम्यर्थ में समास हुआ है। इनका लौकिक विग्रह हरौ और गोपि सप्तम्यन्त होगा, प्रथमान्त नहीं ।

रूपसिद्धिः—अपदिशम्, अपदिशे ।

अम् पक्ष में—अपदिशम्

अमाभाव पक्ष में—अपदिशे

अपदिशे

लौ० वि०—दिशयोर्मध्ये

अलौ० वि०— दिशा ओस् अप

यहां 'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से विभक्त्यर्थ में अप अव्यय का दिशा शब्द के साथ समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातुप्राति०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ओस्) का लोप (दिशा अप) । 'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) इस सूत्र में 'अव्ययं' के प्रथमानिर्दिष्ट होने से 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्'[६५३] (१.२.४३) से अव्यय 'अप' की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'अप' का पूर्व प्रयोग (अप दिशा) । 'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४) से विग्रह में नियतविभक्तिक दिशा शब्द की उपसर्जन संज्ञा । 'गोस्त्रियो०'[६५६] (१.२.४८) से दिशा के 'आ' को ह्रस्व (अपदिश) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से टा । 'अव्ययीभावश्च'[६५१] (१.१.४१) से अव्ययसंज्ञा करने पर 'अव्ययादाप्सुपः'[६५२] (२.४.८२) से सुप् (टा) का लोप प्राप्त हुआ । 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्'[६५८] (२.४.८४) से विकल्प से सुप् (टा) को अम् । यहां अमाभाव में सुप्(टा) को 'अम्' नहीं हुआ । 'टाङसिङसामिन्०'[२०१] (७.१.१२) से टा को इन आदेश (अपदिश इन) । 'आद् गुणः'[६९] (६.१.८७) से गुण होकर अपदिशेन ।

अपदिशम् अपदिशे—अम् पक्ष में—अपदिशम् ।

अम् के अभाव पक्ष में—अपदिशे—

लौ०वि०—दिशयोर्मध्ये

अलौ०वि०—दिशा ओस् अप

यहां 'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से विभक्त्यर्थ में 'अप' अव्यय का दिशा के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातुप्राति०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ओस्) का लोप (दिशा अप)। अव्ययं विभक्ति'[६५२] (२.१.६) इस सूत्र में 'अव्ययं' के प्रथमानिर्दिष्ट होने से 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्'[६५३] १.२.४३) से अव्यय 'अप' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'अप' का पूर्व प्रयोग (अप दिशा)। 'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४) से विग्रह में नियतविभक्तिक दिशा की उपसर्जन संज्ञा। 'गोस्त्रियो०'[६५६] (१.२.४८) से दिशा के आ को ह्रस्व (अपदिश)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सुप्=ङि प्रत्यय (अप दिश ङि)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्ययसंज्ञा करने पर 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सुप् (ङि) का लोप प्राप्त हुआ। 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्'[६५८] (२.४.८४) से विकल्प से सुप्=ङि को अम्। यहां अमाभाव में सुप् (ङि) को 'अम्' नहीं हुआ। 'लशक्वतद्धिते'[१९५] (१.३.८) से ङि के ङ का लोप (अप दिश इ)। 'आद्गुणः'[६९] (६.१.८७) से गुण होकर अपदिशे।

अधिहरि—

लौ०वि०—हरौ

अलौ०वि०—हरि ङि अधि

यहां 'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से सप्तमी विभक्ति के अर्थ में 'अधि' अव्यय का हरि के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङि) का लोप (हरि अधि)। 'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) इस सूत्र में 'अव्ययं' के प्रथमानिर्दिष्ट होने से 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से अव्यय 'अधि' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'अधि' का पूर्व प्रयोग (अधि हरि)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सुप् प्रत्यय (अधि हरि सु)। अव्ययीभावश्च[४५१] (१.१.४१) से अव्ययसंज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सुप् का लोप होकर अधिहरि।

६५९. अव्ययीभावश्च (२.४.१८)

अयं नपुंसकं स्यात्। 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' (सू ३१८)। गोपायतीति, गाः पातीति वा, गोपाः, तस्मिन्नित्यधिगोपम्। समीपे-कृष्णस्य समीपमुपकृष्णम्। समया ग्रामम्, निकषा लङ्काम्, आराद्वनादित्यत्र तु नाव्ययीभावः, 'अभितः परितः—' (वा० १४४२) 'अन्याराद्—'(सू ५९५) इति द्वितीयापञ्चम्योर्विधानसामर्थ्यात्।

अनु०—अव्ययीभाव समास नपुंसक लिङ्ग में होता है। नपुंसक लिङ्ग में प्रातिपदिक के अन्त्य दीर्घ स्वर को ह्रस्व हो जाता है। जो रक्षा करता है (गुप्) अथवा

जो गौओं की रक्षा करता है (गो+पा)। सप्तमी में अधिगोपम्। 'सामीप्य' अर्थ में—उपकृष्णम्। कृष्णस्य समीपम्—कृष्ण के समीप।

समया ग्रामम्—गांव के समीप। निकषा लङ्काम्—लङ्का के समीप। आरात् वनात्—वन के समीप। इन (तीनों उदाहरणों) में अव्ययीभाव समास इसलिए नहीं हुआ क्योंकि 'समया', 'निकषा' के योग में 'अभितः परितः०' (वा० १४४२) से द्वितीया का और 'आरात्' के योग में 'अन्यारात्०'[५९५] (२.३.२९) से पञ्चमी का विधान किया गया है।

व्याख्या—समया, निकषा, आरात्—ये तीनों सामीप्य अर्थ के वाचक अव्यय पद हैं। इनके योग में अव्ययीभाव समास नहीं होता। "समया ग्रामम्" और "निकषा लङ्काम्" में 'अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' (वा० १४४२) से द्वितीया हुई है। आराद्वनात् में 'अन्याऽऽरादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाऽऽजाहियुक्ते'[५९५] (२.३.२९) इस सूत्र से पञ्चमी हुई है। यदि हम उक्त उदाहरणों में अव्ययीभाव समास करते हैं तब समया और निकषा के योग में 'अभितःपरितः'० (वा० १४४२) से द्वितीया का और आरात् के योग में 'अन्यारात्०'[५९५] (२.३.२९)—से पञ्चमी का विधान व्यर्थ हो जाएगा। क्योंकि अव्ययीभाव नित्य समास होता है, अव्ययीभाव होने पर समया, निकषा के योग में द्वितीया और आरात् के योग में पञ्चमी नहीं हो सकेगी। इससे स्पष्ट है कि उक्त अव्ययों के साथ पाणिनि को समास इष्ट नहीं था।

रूपसिद्धिः—अधिगोपम्

लौ० वि०—गोपि

अलौ० वि०—गोपा ङि अधि

यहां 'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से सप्तमी विभक्ति के अर्थ में 'अधि' अव्यय का गोपा के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४.६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङि) का लोप (गोपा अधि)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से अधि की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्०'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'अधि' का पूर्व प्रयोग (अधिगोपा)। एकदेशविकृतमनन्यवत् इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (अधि गोपा सु)। 'अव्ययीभावश्च'[६५९] (२.४.१८) से नपुंसक लिङ्ग। 'ह्रस्वो नपुंसके०'[३१८] (१.२.४७) से ह्रस्व (अधि गोप सु)। 'नाव्ययीभावा०'[६५०] (२.४.८३) से सु को अम् (अधि गोप अम्)। 'अमि पूर्वः'[११४] (६.१.१०७) से अम् के अ को पूर्वरूप होकर अधिगोपम्।

उपकृष्णम्—

लौ०वि०—कृष्णस्य समीपम्

अलौ०वि०—कृष्ण ङस् उप

यहां 'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से षष्ठी विभक्ति के अर्थ में उप अव्यय का कृष्ण के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (कृष्ण उप)। 'प्रथमानिर्दिष्टं'[६५३] (१.२.४३) से उप की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक उप

का पूर्व प्रयोग (उप कृष्ण)। एकदेशविकृतमनन्यवत् इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (उप कृष्ण सु)। 'नाव्ययीभावा०'[६५७] (२.४.८३) से सु को अम्। (उपकृष्ण अम्) 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के अ को पूर्वरूप होकर उपकृष्णम्।

मद्राणां समृद्धिः 'सुमद्रम्। यवनानां व्यृद्धिर्दुर्यवनम्। विगता ऋद्धिर्व्यृद्धिः। मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम्। हिमस्यात्ययोऽतिहिमम्। अत्ययो ध्वंसः। निद्रा संप्रति न युज्यत इत्यतिनिद्रम्। हरिशब्दस्य प्रकाश इतिहरि। विष्णोः पश्चादनुविष्णु। पश्चाच्छब्दस्य तु नायं समासः, 'ततः पश्चात्स्रंस्यते ध्वंस्यते' इति भाष्यप्रयोगात्।

अनु०—सुमद्रम्—मद्रदेश के लोगों की समृद्धि। दुर्यवनम्—यवनों की समृद्धि का अभाव। व्यृद्धिः—समृद्धि का अभाव। निर्मक्षिकम्—मक्खियों का अभाव। अतिहिमम्—शीतकाल का अन्त। अत्यय—अतीत होना। अतिनिद्रम्—निद्रा से वर्तमान काल में युक्त न होना। इतिहरि—हरिकीर्तन, जिसमें हरि (विष्णु) की ख्याति हो। अनुविष्णु—विष्णु के पश्चात्। (पश्चात् के अर्थ में 'अनु' अव्यय का विष्णु के साथ समास हुआ है। (किन्तु) पश्चात् शब्द का सुबन्त पद के साथ समास नहीं होता क्योंकि महाभाष्य के 'ततः पश्चात् स्रंस्यते ध्वंस्यते—'इस वाक्य में असमस्त पश्चात् का प्रयोग हुआ है।

व्याख्या—सुमद्रमिति। कहीं कहीं सुमद्रम् के स्थान पर संमद्रम् पाठ है। वहां समृद्धि अर्थ में 'सम्' का प्रयोग हुआ है।

अव्ययार्थ के प्रधान होने पर ही अव्ययीभाव समास होता है, अन्यथा नहीं। अतः 'समृद्धाः मद्राः' में जहां विशेष्य पद 'मद्राः' प्रधान है, अव्ययीभाव समास नहीं हुआ। यहां समस्त पद 'संमद्राः' बनेगा, 'संमद्रम्' नहीं।

व्यृद्धि–समृद्धि का अभाव। 'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६)—सूत्र में व्यृद्धि और अर्थाभाव आते हैं। दोनों का विषय अलग-अलग है। अर्थाभाव में समस्यमान पदार्थ का अभाव होता है जैसे निर्मक्षिकम्—मक्खियों का अभाव। व्यृद्धि में ऋद्धि का अभाव होता है, समस्यमान पदार्थ का नहीं। जैसे दुर्यवनम्—यवनों की ऋद्धि का अभाव, यवनों का नहीं।

मक्षिकाणामिति। 'निर्मक्षिकम्' का अर्थ है मक्खियों का अभाव। यहां अभाव अर्थ में वर्तमान निर् अव्यय का 'मक्षिकाणाम्' सुबन्त के साथ समास हुआ। 'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) —इस सूत्र में 'अर्थाभाव' का अर्थ है—अर्थ का अत्यन्त अभाव। 'निर्मक्षिकम्' का अर्थ है—निर्जन, शून्य। जहां पदार्थ का अत्यन्ताभाव नहीं है वहाँ उक्त अर्थ में (अर्थात् अर्थ के अभाव में) समास नहीं होता। 'घटः पटो न' इस विग्रह में अव्ययीभाव समास नहीं होता क्योंकि यहां अर्थ का अत्यन्त अभाव विवक्षित नहीं है।

पश्चात्शब्दस्येति। 'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६)—इस सूत्र में जिन शब्दों के अर्थ में अव्यय का सुबन्त के साथ समास-विधान किया है उनमें 'पश्चात्' भी आता है। अनुविष्णु में पश्चात् के अर्थ में अनु अव्यय का सुबन्त विष्णु के साथ समास हुआ है। किन्तु 'पश्चात्' स्वयं अव्यय है, तो भी उसका अव्ययीभाव समास नहीं होता क्योंकि 'अचः

परस्मिन् पूर्वविधौ'[५०] (१.१.५७) के भाष्य में पतञ्जलि ने 'ततः पश्चात् स्रंस्यते ध्वंस्यते' वाक्य का जो प्रयोग किया है उसमें पश्चात् का सुबन्त के साथ समास नहीं किया। 'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) सूत्र के भाष्य में जो 'सर्वपश्चात्' प्रयोग मिलता है वह अव्ययीभाव नहीं है। अव्ययीभाव में पश्चात् की उपसर्जन संज्ञा होने पर उसका पूर्व प्रयोग होता।

रूपसिद्धिः—सुमद्रम्

लौ० वि०—मद्राणां समृद्धिः

अलौ० वि०—मद्र आम् सु

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से समृद्धि अर्थ में वर्तमान 'सु' अव्यय का 'मद्राणाम्' सुबन्त के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (आम्) का लोप (मद्र सु)। 'प्रथमानिर्दिष्टं'[६५३] (१.२.४३) से अव्यय की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से सु का पूर्व प्रयोग (सुमद्र)। 'एकदेश-विकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (सुमद्र सु) 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप प्राप्त हुआ 'नाव्ययीभावा०'[६५७] (२.४.८३) से सु लोप को बाधकर सु को अम् (सुमद्र अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९५] (६.१.१०७) से अम् के अ को पूर्वरूप होकर सुमद्रम्।

दुर्यवनम्—

लौ० वि०—यवनानां व्यृद्धिः

अलौ० वि०—यवन आम् दुर्

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से व्यृद्धि अर्थ में वर्तमान 'दुर्' अव्यय का 'यवनानां' सुबन्त के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (आम्) का लोप (यवन दुर्)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'दुर्' की उपसर्जनसंज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से दुर् का पूर्व प्रयोग (दुर् यवन)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से 'सु' (दुर् यवन सु)। शेषं पूर्ववत्। (दुर् यवन अम्) दुर्यवनम्।

निर्मक्षिकम्

लौ० वि०—मक्षिकाणामभावः

अलौ० वि०—मक्षिका आम् निर्

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से अर्थाभाव के अर्थ में निर् अव्यय का 'मक्षिकाणाम्' सुबन्त पद के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (आम्) का लोप (मक्षिका निर्)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से निर् की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से निर् का पूर्व प्रयोग (निर् मक्षिका)। 'अव्ययीभावश्च'[६५९] (२.४.१८) से नपुंसक।

'ह्रस्वो नपुंसके प्राति०'[३१८] (१.२.४७) से अन्त्य 'आ' को ह्रस्व (निर्मक्षिक)। शेषं पूर्ववत् (निर्मक्षिक सु, निर् मक्षिक अम्) निर्मक्षिकम्।

अतिहिमम्

लौ० वि०—हिमस्य अत्ययः

अलौ० वि०—हिम ङस् अति

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से अत्यय (अतीत होना) अर्थ में वर्तमान 'अति' अव्यय का 'हिमस्य' सुबन्त के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (हिम अति)। 'प्रथमा निर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से अति की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से अति का पूर्व प्रयोग (अतिहिम)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (अति हिम सु)। शेषं पूर्ववत् (अति हिम अम्) अतिहिमम्।

अतिनिद्रम्

लौ० वि०—निद्रा असम्प्रति

अलौ० वि०—निद्रा सु अति

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से असम्प्रति अर्थ में वर्तमान 'अति' अव्यय का 'निद्रा' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (सु) का लोप (निद्रा अति)। प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से अति की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से अति का पूर्व प्रयोग (अति निद्रा)। 'अव्ययीभावश्च'[६५९] (२.४.१८) से नपुंसक। 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य'[३१८] (१.२.४७) से अन्त्य 'आ' को ह्रस्व (अतिनिद्र)। 'एकदेश-विकृतमनन्यवत्' से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (अतिनिद्र सु)। शेषं पूर्ववत् (अतिनिद्र अम्) अतिनिद्रम्।

इतिहरि

लौ० वि०—हरेः इति (शब्दप्रकाशः)

अलौ० वि०—हरि ङस् इति

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से प्रकाश (ख्याति) अर्थ में वर्तमान 'इति' अव्यय का 'हरेः' सुबन्त के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप। (हरि इति) 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से इति की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से इति का पूर्व प्रयोग (इति हरि)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (इति हरि सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप होकर इतिहरि।

अनुविष्णु

लौ० वि०—विष्णोः अनु (पश्चात्)

अलौ० वि०—विष्णु ङस् अनु

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से पश्चात् अर्थ में वर्तमान 'अनु' अव्यय का 'विष्णो' सुबन्त के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (विष्णु अनु)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'अनु' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से अनु का पूर्व प्रयोग (अनु विष्णु)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (अनु विष्णु सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप होकर अनुविष्णु। अथवा 'अनुविष्णु सु' इस अवस्था में 'अव्ययीभावश्च'[६५५] (२.४.१८) से नपुंसक। 'स्वमोर्नपुंसकात्'[३१९] (७.१.२३) से सु का लोप होकर अनुविष्णु।

योग्यतावीप्सापदार्थानतिवृत्तिसादृश्यानि यथार्थाः। अनुरूपम्, रूपस्य योग्यमित्यर्थः। अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम्। प्रतिशब्दस्य वीप्सायां कर्मप्रवचनीयसंज्ञाविधानसामर्थ्यात्तद्योगे द्वितीयागर्भं वाक्यमपि। शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति। हरेः सादृश्यं सहरि। वक्ष्यमाणेन सहस्य सः। ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येणेत्यनुज्येष्ठम्।

अनु०—यथा के चार अर्थ हैं—योग्यता, वीप्सा (बार-बार होना), किसी पदार्थ (वस्तु) का उल्लंघन न होना और सादृश्य। अनुरूपम्—रूप के योग्य।

प्रत्यर्थम्—प्रत्येक अर्थ में। वीप्सा अर्थ में प्रति शब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने के कारण उस (कर्मप्रवचनीय संज्ञक शब्द) के योग में द्वितीया होती है।

यथाशक्ति—शक्ति का अतिक्रमण न करके।

सहरि—हरि की समानता। वक्ष्यमाण (सूत्र) से 'सह' को 'स' आदेश होता है।

अनुज्येष्ठम्—ज्येष्ठ के क्रम से।

व्याख्या—'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) इस सूत्र में 'यथा' शब्द आता है। इसका अर्थ है—यथा के अर्थ में प्रयुक्त अव्यय का सुबन्त के साथ समास होता है।

यथा के चार अर्थों में से भट्टोजिदीक्षित ने वीप्सा (आवृत्ति) का उदाहरण 'प्रत्यर्थम्' दिया है। इस समस्त पद में 'प्रति' पद से वीप्सा द्योतित होती है। किन्तु 'अर्थम् अर्थं प्रति' इस विग्रह वाक्य में 'प्रति' का अर्थ वीप्सा नहीं है। अतः अर्थ पद की आवृत्ति हुई है।

भट्टोजिदीक्षित के अनुसार अर्थमर्थं प्रति—इस विग्रह में 'प्रत्यर्थम्' नित्य समास नहीं है क्योंकि नित्य समास का या तो विग्रह ही नहीं होता और यदि होता है तो समास-घटक पदों द्वारा नहीं होता। किन्तु प्रत्यर्थम् में 'प्रति' का सुबन्त 'अर्थ' के साथ समास हुआ है वह 'प्रति' विग्रह वाक्य में भी प्रयुक्त है।

प्रतिशब्दस्येति। प्रश्न—वीप्सार्थक 'प्रति' अव्यय का सुबन्त के साथ नित्य समास क्यों नहीं ?

उत्तर—'लक्षणेत्थम्भूता०'[५५२] (१.४.९०) इस सूत्र से वीप्सा (आवृत्ति) अर्थ में प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है और कर्मप्रवचनीय 'प्रति' के योग में 'कर्मप्रवचनीय-युक्ते द्वितीया'[५४८] (२.३.८) से द्वितीया होती है। उदा०—वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति।

इससे स्पष्ट है कि सूत्रकार वीप्सार्थक 'प्रति' का सुबन्त के साथ नित्य समास नहीं मानते। अतः 'प्रत्यर्थम्' का अर्थम् अर्थं प्रति और 'प्रतिवृक्षम्' का वृक्षं वृक्षं प्रति वाक्य भी रहेगा।

वस्तुतः 'अर्थम् अर्थं प्रति' को 'प्रत्यर्थम्' का विग्रह वाक्य न मान कर व्याख्यानमात्र समझना चाहिए। अतः प्रत्यर्थम् नित्य समास है। नित्य समास मानने से 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा व्यर्थ हो जाएगी—ऐसा जो कहा है उसका समाधान इस प्रकार है—'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा का फल द्वितीया विधान नहीं अपितु प्रतिस्थानम् आदि उदाहरणों में 'उपसर्गात्सुनोति०'[२३७०] (८.३.६५) से षत्वादेश का निषेध है। स्थानं स्थानं प्रति—प्रतिस्थानम्। इस उदाहरण में 'लक्षणेत्थं०'[५५३] (१.४.९०) से वीप्सा अर्थ में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई है जिससे 'प्रति' उपसर्ग नहीं रहा। अतः यहाँ 'उपसर्गात्सुनोति०'[२३७०] (८.३.६५) से स् को ष् नहीं हुआ। उक्त सूत्र उपसर्ग 'प्रति' के पश्चात् आने वाले स् को ष् करता है, कर्मप्रवचनीय संज्ञक 'प्रति' के पश्चात् आने वाले स् को नहीं।

वक्ष्यमाणेनेति। आगे आने वाले "अव्ययीभावे चाकाले" इस सूत्र से 'सह' को 'स' आदेश होता है।

रूपसिद्धिः—अनुरूपम्

लौ० वि०—रूपस्य (अनु) योग्यम्

अलौ० वि०—रूप ङस् अनु

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से यथा के योग्यता अर्थ में वर्तमान 'अनु' अव्यय का सुबन्त 'रूपस्य' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (रूप अनु)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से अनु की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक अनु का पूर्व प्रयोग (अनुरूप)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (अनु रूप सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्ययसंज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप प्राप्त था किन्तु 'नाव्ययीभावा०'[६५७] (२.४.८३) से सु को अम् (अनु रूप अम्)। 'अमि पूर्वः'[११४] (६.१.१०७) से अम् के अ को पूर्वरूप होकर अनुरूपम्।

प्रत्यर्थम्

लौ० वि०—अर्थम् अर्थं प्रति

अलौ० वि०—अर्थ अम् प्रति

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से यथा के वीप्सा अर्थ में वर्तमान 'प्रति' अव्यय का सुबन्त 'अर्थम्' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (अम्) का लोप (अर्थप्रति)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से प्रति की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से प्रति का पूर्व प्रयोग (प्रति अर्थ)। 'इको यणचि'[४७] (६.१.७७) से 'इ' को य् (प्रत्यर्थ)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (प्रत्यर्थ सु)। शेषं पूर्ववत् (प्रत्यर्थं अम्) प्रत्यर्थम।

यथाशक्ति

लौ० वि०—शक्तिम् यथा (अनतिक्रम्य)

अलौ० वि०—शक्ति अम् यथा

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से यथा के पदार्थानतिवृत्ति (पदार्थ का उल्लंघन न करना) इस अर्थ में वर्तमान 'यथा' अव्यय का सुबन्त 'शक्तिम्' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (अम्) का लोप (शक्ति यथा)। 'प्रथमानिर्दिष्टं'[६५३] (१.२.४३) से 'यथा' की उपसर्जनसंज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से यथा का पूर्व प्रयोग। (यथाशक्ति)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिकसंज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (यथाशक्ति सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्ययसंज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु का लोप होकर—यथाशक्ति।

सहरि—

लौ० वि०—हरेः सह (सादृश्यम्)

अलौ० वि०—हरि ङस् सह

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से यथा के सादृश्य अर्थ में वर्तमान 'सह' अव्यय का 'हरेः' सुबन्त के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (हरि सह)। 'प्रथमानिर्दिष्टं'[६५३] (१.२.४३) से 'सह' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'सह' का पूर्व प्रयोग (सह हरि)। 'अव्ययीभावे चाकाले'[६६०] (६.३.८१) से 'सह' को 'स' (सहरि)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२)। से सु (सहरि सु)। शेषं पूर्ववत्, सहरि।

अनुज्येष्ठम्

लौ० वि०—ज्येष्ठस्य अनु (आनुपूर्व्येण)

अलौ० वि०—ज्येष्ठ ङस् अनु

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से अनुक्रम अर्थ में वर्तमान 'अनु' अव्यय का 'ज्येष्ठस्य' सुबन्त पद के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (ज्येष्ठ अनु) 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से अनु की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'अनु' का पूर्व प्रयोग (अनुज्येष्ठ) 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (अनुज्येष्ठ सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप प्राप्त था किन्तु 'नाव्ययीभावा०'[६५७] (२.४.८३) से सु को अम् (अनुज्येष्ठ अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के अ को पूर्वरूप होकर अनुज्येष्ठम्।

चक्रेण युगपदिति विग्रहे—

चक्र के एक दम साथ—ऐसा विग्रह होने पर

६६०. अव्ययीभावे चाकाले (६.३.८१)

सहस्य सः स्यादव्ययीभावे, न तु काले। सचक्रम्। काले तु सहपूर्वाह्णम्। सदृशः सख्या ससखि। यथार्थत्वेनैव सिद्धे पुनः सादृश्यग्रहणं गुणभूतेऽपि सादृश्ये यथा स्यादित्येवमर्थम्। क्षत्राणां सम्पत्तिः सक्षत्रम्। ऋद्धेराधिक्यं समृद्धिः, अनुरूप आत्मभावः सम्पत्तिरिति भेदः। तृणमप्यपरित्यज्य सतृणमत्ति। साकल्येनेत्यर्थः। न त्वत्र तृणभक्षणे तात्पर्यम्। अन्ते–अग्निग्रन्थपर्यन्तमधीते साग्नि।

अनु०—अव्ययीभाव समास में 'सह' को 'स' होता है, जब 'सह' के बाद कालवाची शब्द न हो। सचक्रम्—चक्र के एकदम साथ। कालवाची शब्द होने पर सहपूर्वाह्णम्। ससखि—सखा के सदृश। 'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) इस सूत्र में यथार्थ शब्द के पठित होने पर भी पुनः सादृश्य का ग्रहण इसलिए हुआ है कि सादृश्य के गौण अर्थ में भी समास हो सके। सक्षत्रम्—क्षत्रियों की सम्पत्ति (स्वोचित कर्म)। समृद्धि का अर्थ है—ऋद्धि (धन-धान्य) की अधिकता। सम्पत्ति का अर्थ है स्वोचित कर्म। यही दोनों में भेद है। सतृणम्—तृण को भी बिना परित्याग किए खाता है। सम्पूर्ण रूप से खाता है—यह तात्पर्य है। यहाँ तृण भक्षण में तात्पर्य नहीं है। साग्नि—अग्निचयन प्रतिपादक ग्रन्थ तक पढ़ता है।

व्याख्या—यथार्थत्वेनेति। 'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) इस सूत्र में 'यथा' शब्द आता है। यथा का एक अर्थ सादृश्य है। सादृश्य के अर्थ में प्रयुक्त अव्यय का सुबन्त के साथ समास होता है। 'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) इस सूत्र में 'सादृश्य' का पृथक् प्रयोग भी हुआ है।

प्रश्न०—जब यथा के अर्थ में 'सादृश्य' अर्थ आता है तब 'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) इस सूत्र में पृथक् सादृश्य का प्रयोग क्यों ?

उत्तर—यथा के अर्थ में जिस सादृश्य का ग्रहण है वह प्रधान सादृश्य है, गौण सादृश्य नहीं। किन्तु गौण सादृश्य अर्थ में प्रयुक्त अव्यय का भी सुबन्त के साथ समास करना है, इसलिए उक्त सूत्र में सादृश्य का पृथक् ग्रहण किया है।

प्रधान सादृश्य का उदाहरण—सहरि—हरेः सादृश्यम्। यहाँ सादृश्य प्रधान है। यथा के सादृश्य अर्थ में 'सह' अव्यय का सुबन्त 'हरि' के साथ समास हुआ है।

गौण सादृश्य का उदाहरण—ससखि—सख्या सदृशः। यहाँ 'सदृशः' पद विशेषण होकर गुणीभूत हो गया है।

सम्पत्ति और समृद्धि—ये दोनों पद 'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) इस समास विधायक सूत्र में दिये हैं। ये पर्यायवाची नहीं हैं। समृद्धि—धन-धान्य की अधिकता और सम्पत्ति—स्वोचित कर्म। इन दोनों में अन्तर है।

रूपसिद्धिः—सचक्रम्

लौ० वि०—चक्रेण युगपत्

अलौ० वि०—चक्र टा सह

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से युगपद् अर्थ में वर्तमान 'सह' अव्यय का सुबन्त 'चक्रेण' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (टा) का लोप (चक्र सह)। 'प्रथमानिर्दिष्ट०'[६५३] (१.२.४३) से सह' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से सह का पूर्व प्रयोग (सह चक्र)। 'अव्ययीभावे चाकाले'[६६०] (६.३.८१) से 'सह' को 'स' आदेश (स चक्र)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स चक्र सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप प्राप्त हुआ किन्तु इसे बाध कर 'नाव्ययीभावा०'[६५७] (२.४.८३) से सु को अम् (स चक्र अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप होकर सचक्रम्।

ससखि

लौ० वि०—सख्या सह (सदृशः)

अलौ० वि०—सखि टा सह

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से गौण सादृश्य के अर्थ में वर्तमान 'सह' अव्यय का 'सख्या' सुबन्त के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (टा) का लोप (सखि सह)। 'प्रथमानिर्दिष्ट०'[६५३] (१.२.४३) से सह की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से सह का पूर्व प्रयोग (सहसखि)। 'अव्ययीभावे०'[६६०] (६.३.८१) से 'सह' को 'स' आदेश (ससखि)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (ससखि सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु का लोप होकर ससखि।

सक्षत्रम्

लौ० वि०—क्षत्राणां सह (सम्पत्तिः)

अलौ० वि०—क्षत्र आम् सह

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से सम्पत्ति (स्वोचित कर्म) अर्थ में वर्तमान 'सह' अव्यय का 'क्षत्राणाम्' सुबन्त पद के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (आम्) का लोप (क्षत्र सह)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'सह' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'सह' का पूर्व प्रयोग (सह क्षत्र)। 'अव्ययीभावे०'[६६०] (६.३.८१) से 'सह' को 'स' आदेश (सक्षत्र)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (सक्षत्र सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादा०'[४५२] (२.४.८२) से सुप् लोप प्राप्त हुआ किन्तु इसे बाधकर 'नाव्ययीभावा०'[६५७] (२.४.८३) से सु को अम् (स क्षत्र अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के आ को पूर्वरूप (सक्षत्र) होकर सक्षत्रम्।

सतृणम्

लौ० वि०—तृणम् सह (अपरित्यज्य)

अलौ० वि०—तृण अम् सह

'अव्ययं विभक्ति०'[६५१] (२.१.६) से साकल्य अर्थ में वर्तमान 'सह' अव्यय का सुबन्त 'तृणम्' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (अम्) का लोप (तृण सह)। 'प्रथमानिर्दिष्टं'[६५३] (१.२.४३) से सह की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से सह का पूर्व प्रयोग (सह तृण)। 'अव्ययीभावे०'[६६०] (६.३.८१) से 'सह' को 'स' आदेश (स तृण)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स तृण सु)। 'अव्ययीभावश्च'[६५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[६५२] (२.४.८२) से सु लोप प्राप्त हुआ किन्तु इसे बाध कर 'नाव्ययीभाव०'[६५७] (२.४.८३) से सु को अम्। (स तृण अम्) 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से 'अम्' के 'अ' को पूर्व रूप होकर सतृणम्।

साग्नि—

लौ० वि०—अग्निग्रन्थपर्यन्तम्

अलौ० वि०—अग्नि अम् सहः

'अव्ययं विभक्ति०'[६५१] (२.१.६) से अन्त अर्थ में वर्तमान 'सह' अव्यय का सुबन्त 'अग्निम्' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (अम्) का लोप (अग्नि सह)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'सह' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'सह' का पूर्व प्रयोग (सह अग्नि)। 'अव्ययीभावे०'[६६०] (६.३.८१) से 'सह' को 'स' आदेश। (स अग्नि) 'अकः सवर्णे दीर्घः'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (साग्नि)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (साग्नि सु)। 'अव्ययीभावश्च'[६५१] (१.१.४१) से अव्ययसंज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[६५२] (२.४.८२) से सु लोप होकर साग्नि।

६६१. यथाऽसादृश्ये (२.१.७)

असादृश्य एव यथाशब्दः समस्यते। तेनेह न—यथा हरिस्तथा हरः। हरेरुपमानत्वं यथाशब्दो द्योतयति। तेन 'सादृश्य' इति वा 'यथार्थ' इति वा प्राप्तं निषिध्यते।

अनु०—सादृश्य भिन्न अर्थ में ही 'यथा' अव्यय का सुबन्त के साथ समास होता है (अन्यत्र नहीं)। यथा हरिस्तथा हरः—विष्णु के सदृश शिव। यहां समास नहीं हुआ। (इस उदाहरण में) 'यथा' के प्रयोग से द्योतित होता है कि हरि उपमान है। ('अव्ययं विभक्ति०'[६५१] (२.१.६) इस सूत्र में पठित) 'सादृश्य' शब्द से (गौण सादृश्य के अर्थ में) प्राप्त अथवा (इसी 'अव्ययं विभक्ति०'[६५१] (२.१.६) सूत्र में पठित) 'यथा' शब्द से (प्रधान सादृश्य के अर्थ में) प्राप्त यथा के समास का निषेध हुआ है।

व्याख्या—'अव्ययं विभक्ति०'[६५१] (२.१.६) इस सूत्र में कहा गया है कि सादृश्य

अर्थ में प्रयुक्त अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है। इस सूत्र में यह भी कहा है कि यथा शब्द के अर्थ में प्रयुक्त अव्यय का सुबन्त के साथ समास होता है। यथा शब्द का एक अर्थ सादृश्य है। उक्त नियम से सादृश्य अर्थ में प्रयुक्त यथा अव्यय का भी सुबन्त के साथ समास प्राप्त था जिसका 'यथाऽसादृश्ये'[६६१] (२.१.७) से निषेध हुआ है।

वस्तुतः "अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से गौण सादृश्य अर्थ में प्रयुक्त 'यथा' अव्यय का सुबन्त से समास प्राप्त था जिसका 'यथाऽसादृश्ये'[६६१] (२.१.७) से निषेध हुआ"—भट्टोजि दीक्षित का यह कथन तो ठीक है किन्तु 'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) इस सूत्र में पठित 'यथार्थ' से प्रधान सादृश्य अर्थ में यथा का समास प्राप्त था—भट्टोजिदीक्षित का यह कथन सङ्गत नहीं है क्योंकि सूत्रपठित 'यथार्थ' का अर्थ 'यथा' के अर्थ में प्रयुक्त किन्तु यथाशब्द भिन्न अव्यय का सुबन्त के साथ समास होता है ऐसा अर्थ करने पर जब यथा का समास ही प्राप्त नहीं, तब निषेध का प्रश्न कहाँ ?

६६२. यावदवधारणे (२.१.८)

यावन्तः श्लोकास्तावन्तोऽच्युतप्रणामाः, यावच्छ्लोकम्।

अनु०—(जब परिमाण व इयत्ता का निश्चय करना हो, तब 'यावत्' अव्यय का सुबन्त के साथ समास होता है।) यावच्छ्लोकम्—जितने श्लोक हैं उतने ही विष्णु को अर्पित नमस्कार हैं। (अर्थात् विष्णु को अर्पित नमस्कारों की संख्या का एवं श्लोकों की संख्या का परिमाण समान है)।

रूपसिद्धिः—यावच्छ्लोकम्

लौ० वि०—यावन्तः श्लोकाः

अलौ० वि०—श्लोक जस् यावत् जस्

'यावदवधारणे'[६६२] (२.१.८) से सीमा निर्धारण अर्थ में 'यावत्' का सुबन्त 'श्लोकाः' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१०९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों जस् प्रत्ययों) का लोप (श्लोक यावत्)। 'यावदवधारणे'[६६२] (२.१.८) सूत्र में 'यावत्' प्रथमान्त है अतः 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'यावत्' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'यावत्' का पूर्व प्रयोग (यावत् श्लोक)। 'स्तोः श्चुना श्चुः'[१११] (८.४.४०) से त् को च् (याव च् श्लोक)। 'शश्छोऽटि'[१२०] (८.४.६३) से 'श्' को 'छ्' (यावच्छ्लोक)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (यावच्छ्लोक सु)। 'अव्ययीभावश्च'[६५९] (२.४.१८) से नपुंसक। 'अतोऽम्'[३०९] (७.१.२४) से सु को 'अम्' (यावच्छ्लोक अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप होकर यावच्छ्लोकम्।

६६३. सुप्प्रतिना मात्रार्थे (२.१.९)

शाकस्य लेशः शाकप्रति। मात्रार्थे किम्—वृक्षं वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्।

अनु०—मात्रा (लेश) अर्थ वाले 'प्रति' अव्यय के साथ सुबन्त का समास होता है।

शाकप्रति—शाक की कुछ मात्रा। 'मात्रा अर्थ वाले प्रति' ऐसा क्यों कहा ?—वृक्षं वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्।

व्याख्या—मात्रार्थे किमिति। मात्रार्थक 'प्रति' अव्यय का सुबन्त के साथ अव्ययीभावसमास होता है। जहाँ 'प्रति' अव्यय का मात्रा के अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ वहाँ अव्ययीभाव समास नहीं होता। जैसे 'वृक्षं वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्।' यहाँ 'प्रति' अव्यय का मात्रा के अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ अतः यहाँ 'प्रति' असमस्त है।

प्रश्न—वृक्षं वृक्षं प्रति—इस उदाहरण में 'लक्षणेत्थंभूता०'[५५२] (१.४.९०) सूत्र से 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा। 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया'[५५८] (२.३.८) से कर्मप्रवचनीय प्रति के योग में वृक्ष का द्वितीया विभक्ति में प्रयोग हुआ है। कर्मप्रवचनीय संज्ञा के विधान से ही यहाँ समास नहीं होगा, न कि प्रति के मात्रार्थक न होने के कारण।

उत्तर—'वृक्षं प्रति सिञ्चति' इस वाक्य में कर्मप्रवचनीय संज्ञा का 'उपसर्गात्सुनोति०'[२२७०] (८.३.६५) से प्राप्त षत्व का निवारण भी एक फल है। इस प्रकार कर्मप्रवचनीय संज्ञा व्यर्थ नहीं होती। यदि कर्मप्रवचनीय संज्ञा का एकमात्र फल द्वितीया विधान होता तब वह समास-निवारण का ज्ञापक हो सकता था किन्तु षत्व निवारण भी कर्मप्रवचनीय संज्ञा का फल है। अतः ऐसे स्थलों में समास निवारण के लिए 'सुप् प्रतिना मात्रार्थे'[६६३] (२.१.९) इस सूत्र में 'मात्रार्थे' का प्रयोग होना आवश्यक है। मात्रार्थक प्रति का ही सुबन्त के साथ समास हो। मात्रा भिन्न अर्थ में प्रयुक्त प्रति का समास न हो। ऐसा नियम बनाने से "वृक्षं वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्"—ऐसे वाक्यों में, जहाँ प्रति का अर्थ मात्रा न होकर वीप्सा (आवृत्ति) है, अव्ययीभाव समास नहीं हुआ।

रूपसिद्धिः—शाकप्रति

लौ० वि०—शाकस्य लेशः

अलौ० वि०—शाक ङस् प्रति

'सुप्प्रतिना०'[६६३] (२.१.९) से मात्रार्थक 'प्रति' अव्यय के साथ सुबन्त 'शाकस्य' का समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (शाक प्रति)। 'सुप्प्रतिना मात्रार्थे'[६६३] (२.१.९) सूत्र में सुप् प्रथमा में निर्दिष्ट है अतः 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से सुप् 'शाक' की उपसर्जनसंज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'शाक' का पूर्व प्रयोग (शाक प्रति)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (शाक प्रति सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सुप् (सु) का लोप होकर शाकप्रति।

६६४. अक्षशलाकासङ्ख्याः परिणा (२.१.१०)

द्यूतव्यवहारे पराजय एवायं समासः। अक्षेण विपरीतं वृत्तमक्षपरि। शलाकापरि। एकपरि।

अनु०—(अक्ष, शलाका, संख्यावचन एक द्वि आदि) परि अव्यय के साथ समस्त

होते हैं।) द्यूतव्यवहार में पराजय में ही यह समास इष्ट है।

अक्षपरि—पासा उल्टा पड़ा (ऐसे नहीं जैसे पहले जय के समय पड़ा था)। शलाका परि—शलाका उल्टी पड़ी। एकपरि—एक उल्टा पडा।

रूपसिद्धिः—अक्षपरि

लौ० वि०—अक्षेण विपरीतं वृत्तम्

अलौ० वि०—अक्ष टा परि

'अक्षशलाकासंख्याः०'[६६४] (२.१.१०) से 'अक्ष' का 'परि' अव्यय के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (टा) का लोप (अक्षपरि)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से अक्ष की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'अक्ष' का पूर्व प्रयोग (अक्षपरि)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (अक्षपरि सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सुप् (सु) का लोप होकर अक्षपरि।

शलाकापरि

लौ० वि०—शलाकया विपरीतं वृत्तम्

अलौ० वि०—शलाका टा परि

'अक्षशलाका०'[६६४] (२.१.१०) से 'शलाका' का 'परि' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (टा) का लोप (शलाका परि)। प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'शलाका' की उपसर्जन संज्ञा। "उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'शलाका' का पूर्व प्रयोग। (शलाका परि) स्वादिप्रयोग, शेषं पूर्ववत्।

एकपरि

लौ० वि०—एकेन विपरीतं वृत्तम्

अलौ० वि०—एक टा परि

'अक्षशलाकासंख्याः०'[६६४] (२.१.१०) से संख्यावाचक 'एक' का 'परि' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (टा) का लोप (एक परि)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से संख्यावाचक 'एक' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'एक' का पूर्व प्रयोग (एक परि) स्वादिप्रयोग, शेषं पूर्ववत्।

६६५. विभाषा (२.१.११)

अधिकारोऽयम्। एतत्सामर्थ्यादेव प्राचीनानां नित्यसमासत्वम्। 'सुप्सुपा' इति तु न नित्यसमासः। 'अव्ययम्' इत्यादिसमासविधानाज्ज्ञापकात्।

अनु०—यहाँ से विभाषा का अधिकार प्रारम्भ होता है। इस सूत्र से पूर्व जितने

भी समासविधायक सूत्र हैं वे नित्यसमास का विधान करते हैं। 'सुप्सुपा' से भी जिस समास का विधान हुआ है वह नित्य समास नहीं है। 'अव्ययं०'[६५२] (२.१.६) से नित्य समास का विधान सिद्ध करता है कि इससे पूर्व 'सुप्सुपा' से विहित समास नित्य नहीं है।

व्याख्या—यहाँ से 'विभाषा' का अधिकार प्रारम्भ होता है। इस सूत्र के बाद आने वाले समास विधायक सूत्र वैकल्पिक समास करते हैं। इस सूत्र से यह भी सिद्ध होता है कि इससे पूर्व जितने भी समासविधायक सूत्र हैं उनसे नित्य समास होता है। अतः 'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से जो समास होता है वह नित्य है, वैकल्पिक नहीं।

प्रश्न—तब 'विभाषा'[६६५] (२.१.११) से पूर्व सुप्सुपा से जो सुबन्त का सुबन्त के साथ समास होता है वह भी नित्य होना चाहिए।

उत्तर—यद्यपि 'सुप्सुपा' सूत्र 'विभाषा' से पूर्व आता है तो भी उससे नित्य समास नहीं होता क्योंकि यदि उससे नित्य समास हो सकता तब 'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) सूत्र ही निष्प्रयोजन हो जाता। 'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से नित्य समास का विधान सिद्ध करता है कि इससे पूर्व जो सुप्सुपा से समास किया गया है वह वैकल्पिक है, नित्य नहीं।

६६६. अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या (२.१.१२)

अपविष्णु संसारः, अप विष्णोः। परिविष्णु, परि विष्णोः। बहिर्वनम्, बहिर्वनात्। प्राग्वनम्, प्राग्वनात्।

अनु०—(अप, परि, बहिस् और अञ्च्) क्विन्प्रत्ययान्त (सुबन्त अव्यय पञ्चम्यन्त सुबन्त के साथ विकल्प से समस्त होते हैं। पक्ष में वाक्य रहता है)। अपविष्णु संसारः, अपविष्णोः—विष्णु को छोड़कर सभी का जन्म-मरण होता है। परिविष्णु, परिविष्णोः विष्णु को छोड़कर। बहिर्वनम्, बहिर्वनात्—वन से बाहिर। प्राग्वनम्, प्राग्वनात्—वन से पूर्व की ओर।

रूपसिद्धिः—अपविष्णु

लौ० वि०—विष्णोः अप

अलौ० वि०—विष्णु ङसि अप

'अपपरि०'[६६६] (२.१.१२) से 'अप' अव्यय का पञ्चम्यन्त 'विष्णोः' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७१] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङसि) का लोप (विष्णु अप)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'अप' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'अप' का पूर्व प्रयोग। (अप विष्णु) 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजस-मौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (अप विष्णु सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्ययसंज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सुप् (सु) का लोप होकर अप-विष्णु। अप विष्णोः—यह असमस्त प्रयोग है।

परिविष्णु—

लौ० वि०—विष्णोः परि

अलौ० वि०—विष्णु ङसि परि

'अपपरि०'[६६६](२.१.१२)से 'परि' अव्यय का पञ्चम्यन्त 'विष्णोः' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङसि) का लोप (विष्णु परि)। 'प्रथमानिर्दिष्टं'[६५३] (१.२.४३) से 'परि' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'परि' का पूर्व प्रयोग (परि विष्णु)। शेष अपविष्णु के समान रूप बनेंगे। (परि विष्णु सु) परिविष्णु।

परि विष्णोः—यह असमस्त प्रयोग है।

बहिर्वनम्—

लौ० वि०—वनाद् बहिस् (बहिर्)

अलौ० वि०—वन ङसि बहिर्

'अपपरिबहि०'[६६६] (२.१.१२) से 'बहिर्' अव्यय का पञ्चम्यन्त 'वनात्' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङसि) का लोप (वन बहिर्)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से बहिर् की उप-सर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से बहिर् का पूर्व प्रयोग। (बहिर् वन) 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्'[१८३] (४.१.२) से सु। (बहिर् वन सु) 'अव्ययीभावश्च'[६५९] (२.४.१८) से नपुंसक। 'अतोऽम्'[३०९] (७.१.२४)से सु को अम्। (बहिर् वन अम्) 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से 'अम्' के 'अ' को पूर्वरूप होकर बहिर्वनम्।

प्राग्वनम्—

लौ० वि०—वनात् प्राक्

अलौ० वि०—वन ङसि प्राक्

'अपपरिबहिरञ्चवः०'[६६६] (२.१.१२) से क्विन् प्रत्ययान्त 'प्राक्' अव्यय का पञ्चम्यन्त 'वनात्' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङसि) का लोप (वन प्राक्)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'प्राक्' की उपसर्जन संज्ञा।। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'प्राक्' का पूर्व प्रयोग (प्राक् वन)। 'झलां जशोऽन्ते'[८४] (८.२.३९) से 'क्' को 'ग्' (प्राग्वन)। शेष बहिर्वनम् के समान रूप बनेंगे। (प्राग्वन सु, प्राग्वन अम्) शेषं पूर्ववत् प्राग्वनम्।

प्राग्वनात्—यह असमस्त प्रयोग है।

६६७. आङ् मर्यादाभिविध्योः (२.१.१३)

एतयोराङ् पञ्चम्यन्तेन वा समस्यते, सोऽव्ययीभावः। आमुक्ति संसारः, आ मुक्तेः। आबालं हरिभक्तिः, आ बालेभ्यः।

अनु०—(मर्यादा और व्याप्य अर्थ में) आङ् अव्यय का पञ्चम्यन्त के साथ विकल्प से समास होता है उसे अव्ययीभाव कहते हैं। (पक्ष में वाक्य रहता है।) आमुक्ति (पक्ष में—आ मुक्तेः) संसारः—जब तक मोक्ष नहीं हुआ तब तक संसार=आवागमन

है। आबालं (पक्ष में—आ बालेभ्यः) हरिभक्तिः—विष्णुभक्ति बच्चों तक फैली हुई है।

रूपसिद्धिः—आमुक्ति

लौ० वि०—आ मुक्तेः

अलौ० वि०—मुक्ति ङसि आङ

'आङ मर्यादा०'[६६७] (२.१.१३) से मर्यादा अर्थ में 'आङ' अव्यय का सुबन्त 'मुक्तेः' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङसि) का लोप (मुक्ति आङ)। 'हलन्त्यम्'[१] (१.३.३) से 'ङ' की इत्संज्ञा। 'तस्य लोपः'[६२] (१.३.९) से 'ङ' का लोप (मुक्ति आ)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'आ' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'आ' का पूर्व प्रयोग। (आ मुक्ति)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (आ मुक्ति सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु का लोप होकर आमुक्ति।

आ मुक्तेः—यह असमस्त प्रयोग है।

आबालम्—

लौ० वि०—आ बालेभ्यः

अलौ० वि०—बाल भ्यस् आङ

'आङ मर्यादा०'[६६७] (२.१.१३) से अभिविधि अर्थ में वर्तमान् 'आङ' अव्यय का सुबन्त 'बालेभ्यः' के साथ समास। 'कृत्तद्धित'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (भ्यस्) का लोप (बाल आङ)। 'हलन्त्यम्'[१]-(१.३.३) से आङ के 'ङ' की इत्संज्ञा। 'तस्य लोपः'[६२] (१.३.९) से 'ङ' का लोप (बाल आ)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'आ' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'आ' का पूर्व प्रयोग (आबाल)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्'[१८३] (४.१.२) से सु (आ बालसु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादा०'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप प्राप्त था किन्तु 'नाव्ययीभावा०'[६५७] (२.४.८३) से सु को अम् (आबाल अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप होकर आबालम्।

आ बालेभ्यः—यह असमस्त प्रयोग है।

६६८. लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये (२.१.१४)

आभिमुख्यद्योतकावभिप्रती चिह्नवाचिना सह प्राग्वत्। अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति, अग्निमभि। प्रत्यग्नि, अग्निं प्रति।

अनु०—चिह्नवाची सुबन्त के साथ सम्मुखता अर्थ वाले अभि, प्रति अव्यय विकल्प से समस्त होते हैं। शलभ अग्नि को लक्ष्य करके तदभिमुख होकर गिरते हैं—अभ्यग्नि,

प्रत्यग्नि । अग्निम् अभि, अग्निं प्रति असमस्त हैं ।

रूपसिद्धिः—अभ्यग्नि

लौ० वि०—अग्निम् अभि

अलौ० वि०—अग्नि अम् अभि

'लक्षणेनाभिप्रती०'[६६८] (२.१.१४) से सम्मुखता अर्थ के द्योतक 'अभि' अव्यय के साथ सुबन्त 'अग्निम्' का समास । 'कृत्तद्धित०'[१७१] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (अम्) का लोप। (अग्नि अभि) 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'अभि' की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'अभि' का पूर्व प्रयोग (अभि अग्नि) । 'इको यणचि'[४७] (६.१.७७) से 'अभि' के 'इ' को 'य्' (अभ्यग्नि) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजस-मौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (अभ्यग्नि सु) । 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्ययसंज्ञा । 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु का लोप होकर अभ्यग्नि ।

अग्निमभि—यह असमस्त प्रयोग है ।

प्रत्यग्नि

लौ० वि०—अग्निम् प्रति

अलौ० वि०—अग्नि अम् प्रति

'लक्षणेनाभिप्रती०'[६६८] (२.१.१४) से सम्मुखता अर्थ के वाचक अव्यय 'प्रति' का सुबन्त 'अग्निम्' के साथ समास । 'कृत्तद्धित०'[१७१] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१)से सुप् (अम्)का लोप(अग्नि प्रति)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'प्रति' की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०)से 'प्रति' का पूर्व प्रयोग (प्रति अग्नि)। 'इको यणचि'[४७] (६.१.७७) से प्रति के 'इ'को 'य्' (प्रत्यग्नि) । शेषं पूर्ववत् । (प्रत्यग्नि सु) प्रत्यग्नि ।

अग्निम् प्रति—यह असमस्त प्रयोग है ।

६६९. अनुर्यत्समया (२.१.१५)

यं पदार्थं समया द्योत्यते तेन लक्षणभूतेनानुः समस्यते, सोऽव्ययीभावः । अनुवन-मशनिर्गतः । वनस्य समीपं गत इत्यर्थः ।

अनु०—लक्षणा द्वारा जिस पद से उसके समीपवर्ती देश का बोध होता है उस पद का 'अनु' के साथ अव्ययीभाव समास होता है। अनुवनमशनिर्गतः—वन के समीप बिजली गिरी है । यहां वन शब्द वन-समीप अर्थ का बोधक है ।

रूपसिद्धिः—अनुवनम्

लौ० वि०—वनस्य अनु

अलौ० वि०—वन ङस् अनु

'अनुर्यत्समया'[६६९] (२.१.१५) से 'अनु' का सुबन्त 'वनस्य' के साथ समास । 'कृत्तद्धित०'[१७१] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से

सुप् (ङस्) का लोप (वन अनु)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'अनु' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'अनु' का पूर्व प्रयोग (अनु वन)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु। (अनु वन सु) 'अव्ययीभावश्च'[४४५] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादा०'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप प्राप्त किन्तु 'नाव्ययीभावा०'[६५७] (२.४.८३) से सु को अम् (अनु वन अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप होकर अनुवनम्।

६७०. यस्य चायामः (२.१.१६)

यस्य दैर्घ्यमनुना द्योत्यते तेन लक्षणभूतेनानुः समस्यते। अनुगङ्गं वाराणसी। गङ्गाया अनु। गङ्गादैर्घ्यसदृशदैर्घ्योपलक्षितेत्यर्थः।

अनु०—जिसकी दीर्घता के सदृश जिसका विस्तार अनु के द्वारा द्योतित होता है उस लक्षणभूत शब्द का अनु के साथ विकल्प से समास होता है। अनुगङ्गं वाराणसी—गंगा के किनारे-किनारे काशी स्थित है। गङ्गाया अनु—असमस्त प्रयोग है। अनुगङ्गम् में गंगा शब्द गंगा दैर्घ्य सदृश वाराणसी के दैर्घ्य को सूचित करता है।

रूपसिद्धिः—अनुगङ्गम्

लौ० वि०—गङ्गाया अनु

अलौ० वि०—गङ्गा ङस् अनु

'यस्य चायामः'[६७०] (२.१.१६) से 'अनु' अव्यय का सुबन्त 'गङ्गायाः' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (गङ्गा अनु)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'अनु' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'अनु' का पूर्व प्रयोग (अनुगङ्गा)। 'अव्ययीभावश्च'[६५९] (२.४.१८) से नपुंसक संज्ञा। 'ह्रस्वो नपुंसके०'[३१८] (१.२.४७) से 'गङ्गा' के 'आ' को ह्रस्व (अनुगङ्ग)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (अनुगङ्ग सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादा०'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप प्राप्त था किन्तु 'नाव्ययीभावा०'[६५७] (२.४.८३) से सु को अम् (अनुगङ्ग अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप होकर अनुगङ्गम्।

गङ्गाया अनु—यह असमस्त प्रयोग है।

६७१. तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च (२.१.१७)

एतानि निपात्यन्ते। तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् काले स तिष्ठद्गु दोहनकालः। आयतीगवम्। इह शत्रादेशः पुंवद्भावविरहः समासान्तश्च निपात्यते खलेयवम् इत्यादि।

अनु०—तिष्ठद्गु आदि शब्द निपातित हैं। जिस समय गाय दुहने के लिए

खड़ी होती है उस समय को तिष्ठद्गु कहते हैं। आयतीगवम्—जिस समय गाय आती हों, (सायंकाल)। 'तिष्ठद्गु' में तिष्ठन्ती में शतृ आदेश और 'आयतीगवम्' में आयती में पुंवद्भाव का अभाव निपातन (अनियम) से हुआ है। खलेयवम्—वह समय जब यवों को उलूखल में डाला जाता है।

व्याख्या—सूत्रकार ने तिष्ठद्गु शब्द जैसे पढ़े हैं वैसे ही ठीक हैं। तिष्ठद्गु गण है जिसमें निम्न शब्द आते हैं—**तिष्ठद्गु**, वहद्गु, आयतीगवम्, खलेयवम्, खलेबुसम्, लूनयवम्, लूयमानयवम्, पूतयवम्, पूयमानयवम्, संहृतयवम्, संह्रियमाणयवम्, संहृतबुसम्, संह्रियमाणबुसम्, समभूमि, समपदाति, सुषमम्, विषमम्, दुःषमम्, निःषमम्, अपसमम्, आयतीसमम् (प्रोढम्), पापसमम्, पुण्यसमम्, प्राह्णम्, प्ररथम्, प्रमृगम्, प्रदक्षिणम् (अपर-दक्षिणम्), सम्प्रति, असम्प्रति। इन शब्दों की सिद्धि के लिए कोई नियम नहीं हैं अतः इन्हें निपातित करते हैं।

रूपसिद्धिः—तिष्ठद्गु

लौ० वि०—तिष्ठन्त्यो गावो (यस्मिन्)

अलौ० वि०—तिष्ठन्ती जस् गो जस्

'तिष्ठद्गु०'[६७१] (२.१.१७) से बहुव्रीहि के अर्थ में अव्ययीभाव समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों जस् प्रत्ययों) का लोप (तिष्ठन्ती गो)। 'स्त्रियाः पुंवत्०'[७११] (६.३.३४) से तिष्ठन्ती को पुंवद्भाव (तिष्ठद् गो)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५१] (१.२.४३) से तिष्ठद् की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'तिष्ठद्' का पूर्व प्रयोग (तिष्ठद् गो)। 'गोस्त्रियो०'[६५६] (१.२.४८) से गो के 'ओ' को ह्रस्व (तिष्ठद् गु)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (तिष्ठद् गु सु)। 'अव्ययीभावश्च'[६५१] (१.१.४१) से अव्ययसंज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[६५२] (२.४.८२) से 'सु' का लोप होकर तिष्ठद्गु।

'तिष्ठन्त्यः गावः' में दोनों प्रयोग प्रथमा बहुवचन में हैं ऐसे प्रथमा समानाधिकरण में शतृ आदेश नियम के विरुद्ध है क्योंकि शतृ करने वाले 'लटः शतृ०'[३११००] (३.२.१२४) सूत्र में 'अप्रथमासमानाधिकरण' कहा है। अतः यहाँ नियम से अप्राप्त शतृ का विधान निपातन से हुआ है। और 'तिष्ठन्त्यो गावो यस्मिन्'—इस विग्रह में अन्य पदार्थ प्रधान बहुव्रीहि स्पष्ट है। किन्तु बहुव्रीहि के अर्थ में पूर्वपदार्थप्रधान अव्ययीभाव भी निपातन से हुआ है।

आयतीगवम्

लौ० वि०—आयत्यो गावो यस्मिन्

अलौ० वि०—आयती जस् गो जस्

'तिष्ठद्गु०'[६७१] (२.१.१७) से बहुव्रीहि के अर्थ में अव्ययीभाव समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (अन्तर्वर्ती दोनों जस् प्रत्ययों) का लोप (आयती गोः)। 'तिष्ठद्गु०'[६७१] (२.१.१७)

से टच् (अ) प्रत्यय (आयती गो टच्) एचोऽयवायावः'[६१] (६.१.७८) से 'ओ' को 'अव्' (आयती गव् अ)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्'[८१] (४.१.२) से सु (आयती गव सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१)से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादा०'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप प्राप्त था। किन्तु 'नाव्ययीभावा०'[६५७] (२.४.८३) से सु को अम् (आयती गव अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्व रूप होकर आयतीगवम्।

यहां 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) से आयती में पुंवद्भाव प्राप्त था किन्तु 'तिष्ठद्गु०'[६७१] (२.१.१७) से उसका निषेध हुआ है। इसी सूत्र से ही समासान्त टच् और बहुव्रीहि के अर्थ में अव्ययीभाव समास हुए हैं। नियम के अनुसार गो शब्द से टच् तत्पुरुष समास में ही होता है अन्यत्र नहीं, किन्तु यहां अव्ययीभाव में भी समासान्त टच् हुआ है।

६७२. पारे मध्ये षष्ठ्या वा (२.१.१८)

पारमध्यशब्दौ षष्ठ्यन्तेन सह वा समस्येते। एदन्तत्वं चानयोर्निपात्यते। पक्षे षष्ठीतत्पुरुषः। पारेगङ्गादानय, गङ्गापारात्। मध्येगङ्गात्, गङ्गामध्यात्। महाविभाषया वाक्यमपि। गङ्गायाः पारात्। गङ्गाया मध्यात्।

अनु०—पार और मध्य शब्द षष्ठ्यन्त के साथ विकल्प से समस्त होते हैं। साथ ही पार, मध्य को पारे मध्ये आदेश हो जाते हैं। पक्ष में षष्ठी तत्पुरुष समास होता है। पारे गङ्गाद् आनय—गङ्गा के पार से लाओ। गङ्गापारात्—गङ्गा के पार से। मध्येगङ्गात्, गङ्गामध्यात्—गंगा के मध्य से। महाविभाषा से एकार्थीभाव की अविवक्षा में वाक्य भी रहेगा—गंगायाः पारात्—गंगा के पार से। गंगायाः मध्यात्—गङ्गा के मध्य से।

व्याख्या—प्रश्न—प्रस्तुत प्रकरण में 'विभाषा'[६६५] (२.१.११) का अधिकार है। अर्थात् जहां अव्ययीभाव में समस्त पद पारेगङ्गात् होता है वहां 'विभाषा' से वैकल्पिक समासाभाव में गङ्गायाः पारात् वाक्य भी होता है। तब 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा'[६७२] (२.१.१८) इस सूत्रस्थ 'वा' पद से पुनः विकल्प क्यों ?

उत्तर—'पारे मध्ये०'[६७२] (२.१.१८) में 'वा' ग्रहण व्यर्थ नहीं है। क्योंकि 'विभाषा' से विकल्प होने पर गङ्गायाः पारात् इस असमस्त प्रयोग के साथ-साथ 'पारेगङ्गात्' अव्ययीभाव होता है, तत्पुरुष नहीं होता। 'पारे मध्ये०'[६७२] (२.१.१८) से विकल्प होने पर पारेगङ्गात्—इस अव्ययीभाव के साथ-साथ गङ्गापारात्—तत्पुरुष भी होता है। दोनों विकल्पों के क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं। 'पारे मध्ये०'[६७२] (२.१.१८) में 'वा' ग्रहण से पारेगङ्गात् और गङ्गापारात् क्रमशः अव्ययीभाव और तत्पुरुष के रूप बनते हैं। विभाषा के विकल्प से क्रमशः पारेगङ्गात्, गङ्गापारात् (अव्ययीभाव) (तत्पुरुष) और गङ्गायाः पारात् असमस्त वाक्य बनते हैं। ऐसे ही मध्येगङ्गात्, गङ्गामध्यात् और गङ्गाया मध्यात्।

रूपसिद्धिः—पारेगङ्गात्

लौ० वि०—गङ्गायाः पारात्

अलौ० वि०—गङ्गा ङस् पार ङसि

'पारे मध्ये०'[६७२] (२.१.१८) से पार शब्द का षष्ठ्यन्त 'गङ्गायाः' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस् और ङसि प्रत्यय) का लोप (गङ्गापार)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से पार की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'पार' का पूर्व प्रयोग (पार गङ्गा)। 'पारे मध्ये०'[६७२] (२.१.१८) से पार को एदन्तत्व निपातन (पारेगङ्गा)। 'अव्ययीभावश्च'[६५९] (२.४.१८) से नपुंसक। 'ह्रस्वो नपुंसके०'[३१८] (१.२.४७) से गङ्गा के 'आ' को ह्रस्व (पारेगङ्ग)। 'एकदेशविकृत-मनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२)से पञ्चमी एकवचन में ङसि प्रत्यय (पारे गङ्गा ङसि)। 'टाङसि०'[२०१] (७.१.१२) से ङसि को आत्(पारे गङ्गा आत्)। 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ होकर पारेगङ्गात्।

गङ्गायाः पारात्—यह असमस्त प्रयोग है।

मध्यगङ्गात्

लौ० वि०—गङ्गायाः मध्यात्

अलौ० वि०—गङ्गा ङस् मध्य ङसि

'पारे मध्ये०'[६७२] (२.१.१८) से मध्य शब्द का षष्ठ्यन्त 'गङ्गायाः' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस् और ङसि प्रत्ययों) का लोप (गङ्गा मध्य)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से मध्य की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'मध्य' का पूर्व प्रयोग (मध्य गङ्गा)। 'पारे मध्ये०'[६७२] (२.१.१८) से मध्य को एदन्तत्व निपातन (मध्ये गङ्गा)। शेषं पूर्ववत्। (मध्ये गङ्ग, मध्ये गङ्ग ङसि, मध्ये गङ्ग आत्) मध्येगङ्गात्

गङ्गाया मध्यात्—यह असमस्त प्रयोग है।

६७३. संख्या वंश्येन (२.१.१९)

वंशो द्विधा विद्यया जन्मना च, तत्र भवो वंश्यः, तद्वाचिना सह संख्या वा समस्यते। द्वौ मुनी वंश्यौ द्विमुनि व्याकरणस्य। त्रिमुनि। विद्यातद्वतामभेदविवक्षायां त्रिमुनि व्याकरणम्। एकविंशतिभारद्वाजम्।

अनु०—वंश दो प्रकार का होता है—विद्या से और जन्म से। वंश में होने वाला वंश्य (वंशज)। वंश्यवाची सुबन्त के साथ संख्यावाची सुबन्त का विकल्प से समास होता है। द्विमुनि (व्याकरणस्य) —व्याकरण के दो मुनि (पाणिनि और कात्यायन प्रवर्तक हैं); त्रिमुनि (व्याकरणस्य)—व्याकरण के तीन मुनि (पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि प्रवर्तक हैं)। विद्या (व्याकरण) और विद्यावान् (वैयाकरण) का

परस्पर अभेद विवक्षित होने पर त्रिमुनि ही व्याकरण हैं। एकविंशति भारद्वाजम्—इक्कीस भरद्वाजवंशीय।

व्याख्या—द्विमुनि, त्रिमुनि में समानाधिकरण में 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्'[३१६] (२.१.५७) से विशेष्य-विशेषण कर्मधारय समास प्राप्त था उसे बाधित करके 'संख्या वंश्येन'[६७१] (२.१.१९) से अव्ययीभाव समास हुआ है।

'द्वौ मुनी वंश्यौ यस्य, त्रयो मुनयो वंश्या यस्य' ऐसा विग्रह करने पर अन्य पदार्थ प्रधान बहुव्रीहि समास होकर द्विमुनि, त्रिमुनि हो सकता था तो भी यहां बहुव्रीहि समास को बाधित करके अव्ययीभाव समास हुआ है।

विद्येति। विद्या और विद्यावान् में अभेद विवक्षित होने पर ही त्रिमुनि को व्याकरण कहा है। व्याकरण के त्रिमुनि हैं—पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि। पाणिनि ही व्याकरण है, कात्यायन ही व्याकरण है, पतञ्जलि ही व्याकरण है इस प्रकार विद्या (व्याकरण) और विद्यावान् (वैयाकरण) की अभेद विवक्षा में 'त्रिमुनि' समास हुआ है। 'संख्या वंश्येन'[६७१] (२.१.१९)—इस सूत्र से समानाधिकरण में ही समास होता है। जब हम 'त्रिमुनि व्याकरणम्' कहते हैं तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि—ये तीनों व्याकरण हैं।

रूपसिद्धिः—द्विमुनि

लौ० वि०—द्वौ मुनी (वंश्यौ)

अलौ० वि०—द्वि औ मुनि औ

'संख्या वंश्येन'[६७१] (२.१.१९) से संख्यावाची 'द्वि' शब्द का वंश्यवाची 'मुनि' शब्द के साथ समास)। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों 'औ' प्रत्ययों) का लोप (द्विमुनि)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'द्वि' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'द्वि' का पूर्व प्रयोग (द्वि मुनि)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (द्विमुनि सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप होकर द्विमुनि।

त्रिमुनि—

लौ० वि०—त्रयो मुनयः (वंश्याः)

अलौ० वि०— त्रि जस् मुनि जस्

'संख्या वंश्येन'[६७१] (२.१.१९) से संख्यावाची 'त्रि' का वंश्यवाची 'मुनि' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों जस् प्रत्ययों) का लोप (त्रिमुनि)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'त्रि' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (.२.२.३०) से 'त्रि' का पूर्व प्रयोग (त्रिमुनि)। शेषं पूर्ववत् (त्रिमुनि सु) त्रिमुनि।

एकविंशतिभारद्वाजम्

लौ० वि०—एकविंशतिः भारद्वाजाः (भरद्वाजवंश्याः)

अलौ० वि०—एकविंशति जस् भारद्वाज जस्

यहां कर्मधारय समास को बाधित करके 'संख्या वंश्येन'[६७३] (२.१.१९) से संख्यावाची 'एकविंशति' का वंश्यवाची 'भारद्वाज' के साथ अव्ययीभाव समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों जस् प्रत्ययों) का लोप (एकविंशति भारद्वाज)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'एकविंशति' की उपसर्जनसंज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'एकविंशति' का पूर्व प्रयोग (एकविंशति भारद्वाज)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (एकविंशतिभारद्वाज सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादा०'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप प्राप्त था किन्तु 'नाव्ययीभावा०'[६५७] (२.४.८३) से सु को अम् (एकविंशतिभारद्वाज अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप होकर एकविंशतिभारद्वाजम्।

६७४. नदीभिश्च (२.१.२०)

नदीभिः सह संख्या प्राग्वत्। 'समाहारे चायमिष्यते' (वा० १२४६)। सप्तगङ्गम्। द्वियमुनम्।

अनु०—नदी वाचक सुबन्त के साथ संख्यावाची सुबन्त का समास होता है। यह समास समाहार में होता है। सप्तगङ्गम्—सात गंगाओं का संगम। द्वियमुनम्—दो यमुनाओं का संगम।

व्याख्या—इस सूत्र में 'संख्या वंश्येन'[६७३] (२.१.१९) सूत्र से 'संख्या' पद की अनुवृत्ति हुई है। 'संख्या' प्रथमान्त पद है। अतः 'नदीभिश्च'[६७४] (२.१.२०) सूत्र से समस्यमान पदों में से संख्यावाची पद का 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से पूर्व प्रयोग होता है।

रूपसिद्धिः—सप्तगङ्गम्

लौ० वि०—सप्तानां गङ्गानां समाहारः

अलौ० वि०—सप्तन् आम् गङ्गा आम्

"तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च'[७२८] (२.१.५१) सूत्र से समाहार अर्थ में संख्यावाची 'सप्तन्' का 'गङ्गा' शब्द के साथ द्विगु समास प्राप्त था उसे बाधित करके 'नदीभिश्च'[६७४] (२.१.२०) सूत्र पर 'समाहारे चायमिष्यते' (वा०१२४६) से अव्ययीभाव समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों आम् प्रत्ययों) का लोप (सप्तन् गङ्गा)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'सप्तन्' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'सप्तन्' का पूर्व प्रयोग (सप्तन् गङ्गा)। 'नलोपः प्राति०'[२३६] (८.२.७) से सप्तन् के 'न्' का लोप (सप्त गङ्गा)। 'अव्ययीभावश्च'[६५९] (२.४.१८) से नपुंसक संज्ञा। 'ह्रस्वो

नपुंसके०'[३१८] (१.२.४७) से 'गङ्गा' के 'आ' को ह्रस्व (सप्तगङ्ग)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (सप्तगङ्ग सु)।' 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादा०'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप प्राप्त था किन्तु 'नाव्ययीभावा०'[६५७] (२.४.८३) से सु को अम् (सप्त गङ्ग अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप होकर सप्तगङ्गम्।

द्वियमुनम्

लौ० वि०—द्वयोर्यमुनयोः समाहारः

अलौ० वि०—द्वि ओस् यमुना ओस्

'तद्धितार्थोत्तरपद०'[७२८] (२.१.५१) से समाहार अर्थ में संख्यावाचक 'द्वि' का 'यमुना' शब्द के साथ द्विगु समास प्राप्त हुआ। उसे बाधित करके 'समाहारे चायमिष्यते' (वा० २२४६) के बल पर 'नदीभिश्च'[६७४] (२.१.२०) से अव्ययीभाव समास। 'कृत्तद्धित०'[७७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों ओस् प्रत्ययों) का लोप (द्वि यमुना)। प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'द्वि' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'द्वि' का पूर्व प्रयोग (द्वि यमुना)। 'अव्ययीभावश्च'[६५९] (२.४.१८) से नपुंसक संज्ञा। 'ह्रस्वो नपुंसके०'[३१८] (१.२.४७) से यमुना के 'आ' को ह्रस्व। (द्वि यमुना)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (द्वि यमुन सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्ययसंज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु का लोप प्राप्त था किन्तु 'नाव्ययीभावा०'[६५७] (२.४.८३) से सु को अम् (द्वि यमुन अम्) 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से 'अम्' के 'अ' को पूर्वरूप होकर द्वियमुनम्।

६७५. अन्यपदार्थे च संज्ञायाम् (२.१.२१)

अन्यपदार्थे विद्यमानं सुबन्तं नदीभिः सह नित्यं समस्यते संज्ञायाम्। विभाषाधिकारेऽपि वाक्येन संज्ञानवगमादिह नित्यसमासः। उन्मत्तगङ्गं नाम देशः। लोहितगङ्गम्।

अनु०—अन्य पद के अर्थ में विद्यमान सुबन्त का नदी वाची सुबन्त के साथ नित्य समास होता है यदि वह समस्त पद किसी संज्ञा का बोधक हो। यद्यपि "विभाषा" का अधिकार होने के कारण पक्ष में वाक्य होना था तो भी वाक्य से संज्ञा का बोध नहीं होता अतः यहां नित्य समास है। उन्मत्तगङ्गम्—किसी देश का नाम है। (इसी प्रकार) लोहितगङ्गम्।

व्याख्या—'अन्यपदार्थे च संज्ञायाम्'[६७५] (२.१.२१) सूत्र विभाषा के अधिकार में आता है। इस सूत्र से समास किये गये सुबन्त का पक्ष में विग्रह वाक्य भी होना चाहिए। किन्तु होता नहीं। क्योंकि समस्त पद संज्ञा का बोधक है। यदि हम उसे वाक्य में विगृहीत करते हैं तो वह संज्ञा बोधक नहीं रह जाता। अतः इष्ट-सिद्धि के लिए हम इस सूत्र से विहित समास को नित्य मानते हैं।

रूपसिद्धिः——उन्मत्तगङ्गम्

लौ० वि० ——उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन्

अलौ० वि०——उन्मत्ता सु गङ्गा सु

'अन्यपदार्थे०'[६७५] (२.१.२१) से बहुव्रीहि के अर्थ में समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (उन्मत्ता गङ्गा) । 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) से उन्मत्ता को पुंवद्भाव (उन्मत्त गङ्गा) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से उन्मत्त की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४](२.२.३०) से 'उन्मत्त' का पूर्व प्रयोग (उन्मत्त गङ्गा) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (उन्मत्त गङ्गा सु) । 'अव्ययीभावश्च'[६५९] (२.४.१८) से नपुंसक संज्ञा । 'ह्रस्वो नपुंसके०'[३१८] (१.२.४७) से गङ्गा के 'आ' को ह्रस्व (उन्मत्त गङ्ग सु) 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्ययसंज्ञा । । 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप प्राप्त था किन्तु 'नाव्ययीभावा०'[६५७] (२.४.८३) से सु को अम् (उन्मत्तगङ्ग अम्) । 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप होकर उन्मत्तगङ्गम् ।

लोहितगङ्गम्

लौ० वि०——लोहिता गङ्गा यस्मिन्

अलौ० वि०——लोहिता सु गङ्गा सु

'अन्यपदार्थे'[६७५] (२.१.२१) से बहुव्रीहि के अर्थ में समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (लोहिता गङ्गा) । 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) से लोहिता को पुंवद्भाव' (लोहित गङ्गा) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'लोहित' की उपसर्जनसंज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'लोहित' का पूर्व प्रयोग । लोहित गङ्गा। 'एकदेशविकृतमनन्यवत् इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्'[१८३] (४.१.२) से सु (लोहित गङ्गा सु,) 'अव्ययीभावश्च'[६५९] (२.४.१८) से नपुंसक संज्ञा। 'ह्रस्वो नपुंसके०'[३१८] (१.२.४७) से 'गङ्गा' के आ को ह्रस्व (लोहित गङ्ग सु) । शेषं पूर्ववत् । (लोहित गङ्ग अम्—लोहितगङ्गम् ।

६७६. समासान्ताः (५.४.६८)

इत्यधिकृत्य ।

अनु०——इस सूत्र का अधिकार करके —

व्या०——अष्टाध्यायी के पांचवें अध्याय, चतुर्थ पाद के इस सूत्र से इसी अध्याय के चतुर्थ पाद के अन्त तक 'समासान्ताः'[६७६] (५.४.६८) इस सूत्र का अधिकार है।

६७७. अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः (५.४.१०७)

शरदादिभ्यश्चच्स्यात्समासान्तोऽव्ययीभावे । शरदः समीपमुपशरदम् । प्रतिविपाशम् । शरद्,विपाश्, अनस्, मनस्,उपानह्, दिव्, हिमवत्, अनड्वह्, दिश्, दृश्, विश्, चेतस्,

चतुर्, त्यद्, तद्, यद्, कियत्, 'जरायाः जरस् च' (ग० १४७)। उपजरसम्। 'प्रति-परसमनुभ्योऽक्ष्णः' (ग० १४८)। 'यस्येति च' (सू० ३११)। प्रत्यक्षम्। 'अक्ष्णः परम्' इति विग्रहे समासान्तविधानसामर्थ्यादव्ययीभावः। 'परोक्षे लिट्' (सू०२१७१) इति निपातनात्परस्यौकारादेशः–परोक्षम्। 'परोक्षा क्रिया' इत्यादि तु अर्शआद्यच्। समक्षम्। अन्वक्षम्।

अनु०—अव्ययीभाव समास में शरद् आदि से टच् (अ) समासान्त होता है। उपशरदम्—शरद् के समीप। प्रतिविपाशम्—व्यास नदी के समीप। शरत्प्रभृति से शरदादि गण का बोध होता है जिसमें शरद्, विपाश्, अनस्, मनस्, उपानह्, दिव्, हिमवत्, अनड्वह्, दिश्, दृश्, विश्, चेतस्, चतुर्, त्यद्, तद्, यद्, कियत्—शब्द आते हैं। समास में जरा शब्द को जरस् आदेश और समासान्त टच् होता है। उपजरसम्—वृद्धावस्था के समीप। प्रति, पर, सम्, अनु—इन अव्ययों के परे अक्षि शब्द से टच् प्रत्यय होता है। प्रत्यक्षम्—आंखों के सामने। 'अक्ष्णः परम्' इस विग्रह में समासान्त (टच् प्रत्यय की) विधि के सामर्थ्य से अव्ययीभाव समास हुआ है। 'परोक्षे लिट्' इस सूत्र में निपातन से पर को ओकारादेश होकर परोक्षम्। 'परोक्षा क्रिया' इत्यादि वाक्यों में 'अर्शआदि-भ्योऽच्' से अच् होता है। समक्षम्—आंखों के सामने। अन्वक्षम्—आंखों के पीछे।

व्या०—अक्ष्णः परमिति। 'अक्ष्णः परम्' इस विग्रह में अव्यय न होने के कारण अव्ययीभाव समास नहीं हो सकता। किन्तु 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः'[६७७] (५.४.१०७) से शरदादिगण पठित 'पर' से अव्ययीभाव में समासान्त टच् का विधान मिलता है। इसी सामर्थ्य से अव्ययीभाव समास करने में कोई आपत्ति नहीं रहती।

रूपसिद्धिः—उपशरदम्

लौ० वि०—शरदः समीपम्

अलौ० वि०—शरद् ङस् उप

'अव्ययं विभक्ति'[६५२] (२.१.६) से सामीप्य अर्थ में वर्तमान 'उप' अव्यय का 'शरदः' सुबन्त के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (शरद् उप)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'उप' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'उप' का पूर्व प्रयोग (उप शरद्)। 'अव्ययीभावे०'[६७७] (५.४.१०७) से समासान्त टच् (अ) (उपशरद् अ)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (उपशरद् अ सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप प्राप्त था किन्तु 'नाव्ययीभावा०'[६५७] (२.४.८३) से सु को अम्। (उपशरद् अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप होकर उपशरदम्।

यहां 'उपशरद्' इस स्थिति में 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' से टि लोप नहीं होता क्योंकि उपशरद् से जब तक समासान्त टच् न हो तब तक 'उपशरद्' की अव्ययीभाव संज्ञा नहीं होती और वह 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय नहीं बनता। अव्यय

न होने पर 'अव्ययानां-'—से टि लोप प्राप्त ही नहीं।

प्रतिविपाशम्

लौ० वि०—विपाशः अभिमुखम्

अलौ० वि०—विपाश् ङस् प्रति

'लक्षणेनाभिप्रती०'[६६८] (२.१.१४)से सम्मुखता के अर्थ में 'प्रति' का सुबन्त 'विपाशः' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (विपाश् प्रति)। 'प्रथमानिर्दिष्टं'[६५३] (१.२.४३) से प्रति की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से प्रति का पूर्व प्रयोग (प्रति विपाश्)। 'अव्ययीभावे०'[६७७] (५.४.१०७) से समासान्त टच् (अ) (प्रतिविपाश् अ) शेषं पूर्ववत्। (प्रतिविपाश् अ सु, प्रतिविपाश् अम्) प्रतिविपाशम्।

उपजरसम्

लौ० वि०—जरायाः समीपम्

अलौ० वि०—जरा ङस् उप

'अव्ययं विभक्ति'[६५२] (२.१.६) से सामीप्य अर्थ में वर्तमान अव्यय 'उप' का 'जरायाः' सुबन्त के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (जरा उप)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'उप' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'उप' का पूर्व प्रयोग ('उप जरा')। 'अव्ययीभावे०'[६७७] (५.४.१०७) से समासान्त टच् (अ) (उप जरा अ)। 'जराया जरस् च' (ग०सू० १४८) से जरा को जरस् आदेश (उपजरस्)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (उप जरस् सु)। शेषं पूर्ववत्। (उपजरस् अम्)

प्रत्यक्षम्

लौ० वि०—अक्षिणी प्रति

अलौ० वि०—अक्षि औ प्रति

'लक्षणेनाभिप्रती०'[६६८] (२.१.१४) से सम्मुखता अर्थ के वाचक 'प्रति' का 'अक्षि' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (औ) का लोप (अक्षि प्रति)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'प्रति' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'प्रति' का पूर्व प्रयोग (प्रति अक्षि)। 'अव्ययीभावे०'[६७७] (५.४.१०७) सूत्र पर पठित 'प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः' (ग०सू० १४८) से समासान्त टच् (अ) (प्रति अक्षि अ)।

'इको यणचि'[४७] (६.१.७७)से 'इ्' को 'य्' (प्रत्य् अक्षि अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'अक्षि' के इकार का लोप (प्रत्यक्ष् अ)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (प्रत्यक्ष सु)। शेषं पूर्ववत्। (प्रत्यक्ष अम्) प्रत्यक्षम्।

परोक्षम्

लौ० वि०—अक्ष्णः परम्

अलौ० वि०—अक्षि ङस् पर

यहां अव्यय न होने के कारण अव्ययीभाव नहीं हो सकता। तो भी 'अव्ययीभावे०'[६७७] (५.४.१०७) से शरदादि गण पठित 'पर' से अव्ययीभाव में समासान्त टच् का विधान मिलता है। इसी सामर्थ्य से अव्यय-भिन्न 'पर' का सुबन्त 'अक्षि' के साथ 'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (अक्षि पर)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'पर' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'पर' का पूर्व प्रयोग (पर अक्षि)। 'अव्ययीभावे०'[६७७] (५.४.१०७) सूत्र पर पठित 'प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः' (ग०सू० १४८) से समासान्त टच् (अ)। (पर अक्षि अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'अक्षि' के 'इ' का लोप। (पर अक्ष् अ)। 'परोक्षे लिट्'[२१७१] (३.२.११५) इस सूत्र में पाणिनि ने 'परोक्ष' का प्रयोग किया है इस ज्ञापक से 'पर' के अन्त्य 'अ' को 'ओ' आदेश (पर् ओ अक्ष् अ)। 'एङः पदान्तादति'[८९] (६.१.१०९) से पूर्वरूप (परोक्ष)। 'एकदेश-विकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (परोक्ष सु)। शेषं पूर्ववत्। (परोक्ष अम् परोक्षम्।

वस्तुतः शरदादि गण में 'पर' पाठ व्यर्थ है क्योंकि 'परोक्षे लिट्'[२१७१] (३.२.११५) में पठित परोक्ष शब्द से न केवल 'पर' शब्द को ओकारान्तादेश किन्तु 'पर अक्षि' से टच् का विधान भी निपातित हो सकता है। द्रष्टव्य 'परोक्षे लिट्'[२१७१] (३.२.११५) पर पातञ्जल-भाष्य।

परोक्षा—(परोक्ष की सिद्धि के लिए उपरि द्रष्टव्य)।

परोक्ष से 'अर्शआदिभ्योऽच्'[११३३] (५.२.१२७) से मत्वर्थीय अच् (परोक्ष)। (अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से परोक्ष के अन्त्य 'अ' का लोप (परोक्ष् अ)। 'अजाद्यतष्टाप्'[४५४] (४.१.४) से टाप् (परोक्ष टाप् (आ)। 'अकः सवर्णे दीर्घः'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (परोक्षा)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (परोक्षा सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु का लोप होकर परोक्षा।

समक्षम्

लौ० वि०—अक्ष्णोः योग्यम्

अलौ० वि०—अक्षि ओस् सम्

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से 'यथा' के योग्यता अर्थ में अव्यय 'सम्' का सुबन्त 'अक्षि' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ओस्) का लोप (अक्षि सम्)। 'प्रथमानिर्दिष्टं'[६५३] (१.२.४३) से 'सम्' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'सम्' का पूर्व प्रयोग (सम् अक्षि)। 'अव्ययीभावे०'[६७७] (५.४.१०७) सूत्र पर पठित 'प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः' (ग०सू० १४८) से टच् (अ) (सम् अक्षि अ)। 'यस्येति च'[३११]

(६.४.१४८) से अक्षि के 'इ' का लोप (सम् अक्ष् अ)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (समक्ष सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप प्राप्त था किन्तु 'नाव्ययीभावा०'[६५७] (२.४.८३) से सु को अम् (समक्ष अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप होकर समक्षम्।

अन्वक्षम्

लौ० वि०—अक्ष्णः पश्चात्

अलौ० वि०—अक्षि ङस् अनु

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से पश्चात् अर्थ में 'अनु' अव्यय का सुबन्त 'अक्षि' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (अक्षि अनु)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'अनु' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'अनु' का पूर्व प्रयोग (अनु अक्षि)। 'इको यणचि'[४७] (६.१.७७) से 'उ' को 'व्'। (अन् व् अक्षि)। 'अव्ययीभावे'[६७७] (५.४.१०७) सूत्र पर पठित 'प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः' (ग०सू० १४८) से टच् (अ) (अन्व् अक्षि अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से अक्षि के इकार का लोप (अन्वक्ष् अ)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (अन्वक्ष सु)। शेषं पूर्ववत्। (अन्वक्ष अम्) अन्वक्षम्।

६७८. अनश्च (५.४.१०८)

अन्तन्तादव्ययीभावाट्टच्स्यात्।

अनु०—अन् अन्त वाले अव्ययीभाव समास से टच् प्रत्यय समासान्त होता है।

६७९. नस्तद्धिते (६.४.१४४)

नान्तस्य भस्य टेर्लोपः स्यात्तद्धिते। उपराजम्। अध्यात्मम्।

अनु०—तद्धित प्रत्यय परे रहते भसंज्ञक नान्त अंग की 'टि' का लोप होता है। उपराजम्—राजा के समीप। अध्यात्मम्—आत्मा के विषय में

व्याख्या—यह सूत्र भसंज्ञक, 'न्' अन्त वाले अंग की 'टि' का लोप करता है। 'भ' संज्ञा करने वाला सूत्र है—'यचि भम्'[२३१] (१.४.१८)। सर्वनाम स्थान संज्ञक प्रत्ययों को छोड़कर सु से लेकर कप् प्रत्यय पर्यन्त यकारादि और अजादि प्रत्यय परे रहते पूर्व की 'भ' संज्ञा होती है। जैसे—उपराजन् से समासान्त टच् (अ) प्रत्यय करने पर 'उपराजन्' की भसंज्ञा होती है क्योंकि अजादि (टच्=अ) प्रत्यय परे है।

'टि' संज्ञा करने वाला सूत्र है—'अचोऽन्त्यादि टि'[७९] (१.१.६४)। स्वरों के मध्य में जो अन्त्य स्वर हो, और वह जिस वर्ण के आदि में हो, 'अ' सहित उसे 'टि' कहते हैं। जैसे—उपराजन् में 'अन्' टि है।

इस प्रकार 'राजन्' शब्द नान्त है और अजादि (टच्) प्रत्यय परे रहते भसंज्ञक भी है अतः प्रकृत सूत्र से इसकी 'टि' का लोप हो जाता है।

रूपसिद्धिः—उपराजम्

लौ० वि०—राज्ञः समीपम्

अलौ० वि०—राजन् ङस् उप

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से सामीप्य अर्थ में वर्तमान अव्यय 'उप' का सुबन्त 'राजन्' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (राजन् उप)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'उप' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'उप' का पूर्व प्रयोग (उप राजन्)। 'अनश्च'[६७८] (५.४.१०८) से टच् (अ) (उप राजन् अ)। 'नस्तद्धिते'[६७९] (६.४.१४४) से राजन् की टि (अन्) का लोप (उप राज् अ)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (उप राज् सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप प्राप्त था किन्तु 'नाव्ययीभावा०'[६५७] (२.४.८३) से सु को अम् (उपराज अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप होकर उपराजम्।

अध्यात्मम्

लौ० वि०—आत्मनि अधि

अलौ० वि०—आत्मन् ङि अधि

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से विभक्ति के अर्थ में वर्तमान अव्यय 'अधि' का सुबन्त 'आत्मन्' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङि) का लोप (आत्मन् अधि)। 'प्रथमानिर्दिष्टं'[६५३] (१.२.४३) से 'अधि' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'अधि' का पूर्व प्रयोग (अधि आत्मन्)। 'अनश्च'[६७८] (५.४.१०८) से टच् (अ) (अधि आत्मन् अ)। 'नस्तद्धिते'[६७५] (६.४.१४४) से आत्मन् की टि (अन्) का लोप। (अधि आत्म् अ) 'इको यणचि'[४७] (६.१.७७) से 'इ' को 'य्' (अध्य् आत्म)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (अध्यात्म सु)। शेषं पूर्ववत् (अध्यात्म अम् अध्यात्मम्।

६८०. नपुंसकादन्यतरस्याम् (५.४.१०९)

अन्नन्तं यत्क्लीबं तदन्तादव्ययीभावाट्टच्वा स्यात्। उपचर्मम्, उपचर्म।

अनु०—अन्नन्त जो नपुंसक लिङ्ग तदन्त अव्ययीभाव से टच् समासान्त विकल्प से होता है। उपचर्मम्, उपचर्म—चमड़े के समीप।

रूपसिद्धिः—उपचर्मम्

लौ० वि०—चर्मणः समीपम्

अलौ० वि०—चर्मन् ङस् उप

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से विभक्ति के अर्थ में वर्तमान अव्यय 'उप' का

सुबन्त 'चर्मन्' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (चर्मन् उप)। 'प्रथमानिर्दिष्टं'[६५३] (१.२.४३) से 'उप' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'उप' का पूर्व प्रयोग (उप चर्मन्)। 'नपुंसकाद०'[६८०] (५.४.१०९) से विकल्प से टच् (अ) (उपचर्मन् अ)। 'नस्तद्धिते'[६७९] (६.४.१४४) से चर्मन् की टि (अन्) का लोप (उप चर्म् अ)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (उपचर्म सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप प्राप्त था किन्तु 'नाव्ययीभावा०'[६५७](२.४.८३) से सु को अम् (उप चर्म अम्)। 'अमि पूर्वः'[११४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप होकर उपचर्मम्। टच् के अभाव में उपचर्म। 'उप चर्मन् सु' इस स्थिति में अदन्त न होने से 'नाव्ययीभावा०'[६५७] (२.४.८३) से सु को अम् नहीं हुआ। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु का लोप (उपचर्मन्)। 'नलोपः प्राति०'[२३६] (८.२.७) से 'न्' का लोप होकर उपचर्म।

६८१. नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः (५.४.११०)

वा टच्स्यात्। उपनदम्, उपनदि। उपपौर्णमासम्, उपपौर्णमासि। उपाग्रहायणम्, उपाग्रहायणि।

अनु०—नदी, पौर्णमासी, आग्रहायणी— ये जब अव्ययीभाव के अन्त में हों तो विकल्प से टच् समासान्त होता है। उपनदम्, उपनदि—नदी के समीप। उपपौर्णमासम्, उपपौर्णमासि—पूर्णिमा के समीप। उपाग्रहायणम्, उपाग्रहायणि—अगहन की पूर्णिमा के समीप।

व्याख्या—'नदीपौर्णमास्या०'[६८१] (५.४.११०)—इस सूत्र में नदी शब्द से नदीसंज्ञक शब्दों का नहीं, अपितु केवल नदी का ग्रहण होता है। यदि सूत्रकार को 'नदी' शब्द से नदीसंज्ञक शब्दों का ग्रहण इष्ट होता तो वह 'नदीपौर्णमास्या०'[६८१] (५.४.११०) इस सूत्र में पौर्णमासी और आग्रहायणी शब्दों को न रखता क्योंकि ये दोनों शब्द नदीसंज्ञक हैं। अतः उक्त सूत्र में 'नदी' से नदीसंज्ञक शब्दों का नहीं अपितु नदी शब्द का ही ग्रहण करना चाहिए।

रूपसिद्धिः—टच् पक्ष में—उपनदम्

लौ० वि०—नद्याः समीपम्

अलौ० वि०—नदी ङस् उप

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से सामीप्य अर्थ में वर्तमान 'उप' अव्यय का सुबन्त 'नदी' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (नदी उप)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से उप की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'उप' का पूर्व प्रयोग (उप नदी)। 'नदीपौर्णमास्या'०[६८१] (५.४.११०) से समासान्त टच् (अ) (उप नदी(अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से नदी के 'ई' का लोप (उप नद् अ)।

'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (उपनद सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप प्राप्त था किन्तु 'नाव्ययीभावा०'[६५७] (२.४.८३) से सु को अम् (उपनद अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप होकर उपनदम्।

टच् अभाव में—**उपनदि**

लौ० वि०—नद्याः समीपम्

अलौ० वि०—नदी ङस् उप

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से सामीप्य अर्थ में वर्तमान अव्यय 'उप' का सुबन्त 'नदी' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से (ङस्) का लोप (नदी उप)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'उप' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'उप' का पूर्व प्रयोग (उप नदी)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (उप नदी सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (२.४.१८) से नपुंसक संज्ञा। 'ह्रस्वो नपुंसके०'[३१८] (१.२.४७) से नदी के ईकार को ह्रस्व (उप नदि सु)। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप होकर उपनदि।

उपपौर्णमासम्—टच् पक्ष में

लौ० वि०—पौर्णमास्याः समीपम्

अलौ० वि०—पौर्णमासी ङस् उप

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से समीप अर्थ में वर्तमान 'उप' अव्यय का सुबन्त 'पौर्णमासी' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (पौर्णमासी उप)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'उप' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'उप' का पूर्व प्रयोग (उप पौर्णमासी)। 'नदीपौर्णमास्या०'[६८१] (५.४.११०) से समासान्त टच् (अ) (उपपौर्णमासी (अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से पौर्णमासी के अन्त्य 'ई' का लोप (उपपौर्णमास् अ)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (उपपौर्णमास सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप प्राप्त था किन्तु 'नाव्ययीभावा०'[६५७] (२.४.८३) से सु को अम् (उपपौर्णमास अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप होकर उपपौर्णमासम्।

टच् अभाव में—**उपपौर्णमासि**

लौ० वि०—पौर्णमास्याः समीपम्

अलौ० वि०—पौर्णमासी ङस् उप

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से समीप अर्थ में वर्तमान अव्यय 'उप' का सुबन्त 'पौर्णमासी' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो

धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (पौर्णमासी उप)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'उप' की उपसर्जनसंज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'उप' का पूर्व प्रयोग (उप पौर्णमासी)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (उप पौर्णमासी सु)। 'अव्ययीभावश्च'[६५९] (२.४.१८) से नपुंसक संज्ञा। 'ह्रस्वो नपुंसके०'[३१८] (१.२.४७) से पौर्णमासी के 'ई' को ह्रस्व (उपपौर्णमासि सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप होकर उपपौर्णमासि।

उपाग्रहायणम्—टच् पक्ष में

लौ० वि०—आग्रहायण्याः समीपम्

अलौ० वि०—आग्रहायणी ङस् उप

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से समीप अर्थ में वर्तमान अव्यय 'उप' का सुबन्त 'आग्रहायणी' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (आग्रहायणी उप)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'उप' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'उप' का पूर्व प्रयोग (उप आग्रहायणी)। 'अकः सवर्णे दीर्घः'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (उपाग्रहायणी)। 'नदीपौर्णमास्या०'[६८१] (५.४.११०) से समासान्त टच् (अ) (उपाग्रहायणी टच्) (अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से ईकार लोप (उपाग्रहायण् अ)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (उपाग्रहायण सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप प्राप्त था। किन्तु 'नाव्ययीभावा०'[६५७] (२.४.८३) से सु को अम् (उपाग्रहायण अम्) 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप होकर आग्रहायणम्।

टच् अभाव में—उपाग्रहायणि

लौ० वि०—आग्रहायण्याः समीपम्

अलौ० वि०—आग्रहायणी ङस् उप

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से समीप अर्थ में वर्तमान अव्यय 'उप' का सुबन्त 'आग्रहायणी' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (आग्रहायणी उप)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'उप' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'उप' का पूर्व प्रयोग (उप आग्रहायणी)। 'अकः सवर्णे दीर्घः'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (उपाग्रहायणी)। 'स्वौजसमौट्'[१८३] (४.१.२) से सु (उपाग्रहायणी सु)। 'अव्ययीभावश्च'[६५९] (२.४.१८) से नपुंसक संज्ञा। 'ह्रस्वो नपुंसके०'[३१८] (१.२.४७) से ईकार को ह्रस्व (उपाग्रहायणि सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप होकर उपग्रहायणि।

६८२. झयः (५.४.१११)

झयन्तादव्ययीभावाट्टज्वा स्यात्। उपसमिधम्, उपसमित्।

अनु०—झयन्त अव्ययीभाव से परे विकल्प से समासान्त टच् हो। उपसमिधम्, उपसमित्—समिधा के समीप।

रूपसिद्धिः—उपसमिधम्—टच् पक्ष में

लौ० वि०—समिधः समीपम्

अलौ० वि०—समिध् ङस् उप

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से समीप अर्थ में वर्तमान अव्यय 'उप' का सुबन्त 'समिध्' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (समिध् उप)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'उप' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'उप' का पूर्व प्रयोग (उप समिध्)। 'झयः'[६८२] (५.४.१११) से समासान्त टच् (अ)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा (उपसमिध् अ)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (उपसमिध सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्ययसंज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप प्राप्त था। किन्तु 'नाव्ययीभावा०'[६५७] (२.४.८३) से सु को अम् (उपसमिध अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप होकर उपसमिधम्।

टच् अभाव में—**उपसमित्**

लौ० वि०—समिधः समीपम्

अलौ० वि०—समिध् ङस् उप

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से समीप अर्थ में वर्तमान अव्यय 'उप' का सुबन्त 'समिध्' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (समिध् उप)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'उप' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'उप का पूर्व प्रयोग (उप समिध्)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (उपसमिध् सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप (उपसमिध्)। 'झलां जशोऽन्ते'[८४] (८.२.३९) से 'ध्' को 'द्' (उपसमिद्)। 'वावसाने'[२०६] (८.४.५६) से विकल्प से 'द्' को 'त्' होकर उपसमित् और उपसमिद्।

६८३. गिरेश्च सेनकस्य (५.४.११२)

गिर्यन्तादव्ययीभावाट्टज्वा स्यात्। सेनकग्रहणं पूजार्थम्। उपगिरम्, उपगिरि।

अनु०—'गिरि' अन्त वाले अव्ययीभाव से परे समासान्त टच् विकल्प से हो। सेनक ग्रहण आदरार्थ है। उपगिरम्, उपगिरि—पर्वत के समीप।

व्याख्या—सेनकग्रहणमिति । सूत्र में 'सेनक' का ग्रहण आदर के लिए किया गया है। साथ ही सेनक ग्रहण विकल्पार्थ भी है। अर्थात् आचार्य सेनक के मत में तो गिरि अन्त वाले अव्ययीभाव से परे टच् प्रत्यय होता है, अन्य आचार्यों के मत में नहीं। अतः विकल्प से टच् विधि होती है।

रूपसिद्धिः—उपगिरम्—टच् पक्ष में

लौ० वि०—गिरेः समीपम्

अलौ० वि०—गिरि ङस् उप

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से समीप अर्थ में वर्तमान अव्यय 'उप' का सुबन्त 'गिरि' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (गिरि उप)। 'प्रथमानिर्दिष्ट'[६५३] (१.२.४३) से 'उप' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'उप' का पूर्व प्रयोग (उपगिरि)। 'गिरेश्च०'[६८३] (५.४.११२) से टच् (अ)। (उप गिरि अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से गिरि के अन्त्य 'इ' का लोप (उपगिर्अ)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु। (उपगिर् सु) 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप प्राप्त था किन्तु 'नाव्ययीभावा'०[६५७] (२.४.८३) से सु को अम् (उपगिर अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप होकर उपगिरम्।

टच् अभाव में—**उपगिरि**

लौ० वि०—गिरेः समीपम्

अलौ वि०—गिरि ङस् उप

'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से समीप अर्थ में वर्तमान अव्यय 'उप' का सुबन्त 'गिरि' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप (गिरि उप)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'उप' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'उप' का पूर्व प्रयोग (उप गिरि)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (उप गिरि सु)। 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) से अव्यय संज्ञा। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप होकर उपगिरि।

तत्पुरुषसमासः

६८४. तत्पुरुषः (२.१.२२)

अधिकारोऽयम्, प्राग्बहुव्रीहेः।

अनु०—बहुव्रीहि समास के पहले तक तत्पुरुष का अधिकार है।

व्या०—'तत्पुरुषः'[६८४] (२.१.२२) से लेकर 'शेषो बहुव्रीहिः'[८२९] (२.२.२३) तक जो समास विधायक सूत्र हैं उनमें तत्पुरुष का अधिकार है अर्थात् उन सूत्रों से जो समास होता है वह तत्पुरुष कहलाता है।

६८५. द्विगुश्च (२.१.२३)

द्विगुरपि तत्पुरुषसंज्ञः स्यात्। इदं सूत्रं त्यक्तुं शक्यम्। 'सङ्ख्यापूर्वो द्विगुश्च' इति पठित्वा चकारबलेन संज्ञाद्वयसमावेशस्य सुवचत्वात्। समासान्तः प्रयोजनम्। पञ्चराजम्।

अनु०—द्विगु भी तत्पुरुष संज्ञक होता है। यह सूत्र अनावश्यक है। 'संख्यापूर्वो द्विगुः'[७३०] (२.१.५२) इस सूत्र में 'च' जोड़ देने से इस सूत्र द्वारा द्विगु और तत्पुरुष—दोनों संज्ञाओं का विधान हो जाएगा अर्थात् संख्यापूर्व समास की द्विगु एवं तत्पुरुष संज्ञा भी हो जाएगी। द्विगु की तत्पुरुष संज्ञा करने का प्रयोजन है—समासान्त 'टच्' आदि प्रत्ययों का विधान। पञ्चराजम्—पांच राजाओं का समूह।

व्याख्या—इस सूत्र में 'तत्पुरुषः'[६८४] (२.१.२२) से तत्पुरुष की अनुवृत्ति आ रही है।

भट्टोजिदीक्षित के मत में यह सूत्र अनावश्यक है। 'संख्यापूर्वो द्विगुः'[७३०] (२.१.५२) में ही 'च' जोड़ देने से द्विगु और तत्पुरुष—दोनों संज्ञाओं का समावेश हो जाएगा। 'संख्यापूर्वो द्विगुः' का अर्थ है—'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च'[७२८] (२.१.५१) इस सूत्र में प्रोक्त तीन प्रकार का संख्यापूर्व समास द्विगु संज्ञक होता है। 'संख्यापूर्वो द्विगुः' में 'च' जोड़ देने से 'संख्यापूर्वो द्विगुश्च' इस प्रकार सूत्र होगा। इस सूत्र पाठ से संख्यापूर्व द्विगु की तत्पुरुष संज्ञा हो जाएगी, पृथक् 'द्विगुश्च' सूत्र की आवश्यकता न रहेगी। द्विगु की तत्पुरुष संज्ञा करने का प्रयोजन है—टच् प्रत्यय का विधान।

रूपसिद्धिः—पञ्चराजम्

लौ० वि०—पञ्चानां राज्ञां समाहारः। अलौ० वि०—पञ्चन् आम् राजन् आम्।

यहाँ 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च'[७२८] (२.१.५१) से समाहार वाच्य होने पर संख्यावाची पञ्चन् का राजन् के साथ समास। 'द्विगुश्च'[६८५] (२.१.२३) से तत्पुरुष संज्ञा। 'कृत्तद्धित०'[२७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों आम् प्रत्ययों) का लोप (पञ्चन् राजन्)। 'नलोपः०'[२३६] (८.२.७) से पञ्चन् के न् का लोप (पञ्चराजन्)। 'राजाहःसखि०'[७८८] (५.४.९१) से टच् (अ) प्रत्यय (पञ्च राजन् टच् (अ)। 'नस्तद्धिते'[६७९] (६.४.१४४) से राजन् के अन् का लोप (पञ्च राज् अ)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु प्रत्यय (पञ्च राज सु)। 'स नपुंसकम्'[८२१] (२.४.१७) से नपुंसक संज्ञा। 'अतोऽम्'[३०९] (७.१.२४) से सु को अम् (पञ्च राज अम्)। 'अमि पूर्वः'[११४] (६.१.१०७) से 'अम्' के 'अ' को पूर्वरूप होकर पञ्चराजम्।

६८६. द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः (२.१.२४)

द्वितीयान्तं श्रितादिप्रकृतिकैः सुबन्तैः सह वा समस्यते, स तत्पुरुषः। कृष्णं श्रितः कृष्णश्रितः। दुःखमतीतो दुःखातीत इत्यादि।

अनु०—द्वितीयान्त पद का श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्त और आपन्न—

इनके सुबन्त रूपों के साथ विकल्प से समास होता है और उसकी तत्पुरुष संज्ञा होती है। कृष्णश्रितः—कृष्ण को प्राप्त। दुःखातीतः—दुःख से अतीत।

व्याख्या—सूत्र में 'द्वितीया' शब्द से द्वितीयान्त का ग्रहण करना चाहिए।

'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इस परिभाषा से श्रिता, अतीता इत्यादि स्त्रीलिङ्गवाची सुबन्तों के साथ भी द्वितीयान्त पद का समास हो सकता है। यथा कष्टं श्रिता—कष्टश्रिता।

रूपसिद्धिः—कृष्णश्रितः

लौ० वि०—कृष्णं श्रितः। अलौ० वि०—कृष्ण अम् श्रित सु।

यहां 'द्वितीया श्रितातीत०'[६८६] (२.१.२४) से द्वितीयान्त 'कृष्णम्' का 'श्रित' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] से (२.४.७१) सुप् (अम् और सु प्रत्ययों) का लोप (कृष्ण श्रित)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से कृष्ण की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'कृष्ण' शब्द का पूर्व प्रयोग (कृष्ण श्रित)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (कृष्ण श्रित सु)। 'उपदेशेऽजनु०'[३] (१.३.२) से सु के 'उ' की इत्संज्ञा। 'तस्य लोपः'[९] (१.३.९) से इत्संज्ञक 'उ' का लोप (कृष्ण श्रित स्)। 'ससजुषो०'[१६२] (८.२.६६)से स् को रु (कृष्ण श्रित रु)। 'उपदेशेऽजनु०'[३] (१.३.२) से रु के 'उ' की इत्संज्ञा। 'तस्य लोपः'[९] (१.३.९) से इत्संज्ञक 'उ' का लोप (कृष्ण श्रित र्)। 'खरवसानयो०'[७६] (८.३.१५) से र् को विसर्ग (:) होकर कृष्णश्रितः।

दुःखातीतः

लौ० वि०—दुःखम् अतीतः। अलौ० वि०—दुःख अम् अतीत सु।

यहां 'द्वितीया श्रितातीत०'[६८६] (२.१.२४) से द्वितीयान्त 'दुःखम्' का 'अतीत' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (अम् और सु प्रत्ययों) का लोप (दुःख अतीत)। 'प्रथमानिर्दिष्ट'[६५३] (१.२.४३) से 'दुःख' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'दुःख' शब्द का पूर्व प्रयोग (दुःख अतीत)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से प्रथमा एकवचन में सु प्रत्यय (दुःख अतीत सु)। 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्णदीर्घ (दुःखातीत सु)। शेषं पूर्ववत्। दुःखातीतः।

'गम्यादीनामुपसंख्यानम्' (वा १२४७) ग्रामं गमी ग्रामगमी। अन्नं बुभुक्षुः अन्नबुभुक्षुः।

अनु०—द्वितीयान्त पद का गमी आदि सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है। ग्रामगमी—गांव को जाने वाला। अन्नबुभुक्षुः—अन्न खाने की इच्छा वाला।

व्याख्या—गमी आदि से तात्पर्य आगमी, भावी, प्रस्थायी, प्रतिरोधी, प्रतियोधी, प्रतिबोधी, प्रतियायी और प्रतियोगी शब्दों से है। ये शब्द गम्यादि गण में हैं।

रूपसिद्धिः—ग्रामगमी

लौ० वि०—ग्रामं गमी । अलौ० वि०—ग्राम अम् गमिन् सु ।

यहां 'गम्यादीनामुपसंख्यानम्'—वा० (१२४७) से द्वितीयान्त 'ग्रामम्' का 'गमी' के साथ समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (अम् और सु प्रत्ययों) का लोप (ग्राम गमिन्) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'ग्राम' की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'ग्राम' का पूर्व प्रयोग (ग्रामगमिन्) । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से प्रथमा एकवचन में सु प्रत्यय (ग्रामगामिन् सु । 'सर्वनामस्थाने०'[२५०] (६.४.८) से उपधा दीर्घ (ग्राम गमीन् सु) । 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु का लोप (ग्राम गमीन्) । 'न लोपः०'[२३६] (८.२.७) से न् लोप होकर ग्रामगमी ।

६८७. स्वयं क्तेन (२.१.२५)

'द्वितीया–' (सू० ६८६) इति न संबध्यते, अयोग्यत्वात् । स्वयंकृतस्यापत्यं स्वायंकृतिः ।

अनु०—क्त प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ स्वयं का समास होता है । द्वितीया का विषय न होने से 'द्वितीया श्रितातीत०' के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है । स्वायंकृतिः—स्वयंकृत की सन्तान ।

व्याख्या—स्वयमिति । 'स्वयम्' इस अव्यय का क्तान्त पद के साथ समास होने पर 'स्वयंकृतः' प्रयोग बनता है । 'स्वयम्' का प्रयोग 'आत्मना' इस अर्थ में हुआ है । कर्तृ-शक्ति प्रधान होने के कारण यहां तृतीया का ही अर्थ उचित है । अतः 'स्वयं क्तेन'[६८७] (२.१.२५) इस सूत्र में 'द्वितीया श्रितातीत०'[६८६] (२.१.२४) से द्वितीया की अनुवृत्ति नहीं होती ।

स्वायंकृतिः । 'स्वयंकृत' समस्त पद है । इस शब्द का अपत्यार्थ में स्वायंकृतिः रूप होता है ।

रूपसिद्धिः—स्वायंकृतिः ।

लौ० वि०—स्वयंकृतस्य (अपत्यम्) । अलौ० वि०—स्वयं कृत ङस् ।

यहां 'स्वयं क्तेन'[६८७] (२.१.२५) से 'स्वयं' का 'कृत' के साथ समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस्) का लोप । (स्वयंकृत) । 'अत इञ्'[१०९५] (४.१.९५) से अपत्यार्थ में इञ् (स्वयं कृत इञ्) । 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'अ' लोप (स्वयंकृत् इञ्) । 'तद्धितेष्वचामादेः'[१०७५] (७.२.११७) से आदि वृद्धि (स्वायंकृत् इ) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्वायंकृति सु) । शेषं पूर्ववत् स्वायंकृतिः ।

६८८. खट्वा क्षेपे (२.१.२६)

खट्वाप्रकृतिकं द्वितीयान्तं क्तान्तप्रकृतिकेन सुबन्तेन समस्यते निन्दायाम् । खट्वारूढो जाल्मः । नित्यसमासोऽयम् । न हि वाक्येन निन्दाऽवगम्यते ।

निन्दाऽवगम्यते ।

अनु०—निन्दा गम्य होने पर 'खट्वा' शब्द से बना हुआ द्वितीयान्त पद (खट्वाम्) सुबन्त क्तान्त प्रातिपदिक (आरूढः) से समस्त हो जाता है। 'खट्वारूढः' का अर्थ है जाल्म=असमीक्ष्यकारी। यह नित्य समास है क्योंकि वाक्य से निन्दा गम्य नहीं होती।

व्याख्या—'खट्वारूढः'—यह नित्य ही समस्त पद रहेगा जबकि निन्दा गम्य हो। किन्तु असमस्त प्रयोग 'खट्वाम् आरूढः' 'खटिया पर बैठा हुआ' इस अर्थ को सूचित करता है, निन्दा अर्थ को नहीं।

रूपसिद्धिः—खट्वारूढः

लौ० वि०—खट्वाम् आरूढः। अलौ० वि०—खट्वा अम् आरूढ सु।

'खट्वा क्षेपे'[६८८] (२.१.२६) से द्वितीयान्त 'खट्वाम्' का सुबन्त क्तान्त प्रातिपदिक, 'आरूढः' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (अम् और सु प्रत्ययों) का लोप (खट्वा आरूढ)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'खट्वा' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'खट्वा' का पूर्व प्रयोग (खट्वा आरूढ)। 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (खट्वारूढ)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। शेषं पूर्ववत् खट्वारूढः।

६८९. सामि (२.१.२७)

सामिकृतम्।

अनु०—'सामि' शब्द का क्तान्त प्रकृतिक सुबन्त के साथ समास होता है।

व्याख्या—'सामि' अव्यय शब्द है। इसका अर्थ अर्ध—'आधा' है।

६९०. कालाः (२.१.२८)

'क्तेन' इत्येव। अनत्यन्तसंयोगार्थं वचनम्। मासप्रमितः प्रतिपच्चन्द्रः। मासं परिच्छेत्तुमारब्धवानित्यर्थः।

अनु०—कालवाची द्वितीयान्त पद का क्तप्रत्ययान्त सुबन्त के साथ समास होता है, जहां निकटतम संयोग सम्बन्ध न हो। जैसे मासप्रमितः प्रतिपच्चन्द्रः। प्रतिपद् तिथि का चन्द्रमा महीने का नियामक है।

व्याख्या—प्रतिपद् तिथि का चन्द्रमा के साथ निकटतम सम्बन्ध नहीं है 'मास' एक कालवाची शब्द है। 'प्रमितः' प्रपूर्वक 'मा' धातु से क्त प्रत्यय करने पर बना है।

रूपसिद्धिः—मासप्रमितः

लौ० वि०—मासं प्रमितः। अलौ० वि०—मास अम् प्रमित सु।

'कालाः'[६९०] (२.१.२८) से कालवाची 'मास' का सुबन्त क्तान्त प्रातिपदिक 'प्रमित' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (अम् और सु प्रत्ययों) का लोप (मास प्रमित)। 'प्रथमा-

निर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से कालवाची 'मास' की उपसर्जन संज्ञा।' उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'मास' का पूर्व प्रयोग (मासप्रमित)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिकसंज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (मास प्रमित सु)। शेषं पूर्ववत् मासप्रमितः।

६९१. अत्यन्तसंयोगे च (२.१.२९)

'कालाः' इत्येव। अक्तान्तार्थं वचनम्। मुहूर्तं सुखं मुहूर्तसुखम्।

अनु०—अत्यन्तसंयोग अर्थात् निकटतम संयोग संबंध में कालवाची द्वितीयान्त पद का सुबन्त के साथ समास होता है। इस सूत्र से विहित समास में सुबन्त पद क्तान्त नहीं होना चाहिए। मुहूर्तसुखम्—मुहूर्तव्यापि सुख।

व्याख्या—'कालाः'[६९०] (२.१.२८) और 'अत्यन्तसंयोगे च'[६९१] (२.१.२९)—ये दोनों सूत्र कालवाची शब्द का सुबन्त के साथ समास करते हैं। तो भी दोनों सूत्रों का क्षेत्र पृथक्-पृथक् है। 'कालाः'—इस सूत्र से अत्यन्त संयोग न होने पर कालवाची शब्द का क्तान्त पद के साथ समास होता है। 'अत्यन्तसंयोगे च' इस सूत्र से अत्यन्त संयोग अर्थ में कालवाची शब्द का अक्तान्त (जिसके अन्त में 'क्त' नहीं आता) पद के साथ समास होता है।

रूपसिद्धिः—मुहूर्तसुखम्

लौ० वि०—मुहूर्तं सुखम्। अलौ० वि०—मुहूर्त अम् सुख सु।

'मुहूर्त' और 'सुख' का अत्यन्त संयोग होने से 'अत्यन्तसंयोगे च'[६९१] ((२.१.२९) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (अम् और सु प्रत्ययों) का लोप (मुहूर्त सुख)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'मुहूर्त' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'मुहूर्त' का पूर्व प्रयोग (मुहूर्त सुख)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (मुहूर्त सुख सु)। 'स नपुंसकम्'[८२१] (२.४.१७) से नपुंसक संज्ञा। 'अतोऽम्'[३०९] (७.१.२४) से सु को अम् (मुहूर्त सुख अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप होकर मुहूर्तसुखम्।

६९२. तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन (२.१.३०)

'तत्कृत' इति लुप्ततृतीयाकम्। तृतीयान्तं तृतीयान्तार्थकृतगुणवचनेनार्थशब्देन च सह प्राग्वत्। शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखण्डः। धान्येनार्थो धान्यार्थः। 'तत्कृत' इति किम्? अक्ष्णा काणः।

अनु०—'तत्कृत'—यह लुप्ततृतीयान्त पद है। तृतीयान्त का तृतीयान्त के अर्थ से किये गये गुणवाचक शब्द के साथ एवं अर्थ शब्द के साथ समास होता है। शङ्कुला-खण्डः—सरौते से की गई खण्डन क्रिया वाला। धान्यार्थः—धान्य से प्रयोजन। (सूत्र में) 'तत्कृत' ऐसा क्यों कहा? अक्ष्णा काणः (आंख से अंधा) का समास न हो।

व्याख्या—'तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन'[६९२] (२.१.३०)—इस सूत्र में 'तत्कृतार्थेन' पद है। इस पद में 'तत्कृत' शब्द लुप्ततृतीयान्त है। अर्थात् 'तत्कृत' से 'तत्कृतेन' का बोध होता है। 'तत्कृतेन' का सम्बन्ध 'अर्थेन' के साथ न होकर 'गुणवचनेन' के साथ है। इस योजना में हमें सूत्र में दो वाक्य मिलते हैं—(१) तृतीया तत्कृतेन गुणवचनेन समस्यते। (२) तृतीया अर्थेन समस्यते। प्रथमवाक्य में 'तत्' शब्द से 'तृतीयान्तार्थ' का बोध होता है। इस वाक्य का अर्थ होगा—'तृतीयान्त के अर्थ से किये गये गुणवाचक शब्द के साथ तृतीयान्त का समास होता है। दूसरे वाक्य का अर्थ है—तृतीयान्त का अर्थ के साथ समास होता है। प्रथम वाक्य का उदाहरण 'शङ्कुलाखण्डः' है। दूसरे वाक्य का उदाहरण 'धान्यार्थः' है।

सूत्र में 'तत्कृत' शब्द का प्रयोग हुआ है जो तृतीयान्त होकर 'गुणवचनेन' का विशेषण बन जाता है। गुणवचन का अर्थ है—वह पद जो गुण का बोध कराकर गुणवान् द्रव्य का बोध कराता हो। गुण शब्द से यहां धर्ममात्र का ग्रहण होता है। अतएव 'शङ्कुलाखण्डः' इस उदाहरण में खण्ड शब्द के क्रियावचन होने पर भी क्षति नहीं होती। महाभाष्य में 'शङ्कुलाखण्डो देवदत्तः' यह उदाहरण दिया है। इसका अर्थ होगा—'शङ्कुला से विहित खण्डन क्रिया का कर्ता देवदत्त।' इससे स्पष्ट है कि भाष्यकार गुण शब्द से 'धर्ममात्र' अर्थ का ग्रहण करते हैं।

'तत्कृत' इति किम्। प्रश्न—'शङ्कुलया खण्डः।' यहां पर 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्'[६९४] (२.१.३२) इस सूत्र से ही समास हो जाता, 'तृतीयान्तार्थकृत—तृतीयान्तार्थ से किये हुए गुणवचन से' कहने की क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर—अक्ष्णा काण इति। 'तत्कृत' ग्रहण करने से अर्थ होगा यदि तृतीयान्त का गुणवचन से समास हो तो तृतीयान्तार्थकृत से ही हो। इस नियम से 'अक्ष्णा काणः' यहां समास नहीं होगा क्योंकि तृतीयान्त अक्ष्णा से काणत्व नहीं हुआ अर्थात् आंख द्वारा वह काना नहीं हुआ बल्कि रोगादि से आंख कानी हो गई, अतः यहां समास नहीं हुआ।

रूपसिद्धिः—शङ्कुलाखण्डः। लौ० वि०—शङ्कुलया खण्डः। अलौ० वि०—शङ्कुला टा खण्ड सु।

'तृतीया तत्कृतार्थेन०'[६९२] (२.१.३०) से तृतीयान्त 'शङ्कुला' का प्रथमान्त 'खण्ड' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (टा और सु प्रत्ययों) का लोप (शङ्कुला खण्ड)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'शङ्कुला' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'शङ्कुला' का पूर्व प्रयोग (शङ्कुला खण्ड)। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (शङ्कुलाखण्ड सु।) शेषं पूर्ववत्। शङ्कुलाखण्डः।

धान्यार्थः

लौ० वि०—धान्येन अर्थः। अलौ० वि०—धान्य टा अर्थ सु।

'तृतीया तत्कृतार्थेन०'[६९२] (२.१.३०) से तृतीयान्त 'धान्य' का प्रथमान्त 'अर्थ' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१)

से सुप् (टा और सु प्रत्ययों) का लोप (धान्य अर्थ)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'धान्य' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'धान्य' का पूर्व प्रयोग (धान्य अर्थ)। 'अकः सवर्णे०'[८१] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (धान्यार्थ)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (धान्यार्थ सु)। शेषं पूर्ववत् धान्यार्थः।

६९३. पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः (२.१.३१)

तृतीयान्तमेतैः प्राग्वत्। मासपूर्वः। मातृसदृशः। पितृसमः। ऊनार्थे—माषोनं कार्षापणम्। माषविकलम्। वाक्कलहः। आचारनिपुणः। गुडमिश्रः। आचार-श्लक्ष्णः। मिश्रग्रहणे सोपसर्गस्यापि ग्रहणम्, 'मिश्रं चानुपसर्गमसन्धौ' (सू० ३८८८) इत्यत्रानुपसर्गग्रहणात्। गुडसंमिश्रा धानाः। 'अवरस्योपसंख्यानम्' (वा० १२५६) मासेनावरो मासावरः।

अनु०—पूर्व, सदृश, सम, ऊनार्थ, कलह, निपुण मिश्र, श्लक्ष्ण—इन शब्दों से तृतीयान्त का समास होता है। मासपूर्वः—मास से पहले। मातृसदृशः—माता के समान। पितृसमः—पिता के समान। ऊन अर्थ में—एक माष परिमाण वाला कार्षापण। माषविकलम्—माष से कम। वाक्कलहः—वाणी से कलह। आचारनिपुणः—आचार से निपुण। गुडमिश्रः—गुड से मिश्रित। आचारश्लक्ष्णः—आचार से निपुण। 'मिश्र' का ग्रहण करने पर सोपसर्ग मिश्र शब्द का भी ग्रहण करना चाहिए। 'मिश्रं चानुपसर्गमसन्धौ' इस सूत्र में अनुपसर्ग का ग्रहण किया है। गुडसंमिश्रा धानाः—गुड़ से मिश्रित धान्य। सूत्र में 'अवर' शब्द का भी ग्रहण करना चाहिए। मासावरः—मास से पूर्व।

व्याख्या—मिश्रग्रहणे इति। 'पूर्वसदृश०'[६९३] (२.१.३१) इस सूत्र में 'मिश्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ होगा—मिश्र शब्द का तृतीयान्त के साथ समास होता है किन्तु यदि मिश्र शब्द उपसर्ग से युक्त हो, जैसे संमिश्र आदि, तो भी तृतीयान्त के साथ उसका समास हो जाएगा। इसमें 'मिश्रञ्चानुपसर्गमसन्धौ'[३८८८] (६.२.१५४) यह सूत्र ज्ञापक है। इस सूत्र के अनुसार तृतीया समास में उत्तरपद 'मिश्र' अन्तोदात्त होता है किन्तु यदि वह उपसर्गयुक्त हो तब वह अन्तोदात्त नहीं होता। अब यहां विचारणीय बात यह है कि यदि 'मिश्र' कहने से सोपसर्ग मिश्र का ग्रहण न होता तब 'मिश्रं—' इस सूत्र में 'अनुपसर्गं' कहना व्यर्थ हो जाता। क्योंकि 'सत्यां प्राप्तौ निषेधः' इस नियम से प्राप्ति होने पर ही निषेध होता है। प्राप्ति न होने पर निषेध व्यर्थ है। इस प्रकार मिश्र शब्द से संमिश्र आदि सोपसर्ग मिश्र को अन्तोदात्त की प्राप्ति होने पर ही उसका निषेध किया गया है।

'समासप्रत्ययविधौ तदन्तविधिर्न प्रवर्तते' इस नियम से मिश्रशब्दान्त अर्थात् सोपसर्ग मिश्र से तृतीया समास नहीं होना चाहिए था। किन्तु पाणिनि के मत में 'मिश्र' शब्द से सोपसर्ग मिश्र का भी ग्रहण हो जाता है। तभी तो पाणिनि ने, जहां 'मिश्र' से सोपसर्ग मिश्र का ग्रहण वाञ्छित नहीं, वहां 'अनुपसर्गम्' कहा है।

'अवरस्योपसंख्यानम्'—इस (वा०१२५६) में 'ऊन' अर्थ में 'अवर' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। क्योंकि 'पूर्वसदृश०'[६९३] (२.१.३१)—इस समास विधायक सूत्र में "ऊनार्थ" का ग्रहण है जिसमें ऊनार्थक अवर का भी समावेश हो जाता है। अतः "अवरस्योपसंख्यानम्" इस वार्त्तिक में ऊनार्थक 'अवर' से भिन्न अर्थ वाले 'अवर' का ही ग्रहण करना होगा। 'अवर' के कनिष्ठ, पश्चाद्वर्ती आदि कई अन्य अर्थ भी हैं।

रूपसिद्धिः—मासपूर्वः

लौ० वि०—मासेन पूर्वः। अलौ० वि०—मास टा पूर्व सु।

'पूर्वसदृश०'[६९३] (२.१.३१) से 'पूर्व' शब्द का तृतीयान्त 'मास' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (टा और सु प्रत्ययों) का लोप (मासपूर्व)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'मास' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'मास' का पूर्व प्रयोग (मास पूर्व)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (मासपूर्व सु)। शेषं पूर्ववत्। मासपूर्वः।

मातृसदृशः

लौ० वि०—मात्रा सदृशः। अलौ० वि०—मातृ टा सदृश सु।

'पूर्वसदृश०'[६९३] (२.१.३१) से 'सदृश' शब्द का तृतीयान्त 'मातृ' के साथ समास।' 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा।। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप्(टा और सु प्रत्ययों)का लोप (मातृसदृश)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'मातृ' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'मातृ' शब्द का पूर्व प्रयोग (मातृसदृश)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु(मातृसदृश सु। शेषं पूर्ववत्।

पितृसमः

लौ० वि०—पित्रा समः। अलौ० वि०—पितृ टा सम सु।

'पूर्वसदृश०'[६९३] (२.१.३१) से 'सम' का तृतीयान्त 'पितृ' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (टा और सु प्रत्ययों) का लोप (पितृ सम)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'पितृ' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'पितृ' का पूर्व प्रयोग (पितृ सम)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (पितृ सम सु)। शेषं पूर्ववत् (पितृसमः)।

माषोनम्

लौ० वि०—माषेण ऊनम्। अलौ० वि०—माष टा ऊन सु।

'पूर्वसदृश०'[६९३] (२.१.३१) से 'ऊन' का तृतीयान्त 'माष' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (टा और सु प्रत्ययों) का लोप (माष ऊन)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'माष' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'माष' का

पूर्व प्रयोग (माष ऊन)। 'आद्गुणः'[६९] (६.१.८७) से अ-ऊ को 'ओ' गुण (माषोन)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (माषोन सु)। 'अतोऽम्'[३०९] (७.१.२४) से सु को अम् (माषोन अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप होकर माषोनम्।

माषविकलम्

लौ० वि०—माषेण विकलम्। अलौ० वि०—माष टा विकल सु।

'पूर्वसदृश०'[६९३] (२.१.३१) से ऊनार्थ में 'विकल' शब्द का तृतीयान्त 'माष' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (टा और सु प्रत्ययों) का लोप (माष विकल)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'माष' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'माष' का पूर्व प्रयोग (माष विकल)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (माष विकल सु)। शेषं पूर्ववत्। माषविकलम्।

वाक्कलहः

लौ० वि०—वाचा कलहः। अलौ० वि०—वाच् टा कलह सु।

'पूर्वसदृश०'[६९३] (२.१.३१) से 'कलह' शब्द का तृतीयान्त 'वाच्' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (अन्तर्वर्ती टा और सु प्रत्ययों) का लोप (वाच् कलह)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'वाच्' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'वाच्' का पूर्व प्रयोग (वाच् कलह)। 'चोः कुः'[३३८] (८.२.३०) से 'च्' को 'क्' (वाक् कलह)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (वाक्कलह सु)। शेषं पूर्ववत्। वाक्कलहः।

आचारनिपुणः

लौ० वि०—आचारेण निपुणः। अलौ० वि०—आचार टा निपुण सु।

'पूर्वसदृश०'[६९३] (२.१.३१) से 'निपुण' का तृतीयान्त 'आचार' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (टा और सु प्रत्ययों) का लोप (आचार निपुण)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'आचार' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'आचार' शब्द का पूर्व प्रयोग (आचार निपुण)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (आचार निपुण सु)। शेषं पूर्ववत्। आचारनिपुणः।

गुडमिश्रः

लौ० वि०—गुडेन मिश्रः। अलौ० वि०—गुड टा मिश्र सु।

'पूर्वसदृश०'[६९३] (२.१.३१) से 'मिश्र' शब्द का तृतीयान्त 'गुड' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (टा और सु प्रत्ययों) का लोप (गुड मिश्र)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'गुड' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'गुड' का पूर्व

प्रयोग (गुड मिश्र)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (गुड मिश्र सु)। शेषं पूर्ववत्। गुडमिश्रः।

आचारश्लक्ष्णः

लौ० वि०—आचारेण श्लक्ष्णः। अलौ० वि०—आचार टा श्लक्ष्ण सु।

'पूर्वसदृश०'[६९३] (२.१.३१) से 'श्लक्ष्ण' का तृतीयान्त 'आचार' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (टा और सु प्रत्ययों) का लोप (आचार श्लक्ष्ण)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'आचार' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.३.३०) से 'आचार' शब्द का पूर्व प्रयोग (आचार श्लक्ष्ण)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (आचार श्लक्ष्ण सु)। शेषं पूर्ववत्। आचारश्लक्ष्णः।

गुडसम्मिश्राः

लौ० वि०—गुडेन सम्मिश्राः। अलौ० वि०—गुड टा सम्मिश्र जस्।

'पूर्वसदृश०'[६९३] (२.१.३१) से 'सम्मिश्र' शब्द का तृतीयान्त 'गुड' के साथ समास। उक्त सूत्र में 'मिश्र' का ग्रहण है किन्तु 'मिश्र' से 'सम्मिश्र' का भी ग्रहण हो जाता है। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (टा और जस् प्रत्ययों) का लोप (गुड सम्मिश्र)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'गुड' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'गुड' का पूर्व प्रयोग (गुड सम्मिश्र)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से प्रथमा बहुवचन में जस् (अस्) (गुड सम्मिश्र अस्)। 'प्रथमयोः पूर्व०'[१६४] (६.१.१०२) से सवर्ण दीर्घ (गुडसम्मिश्र) जस्। शेषं पूर्ववत्। गुडसम्मिश्राः।

मासावरः

लौ० वि०—मासेन अवरः। अलौ० वि०—मास टा अवर सु।

'अवरस्योपसंख्यानम्'—वार्त्तिक के बल पर 'पूर्वसदृश०'[६९३] (२.१.३१) से 'अवर' शब्द का तृतीयान्त मास शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (टा और सु प्रत्ययों) का लोप (मास अवर)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'मास' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'मास' का पूर्व प्रयोग (मास अवर)। 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (मासावर)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (मासावर स्)। 'ससजुषो रुः'[१६२] (८.२.६६) से स् को रु (र्) (मासावर र्)। 'खरवसानयो०'[७६] (८.३.१५) से र् को विसर्ग होकर मासावरः।

६९४. कर्तृकरणे कृता बहुलम् (२.१.३२)

कर्तरि करणे च तृतीया कृदन्तेन बहुलं प्राग्वत्। हरिणा त्रातो हरित्रातः। नखैर्भिन्नो नखभिन्नः। 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्' (प० २९) नखनिर्भिन्नः। कर्तृकरणे इति किम्—भिक्षाभिरुचितः। हेतावेषा तृतीया। बहुलग्रहणं

सर्वोपाधिव्यभिचारार्थम्। तेन 'दात्रेण लूनवान्' इत्यादौ न। कृता किम्–काष्ठैः पचतितराम्।

अनु०––कर्ता और करण में जो तृतीया, तदन्त पद का कृदन्त के साथ बहुलतया समास होता है। हरित्रातः––हरि से रक्षित। नखभिन्नः––नखों से भिन्न किया हुआ।

'कृत्' का ग्रहण करने पर गतिपूर्व और कारकपूर्व कृदन्त का भी ग्रहण करना चाहिए। नखनिर्भिन्नः––नखों से भिन्न किया हुआ।

सूत्र में 'कर्तृकरणे' का समावेश क्यों किया गया ? भिक्षाभिरुषितः––भिक्षा के लिए रहा। यहां ('भिक्षाभिः में) हेतु-तृतीया है। सूत्र में 'बहुल' ग्रहण सभी उपाधियों के व्यभिचार के लिए है। इसलिए दात्रेण लूनवान् इत्यादि में समास नहीं हुआ।

सूत्र में 'कृता' ऐसा क्यों कहा ? काष्ठैः पचतितराम्––यहां समास नहीं हुआ।

व्याख्या––कृद् ग्रहण इति। "कर्तृकरणे कृता बहुलम्"[६९४] (२.१.३२) इस सूत्र में 'कृता' का अर्थ है 'कृदन्त के साथ'। 'समासप्रत्ययविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधः" इस नियम से गतिपूर्व और कारकपूर्व कृदन्त का समास नहीं हो सकता। अतः 'कृता' का अर्थ शुद्ध कृदन्त ही हो सकता है तब "नखनिर्भिन्नः" में, जहां गतिसंज्ञक निर् का भिन्न के पूर्व प्रयोग हुआ है समास कैसे ?

अतएव "नखनिर्भिन्नः" में गतिपूर्व कृदन्त के साथ तृतीया समास करने के लिए परिभाषा सूत्र की रचना हुई है––"कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्" अर्थात् जहां सूत्र में 'कृता' का प्रयोग हुआ है वहां शुद्ध कृदन्त के साथ-साथ गतिपूर्व और कारकपूर्व कृदन्त का भी ग्रहण करना चाहिए।

कर्तृकरणे इति किम्। 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्'[६९४] (२.१.३२) इस सूत्र में "कर्तृकरणे" का समावेश क्यों किया गया है ? उत्तर में कह सकते हैं कि यदि सूत्र में "कर्तृकरणे' का समावेश न होता तब हेतु आदि अन्य अर्थों में भी तृतीया समास हो जाता। जैसे "भिक्षाभिरुषितः"––इस वाक्य में हेतु तृतीया है। 'भिक्षाभिरुषितः' का अर्थ है 'भिक्षाहेतोरुषितः'––भिक्षा के लिए रहा। यदि उक्त सूत्र में 'कर्तृकरणयोः' यह नियम न होता, तब यहां भी समास हो जाता। ऐसे स्थलों में तृतीया समास का निवारण करने के लिए सूत्र में 'कर्तृकरणयोः' का समावेश किया गया है।

बहुलग्रहणमिति। 'कर्तृकरणेः०'[६९४] (२.१.३२) इस सूत्र में 'बहुलम्' शब्द आता है। इसका अर्थ है कि उक्त विधान कहीं प्रवृत्त होगा, कहीं प्रवृत्त नहीं होगा, कहीं विकल्प से प्रवृत्त होगा और कहीं अन्य ही प्रकार से होगा। अतएव सूत्रोक्त नियमों के होने पर भी "दात्रेण लूनवान्" यहां समास नहीं हुआ। इस वाक्य में "दात्रेण" में करण तृतीया का प्रयोग है। 'लूनवान्' की रचना लूञ् धातु से क्तवतु प्रत्यय लगाकर हुई है। यहां सूत्रोक्त सभी उपाधियां विद्यमान हैं तो भी समास नहीं हुआ। सूत्र में 'बहुल' ग्रहण का यह प्रयोजन है।

कृता किम्। सूत्र में 'कृता' का प्रयोग इसलिए हुआ है कि तृतीयान्त पद का कृदन्त-

भिन्न पद के साथ समास न हो। अतः 'काष्ठैः पचतितराम्' इस प्रकार के वाक्य समस्त नहीं होते।

उक्त वाक्य में तिङन्त 'पचति' के साथ तद्धित में तरप् और आम् प्रत्यय लगा है। पचतितराम्—तद्धितान्त पद होने के कारण 'काष्ठैः' के साथ समस्त नहीं हुआ।

रूपसिद्धिः—हरित्रातः

लौ० वि०—हरिणा त्रातः। अलौ० वि०—हरि टा त्रात सु।

'कर्तृकरणे कृता बहुलम्'[६९४] (२.१.३२) से कृदन्त 'त्रात' का कर्तृपद 'हरि' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (टा और सु प्रत्ययों) का लोप (हरि त्रात)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'हरि' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'हरि' का पूर्व प्रयोग (हरि त्रात)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (हरि त्रात सु)। शेषं पूर्ववत्। हरित्रातः।

नखभिन्नः

लौ० वि०—नखैः भिन्नः। अलौ० वि०—नख टा भिन्न सु।

'कर्तृकरणे कृता बहुलम्'[६९४] (२.१.३२) से कृदन्त 'भिन्न' का करणवाची 'नख' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (टा और सु प्रत्ययों) का लोप (नख भिन्न)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'नख' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'नख' का पूर्व प्रयोग (नखभिन्न)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (नख भिन्न सु)। शेषं पूर्ववत्। नखभिन्नः।

नखनिर्भिन्नः—

लौ० वि०—नखैः निर्भिन्नः। अलौ० वि०—नख टा निर्भिन्न सु।

'कृद्ग्रहणं गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्'—इस परिभाषा के बल पर 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्'[६९४] (२.१.३२) से गतिपूर्व 'निर्भिन्न' कृदन्त पद का करणवाचक 'नख' पद के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (टा और सु प्रत्ययों) का लोप (नख निर्भिन्न)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'नख' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'नख' का पूर्व प्रयोग (नख निर्भिन्न)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (नखनिर्भिन्न सु)। शेषं पूर्ववत् नखनिर्भिन्नः।

६९५. कृत्यैरधिकार्थवचने (२.१.३३)

स्तुतिनिन्दाफलकमर्थवादवचनमधिकार्थवचनम्, तत्र कर्तरि करणे च तृतीया कृत्यैः सह प्राग्वत्। वातच्छेद्यं तृणम्। काकपेया नदी।

अनु०—जहां स्तुति व निन्दा के सूचक अतिशयोक्ति गर्भित पदों का प्रयोग हो वहां कर्ता और करण में तृतीयान्त पद का कृत्यप्रत्ययान्तों के साथ समास होता है। वात-

च्छेद्यं तृणम्—तृण को वायु भी काट सकती है। काकपेया नदी—यह जलपूर्ण नदी है। कौए भी इसका जल पी सकते हैं।

व्याख्या०—वातच्छेद्यम् इति। 'वातच्छेद्यं तृणम्'—इस वाक्य से स्तुति व निन्दा दोनों ही द्योतित होती हैं। (१) तृण कोमल है उसे वायु भी काट सकती है। यह तृण की प्रशंसा है। (२) तृण दुर्बल है उसे वायु भी काट सकती है। यह तृण की निन्दा है। इसी प्रकार काकपेया नदी—(१) यह जलपूर्ण नदी है। तटवर्ती कौए भी इसका जल पी सकते हैं। यह नदी की प्रशंसा है। (२) इस नदी में अल्प जल है। इसके जल से कौए ही तृप्त हो सकते हैं। यह नदी की निन्दा है।

रूपसिद्धिः—वातच्छेद्यम्

लौ० वि०—वातेन छेद्यम्। अलौ० वि०—वात टा छेद्य सु।

'कृत्यैरधिकार्थ०'[६९५] (२.१.३३) से कृदन्त पद 'छेद्य' का 'वात' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (टा और सु प्रत्ययों) का लोप (वात छेद्य)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'वात' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'वात' का पूर्व प्रयोग (वात छेद्य)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (वात छेद्य सु)। 'अतोऽम्'[३०९] (७.१.२४) से सु को अम् (वातछेद्य अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप 'छे च'[१४६] (६.१.७३) से तुक्(त्)=वात त्छेद्यम्। त् को द्, द् को ज्, ज् को च्=वातच्छेद्यम् (द्र० 'छे च'[८४७] (६ १.७३)

काकपेया

लौ० वि०—काकैः पेया। अलौ० वि०—काक भिस् पेया सु।

'कृत्यैरधिकार्थ०'[६९५] (२.१.३३) से कृदन्त पद 'पेया' का 'काक' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (भिस् और सु प्रत्ययों) का लोप (काकपेया)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'काक' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'काक का पूर्व प्रयोग (काकपेया)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (काकपेया सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सुलोप होकर काकपेया।

६९६. अन्नेन व्यञ्जनम् (२.१.३४)

(संस्कारद्रव्यवाचकं तृतीयान्तमन्नेन प्राग्वत्। दध्ना ओदनो दध्योदनः इहान्तर्भूतोपसेकक्रियाद्वारा सामर्थ्यम्।

अनु०—पकी हुई वस्तु (को सूचित करने वाले तृतीयान्त शब्द) का 'अन्न' (अर्थ के सूचक शब्द) के साथ समास होता है। दध्योदनः—दधि से उपसिक्त ओदन। यहां (दधि और ओदन में) उपसेचन क्रिया अन्तर्भूत है अतः (दधि और ओदन–दोनों पदों में) सामर्थ्य (होने के कारण समास होता) है।

व्याख्या—दध्ना ओदनः—दध्योदनः। यहां 'दध्ना' का 'ओदनः' के साथ साक्षात्

सम्बन्ध नहीं है। 'दध्ना' और 'ओदनः' का आपस में सम्बन्ध जोड़ने के लिए हम विग्रह वाक्य में 'उपसिक्तः' का अध्याहार करते हैं। तभी आकांक्षा की पूर्ति होती है।

वास्तव में विग्रह वाक्य एवं समस्त पद में उपसेचन क्रिया वाचक पद का प्रयोग नहीं होता। तो भी उसका अर्थ विद्यमान रहता है अतएव उसे 'अन्तर्भूत' कहा गया है। "दध्ना ओदनः" में 'उपसिक्तः' शब्द नहीं है तो भी उसका अर्थ विद्यमान है। अतएव "दध्योदनः" इस समस्त पद की निष्पत्ति होती है।

रूपसिद्धिः—दध्योदनः

लौ० वि०—दध्ना (उपसिक्तः) ओदनः। अलौ० वि०—दधि टा ओदन सु।

'अन्नेन व्यञ्जनम्'[६९६] (२.१.३४) से 'दधि' का 'ओदन' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् टा और सु प्रत्ययों का लोप (दधि ओदन)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'दधि' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'दधि' का पूर्व प्रयोग (दधि ओदन)। 'इको यणचि'[४७] (६.१.७७) से 'इ' को 'य्' (दध् य् ओदन)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (दध्योदन सु)। शेषं पूर्ववत् दध्योदनः।

६९७. भक्ष्येण मिश्रीकरणम् (२.१.३५)

गुडेन धाना गुडधानाः। मिश्रणक्रियाद्वारा सामर्थ्यम्।

अनु०—गुडधानाः—गुड से मिश्रित धान्य। यहां मिश्रण क्रिया द्वारा सामर्थ्य है।

व्याख्या—एक कठिन अन्न वाची शब्द का दूसरे कठिन अन्न वाची शब्द के साथ समास होता है। इन दोनों में एक कठिन अन्न दूसरे कठिन अन्न से मिलकर उसमें स्वादुता उत्पन्न करता है। जैसे गुडधानाः—गुड एक कठोर अन्न है। वह दूसरे कठोर अन्न (भक्ष्य) धान से मिलकर उसमें विशेषता लाता है।

'अन्नेन व्यञ्जनम्'[६९६] (२.१.३४) और 'भक्ष्येण मिश्रीकरणम्'[६९७] (२.१.३५) इन दोनों सूत्रों का क्षेत्र पृथक् पृथक् है। अन्न और व्यञ्जन—दोनों कोमल पदार्थ हैं जबकि भक्ष्य और मिश्रीकरण (जिससे खाद्य पदार्थ मिश्रित किया जाता है) दोनों ही कठोर पदार्थ हैं।

मिश्रणक्रिया इति। यहां भी 'दध्ना ओदनः' के समान 'गुडेन' का 'धानाः' के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। दोनों शब्दों को मिलाने के लिए एक तीसरे पद की अपेक्षा रहती है। 'गुडेन मिश्रिता धानाः' इस वाक्य योजना में आकांक्षा पूर्ण हो जाती है।

विग्रह वाक्य एवं समस्त पद में मिश्रणक्रियावाचक पद का प्रयोग नहीं होता। तो भी उसका अर्थ विद्यमान रहता है। अतएव उसे 'अन्तर्भूत' कहा गया है।

"गुडेन धानाः' में "मिश्रिताः' पद नहीं है तो भी उसका अर्थ वर्तमान है। अतएव 'गुडधानाः' इस समस्त पद की निष्पत्ति होती है।

रूपसिद्धिः—गुडधानाः

लौ० वि०—गुडेन धानाः। अलौ० वि०—गुड टा धान जस्।

'भक्ष्येण मिश्रीकरणम्'[६९७] (२.१.३५) से मिश्रीकरण अर्थ में 'गुड' का 'धान

साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (टा और जस् प्रत्ययों) का लोप (गुड धान)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५१] (१.२.४३) से 'गुड' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'गुड' का पूर्व प्रयोग (गुड धान)। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से प्रथमा बहुवचन में जस् (अस्) (गुड धान अस्)। 'प्रथमयोः पूर्व०'[१६४] (६.१.१०२) से पूर्व सवर्ण दीर्घ (गुडधाना स्)। शेषं पूर्ववत्। गुडधानाः।

६९८. चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः (२.१.३६)

चतुर्थ्यन्तार्थाय यत्तद्वाचिना अर्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं वा प्राग्वत्। तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एव, बलिरक्षितग्रहणाज्ज्ञापकात्। यूपाय दारु यूपदारु। नेह, रन्धनाय स्थाली। अश्वघासादयस्तु षष्ठीसमासाः। 'अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्' (वा० १२७३—१२७४) द्विजायायं द्विजार्थः सूपः। द्विजार्था यवागू। द्विजार्थं पयः। भूतबलिः। गोहितम्। गोसुखम्। गोरक्षितम्।

अनु०—चतुर्थ्यन्त के अर्थ के निमित्त जो वस्तु हो, उसके वाचक पद के साथ तथा अर्थ (के लिए), बलि (उपहार), हित (कल्याण), सुख और रक्षित—इन पदों के साथ चतुर्थ्यन्त का समास होता है। 'तदर्थ' का अभिप्राय 'प्रकृतिविकृतिभाव' है क्योंकि सूत्र में बलि और रक्षित शब्दों का पृथक् ग्रहण किया गया है।

यूपदारु—यूप के लिए दारु।—रन्धनाय स्थाली—पकाने के लिए डेगची, यहां समास नहीं हुआ। अश्वधासादि में षष्ठी समास है।

अर्थ शब्द के साथ नित्य समास होता है और समस्त पद का लिङ्ग विशेष्य के अनुसार होता है। द्विजार्थः सूपः—ब्राह्मण के लिए सूप। द्विजार्था यवागूः—ब्राह्मण के लिए यवागू। द्विजार्थं पयः—ब्राह्मण के लिए दूध। भूतबलिः—भूतों के लिए बलि। गोहितम्—गौओं के लिए हितकर। गोसुखम्—गौओं को सुखकर। गोरक्षितम्—गौओं के लिए रखा हुआ।

व्याख्या—तदर्थेनेति। 'चतुर्थी तदर्थार्थ०'[६५८] (२.१.३६) सूत्र में 'तदर्थ' का ग्रहण हुआ है। 'तदर्थ' का अर्थ है—'चतुर्थ्यन्त के लिए।' जैसे 'यूपाय दारु' इस वाक्य में दारु यूप (यज्ञीय स्तम्भ) के लिए है। वाक्य में यूप का चतुर्थ्यन्त प्रयोग हुआ है। जब हम काष्ठ का खम्भा बनाते हैं तब काष्ठ का रूप विकृत हो जाता है। ऐसे वाक्यों में ही उक्त सूत्र से समास होता है। किन्तु जहां चतुर्थ्यन्त वस्तु में कोई विकार नहीं होता वहां चतुर्थ्यन्त अर्थ में समास नहीं होता है। जैसे 'रन्धनाय स्थाली' (पकाने के लिए डेगची)। इस उदाहरण में स्थाली (डेगची) में कोई विकार नहीं होता। वह केवल पाक क्रिया निष्पादन का साधन है।

यदि प्रकृति के विकारावस्था को प्राप्त न होने पर भी पाणिनि को चतुर्थ्यर्थ में समास अपेक्षित होता तब वे चतुर्थी समास विधायक सूत्र में बलि, रक्षित इनका पृथक् ग्रहण न करते। क्योंकि उक्त सूत्र में इनका भी ग्रहण हुआ है इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि तादर्थ्य में तभी समास होता है जब प्रकृति विकृतिभाव को प्राप्त हो।

'यूपाय दारु' इस उदाहरण में दारु से यूप बनता है। दारु प्रकृति है, यूप उसका विकार है। ऐसे उदाहरणों में चतुर्थ्यन्त का अर्थ विकार और उत्तरपद का अर्थ प्रकृति होना चाहिए। "भूतबलि" और 'गोरक्षितम्' इनमें चतुर्थ्यन्त शब्दों में कोई विकार नहीं हुआ। अतः चतुर्थ्यन्त अर्थ में इनमें समास सम्भव नहीं था। तभी चतुर्थी विधायक सूत्र में बलि और रक्षित पदों का पृथक् उपादान किया गया है। इनका पृथक् उपादान इस बात को ज्ञापित करता है कि चतुर्थ्यन्त के अर्थ के निमित्त जो वस्तु हो उसके वाचक पद के साथ चतुर्थ्यन्त का तभी समास होता है जब प्रकृति में विकृतिभाव हो।

अश्वघासादय इति। प्रश्न—किन्तु तब अश्वाय घासः इस विग्रह में 'अश्वघासः' कैसे हुआ? क्योंकि घास अश्व में कोई विकार पैदा नहीं करता अर्थात् अश्व घास का विकृत रूप नहीं है। 'चतुर्थी तदर्थार्थ०'[६९८] (२.१.३६) सूत्र में 'घास' का प्रयोग भी नहीं है। ऐसे कई अन्य उदाहरण भी हैं जहां उत्तरपद प्रकृति का पूर्वपद में विकार नहीं हुआ तब ऐसे स्थलों में चतुर्थी समास कैसे होगा?

उत्तर—भट्टोजिदीक्षित ऐसे प्रयोगों में चतुर्थी नहीं मानते। अश्वस्य घासः—ऐसा विग्रह करने पर षष्ठी समास होता है।

रूपसिद्धिः—यूपदारु

लौ० वि०—यूपाय दारु। अलौ० वि०—यूप ङे दारु सु।

'चतुर्थी तदर्थार्थ०'[६९८] (२.१.३६) से 'दारु' शब्द का चतुर्थ्यन्त 'यूप' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१०९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङे और सु प्रत्ययों) का लोप (यूप दारु)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'यूप' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'यूप' का पूर्व प्रयोग (यूप दारु)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (यूप दारु सु)। 'स्वमोर्नपुंसकात्'[३१९] (७.१.२३) से सु लोप होकर यूपदारु।

द्विजार्थः

लौ० वि०—द्विजाय अयम्। अलौ० वि०—द्विज ङे अर्थ सु।

'अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्' (वा०१२७३-१२७८) के बल पर 'चतुर्थी तदर्थार्थ०'[६९८] (२.१.३६) से अर्थ शब्द का 'चतुर्थ्यन्त' 'द्विज' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१०९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङे और सु प्रत्ययों) का लोप (द्विज अर्थ)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'द्विज' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'द्विज' का पूर्व प्रयोग (द्विज अर्थ)। 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (द्विजार्थ)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (द्विजार्थ सु)। शेषं पूर्ववत्। द्विजार्थः।

द्विजार्था यवागूः—यहां विशेष्य यवागू स्त्रीवाचक है अतः विशेषणपद 'द्विजार्था' भी स्त्रीवाचक है। 'अजाद्यतष्टाप्' (४.१.४) से द्विजार्थशब्द से टाप् (आ) प्रत्यय (द्विजार्थ आ)। 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (द्विजार्था)। 'स्वौजस-

मौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (द्विजार्था सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[१५२] (६.१.६८) से सु लोप होकर द्विजार्था।

द्विजार्थं पयः—यहां विशेष्य 'पयः' नपुंसक लिङ्ग में है अतः विशेषण पद 'द्विजार्थं' भी नपुंसक लिङ्ग में है। द्विजार्थ शब्द से 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु प्रत्यय (द्विजार्थ सु)। 'अतोऽम्'[३०९] (७.१.२४) से सु को अम् (द्विजार्थ अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप होकर द्विजार्थम्।

भूतबलिः

लौ० वि०—भूतेभ्यो बलिः। अलौ० वि०—भूत भ्यस् बलि सु।

'चतुर्थी तदर्थार्थ०'[६९८] (२.१.३६) से 'बलि' शब्द का चतुर्थ्यन्त 'भूत' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (भ्यस् और सु प्रत्ययों) का लोप (भूत बलि)। 'प्रथमानिर्दिष्टं'[६५३] (१.२.४३) से 'भूत' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'भूत' शब्द का पूर्व प्रयोग (भूतबलि)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (भूत बलि सु)। शेषं पूर्ववत्। भूतबलिः।

गोहितम्

लौ० वि०—गोभ्यः हितम्। अलौ० वि०—गो भ्यस् हित सु।

'चतुर्थी तदर्थार्थ०'[६९८] (२.१.३६) से 'हित' शब्द का चतुर्थ्यन्त 'गो' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (भ्यस् और सु प्रत्ययों) का लोप (गो हित)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'गो' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'गो' का पूर्व प्रयोग (गो हित)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (गो हित सु)। 'अतोऽम्'[३०९] (७.१.२४) से 'सु' को अम् (गो हित अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से 'अम्' के 'अ' को पूर्वरूप होकर गोहितम्।

गोसुखम्

लौ० वि०—गोभ्यः सुखम्। अलौ० वि०—गो भ्यस् सुख सु।

'चतुर्थी तदर्थार्थ०'[६९८] (२.१.३६) से 'सुख' शब्द का चतुर्थ्यन्त 'गो' शब्द के साथ समास। 'कृतद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (भ्यस् और सु प्रत्ययों) का लोप (गो सुख)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'गो' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'गो' शब्द का पूर्व प्रयोग (गो सुख)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (गो सुख सु)। 'अतोऽम्'[३०९] (७.१.२४) से 'सु' को 'अम्' (गो सुख अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से 'अम्' के 'अ' को पूर्वरूप होकर गोसुखम्।

गोरक्षितम्

लौ० वि०—गोभ्यः रक्षितम्। अलौ० वि०—गो भ्यस् रक्षित सु।

'चतुर्थी तदर्थार्थ०'[६९८] (२.१.३६) से 'रक्षित' शब्द का चतुर्थ्यन्त 'गो' शब्द के साथ

समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (भ्यस् और सु प्रत्ययों) का लोप (गो रक्षित)। 'प्रथमानिर्दिष्टं'[६५३] (१.२.४३) से 'गो' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'गो' शब्द का पूर्व प्रयोग (गो रक्षित)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (गो रक्षित सु)। 'अतोऽम्'[३०९] (७.१.२४) से सु को अम् (गो रक्षित अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप होकर गोरक्षितम्।

६९९. पञ्चमी भयेन (२.१.३७)

चोराद्भयम्, चोरभयम्। 'भयभीतभीतिभीभिरिति वाच्यम्' (वा० १२७५)

वृकभीतः।

अनु०—(पञ्चम्यन्त का भयवाचक शब्द के साथ समास होता है)। चोरभयम्—चोर से भय। भय, भीत, भीति और भी शब्दों के साथ भी पञ्चम्यन्त का समास होता है। वृकभीतः—भेड़िये से डरा हुआ।

रूपसिद्धिः—चोरभयम्

लौ० वि०—चोराद् भयम्। अलौ० वि०—चोर ङसि भय सु।

'पञ्चमी भयेन'[६९९] (२.१.३७) से 'भय' शब्द का पञ्चम्यन्त 'चोर' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङसि और सु प्रत्ययों) का लोप (चोर भय)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'चोर' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'चोर' का पूर्व प्रयोग (चोर भय)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (चोर भय सु)। "अतोऽम्'[३०९] (७.१.२४) से सु को अम् (चोर भय अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से 'अम्' के 'अ' को पूर्वरूप होकर चोरभयम्।

वृकभीतः

लौ० वि०—वृकाद् भीतः। अलौ० वि०—वृक ङसि भीत सु।

'भयभीतभीतिभीभिरिति वाच्यम्' (वा० १२७५) के बल पर 'पञ्चमी भयेन'[६९९] (२.१.३७) से 'भीत' शब्द का पञ्चम्यन्त 'वृक' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् ङसि और सु प्रत्ययों का लोप (वृक भीत)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'वृक' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'वृक' शब्द का पूर्व प्रयोग (वृक भीत)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (वृक भीत सु) शेषं पूर्ववत्। वृकभीतः।

७००. अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः। (२.१.३८)

एतैः सहाल्पं पञ्चम्यन्तं समस्यते, स तत्पुरुषः। सुखापेतः। कल्पनापोढः। चक्रमुक्तः। स्वर्गपतितः। तरङ्गापत्रस्तः। अल्पशः किम्—प्रासादात्पतितः।

अनु०—अपेत, अपोढ, मुक्त, पतित, अपत्रस्त इन शब्दों का कुछ पञ्चम्यन्त शब्दों के साथ समास होता है। वह समास तत्पुरुष कहलाता है। सुखापेतः—सुख से रहित। कल्पनापोढः—कल्पना से अपोढ। चक्रमुक्तः—चक्र से मुक्त। स्वर्गपतितः—स्वर्ग से पतित। तरङ्गापत्रस्तः—तरङ्गों से अपत्रस्त। अल्पशः क्यों कहा ? प्रासादात्पतितः—महल से गिरा हुआ—यहां समास न हो।

व्याख्या—अल्पशः किमिति। प्रश्न—'अपेतापोढ०'[७००] (२.१.३८) सूत्र में 'अल्पशः' क्यों कहा गया है ? उत्तर—'अल्पशः' कहने पर यह अर्थ होगा कि कुछ ही पञ्चम्यन्त शब्दों का अपेत आदि शब्दों के साथ समास होता है। अतः 'प्रासादात् पतितः' यहां समास नहीं हुआ।

रूपसिद्धिः—सुखापेतः

लौ० वि०—सुखात् अपेतः। अलौ० वि०—सुख ङसि अपेत सु।

'अपेतापोढ०'[७००] (२.१.३८) से 'अपेत' शब्द का पञ्चम्यन्त 'सुख' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[७९९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङसि और सु प्रत्ययों) का लोप (सुख अपेत)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'सुख' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'सुख' शब्द का पूर्व प्रयोग (सुख अपेत)। 'अकः सवर्णे०'[८१] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (सुखापेत)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (सुखापेत स्)। शेषं पूर्ववत् सुखापेतः।

कल्पनापोढः

लौ० वि०—कल्पनायाः अपोढः। अलौ० वि०—कल्पना ङसि अपोढ सु।

'अपेतापोढ०'[७००] (२.१.३८) से 'अपोढ' शब्द का पञ्चम्यन्त 'कल्पना' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[७९९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङसि और सु प्रत्ययों) का लोप (कल्पना अपोढ)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'कल्पना' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'कल्पना' शब्द का पूर्व प्रयोग (कल्पना अपोढ)। 'अकः सवर्णे०'[८१] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (कल्पनापोढ)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (कल्पनापोढ सु)। शेषं पूर्ववत्। कल्पनापोढः।

चक्रमुक्तः

लौ० वि०—चक्रात् मुक्तः। अलौ० वि०—चक्र ङसि मुक्त सु।

'अपेतापोढ०'[७००] (२.१.३८) से 'मुक्त' शब्द का पञ्चम्यन्त 'चक्र' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[७९९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपा धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङसि और सु प्रत्ययों) का लोप (चक्रमुक्त)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'चक्र' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'चक्र' शब्द का पूर्व प्रयोग (चक्र मुक्त)। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु शेषं पूर्ववत्

(चक्र मुक्त सु)। शेषं पूर्ववत्। चक्रमुक्तः।

स्वर्गपतितः—

लौ० वि०—स्वर्गात् पतितः। अलौ० वि०—स्वर्ग ङसि पतित सु।

'अपेतापोढ०'[७००] (२.१.३८) से 'पतित' शब्द का पञ्चम्यन्त 'स्वर्ग' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१०९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् ङसि और सु प्रत्ययों का लोप (स्वर्ग पतित)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'स्वर्ग' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'स्वर्ग' शब्द का पूर्व प्रयोग (स्वर्ग पतित)। पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (स्वर्ग पतित स्)। शेषं पूर्ववत्। स्वर्गपतितः।

तरङ्गापत्रस्तः—

लौ० वि०—तरङ्गेभ्यः अपत्रस्तः। अलौ० वि०—तरङ्ग भ्यस् अपत्रस्त सु।

'अपेतापोढ०'[७००] (२.१.३८) से 'अपत्रस्त' शब्द का पञ्चम्यन्त 'तरङ्ग' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१०९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् भ्यस् और सु प्रत्ययों का लोप (तरङ्ग अपत्रस्त)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'तरङ्ग' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'तरङ्ग' शब्द का पूर्व प्रयोग (तरङ्ग अपत्रस्त)। 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (तरङ्गापत्रस्त)। पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (तरङ्गापत्रस्त स्)। शेषं पूर्ववत्। तरङ्गापत्रस्तः।

७०१. स्तोकान्तिकरार्थकृच्छ्राणि क्तेन (२.१.३९)

स्तोकान्मुक्तः। अल्पान्मुक्तः। अन्तिकादागतः। अभ्याशादागतः। दूरादागतः। विप्रकृष्टादागतः। कृच्छ्रादागतः। 'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' (सू० ६५९) इत्यलुक्।

अनु०—(स्तोक, अन्तिक, दूर अर्थ के वाचक और कृच्छ्र इन सुबन्तों का क्त प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ समास होता है।) स्तोकान्मुक्तः—थोड़े से मुक्त। अल्पान्मुक्तः—अल्प से मुक्त। अन्तिकादागतः—समीप से आया हुआ। अभ्याशादागतः—पास से आया हुआ। दूरादागतः—दूर से आया हुआ। विप्रकृष्टादागतः—दूर से आया हुआ। कृच्छ्रादागतः—कष्ट से आया हुआ। पञ्चम्यन्त स्तोकादि शब्दों की विभक्तियों का लोप नहीं होता।

व्याख्या—स्तोकान्मुक्तः। अल्पान्मुक्तः। अन्तिकादागतः। अभ्याशादागतः। दूरादागतः। विप्रकृष्टादागतः। कृच्छ्रादागतः—ये क्तान्त समस्त पद हैं। यहां 'स्तोकान्तिक०'[७०१] (२.१.३९) से समास हुआ है। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से प्राप्त सुप् लोप का 'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः'[६५९] (६.३.२) से निषेध हुआ है। अतः लौकिक विग्रह वाक्य और समस्त पद में कोई अन्तर नहीं है।

७०२. षष्ठी (२.२.८)

राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः ।

अनु०—(षष्ठ्यन्त का सुबन्त के साथ समास होता है) । राजपुरुषः—राजा का पुरुष ।

रूपसिद्धिः—राजपुरुषः

लौ० वि०—राज्ञः पुरुषः । अलौ० वि०—राजन् ङस् पुरुष सु ।

'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) से षष्ठ्यन्त 'राजन्' का 'पुरुष' के साथ समास । 'कृत्तद्धित०'[१०९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस् और सु प्रत्ययों) का लोप (राजन् पुरुष) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से राजन् की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'राजन्' का पूर्व प्रयोग (राजन् पुरुष) । 'नलोपः०'[२२६] (८.२.७) से राजन् के 'न्' का लोप (राजपुरुष) । पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (राजपुरुष स्) । शेषं पूर्ववत् । राजपुरुषः ।

७०३. याजकादिभिश्च (२.२.९)

एभिः षष्ठ्यन्तं समस्यते । 'तृजकाभ्यां कर्तरि' (सू० ७०९) इत्यस्य प्रतिप्रसवोऽयम् । ब्राह्मणयाजकः । देवपूजकः । 'गुणात्तरेण तरलोपश्चेति वक्तव्यम्' (वा० ३८४१) । तरबन्तं यद्गुणवाचि तेन सह समासस्तरलोपश्च । 'न निर्धारणे' (सू० ७०४) इति 'पूरणगुण–' (सू० ७०५) इति च निषेधस्य प्रतिप्रसवोऽयम् । सर्वेषां श्वेततरः सर्वश्वेतः । सर्वेषां महत्तरः सर्वमहान् । 'कृद्योगा च षष्ठी समस्यत इति वाच्यम्' (वा० १३१७) इध्मस्य प्रव्रश्चनः इध्मप्रव्रश्चनः ।

अनु०—षष्ठ्यन्त का याजक आदि शब्दों के साथ समास होता है । यह सूत्र 'तृजकाभ्यां कर्तरि' सूत्र का अपवाद है । ब्राह्मणयाजकः—ब्राह्मण का याजक । देवपूजकः—देवताओं का पूजक ।

गुणवाचक शब्द से विहित जो तरप् तदन्त शब्द के साथ षष्ठी का विकल्प से समास होता है और तरप् का लोप होता है । यह वार्तिक 'न निर्धारणे'[७०४] (२.२.१०) और 'पूरणगुण०'[७०५] (२.२.११) इन सूत्रों से प्राप्त षष्ठी निषेध का अपवाद है । सर्वश्वेतः—सभी (पदार्थों) में श्वेत । सर्वमहान् — सभी (मनुष्यों) में महान् ।

कृद्योग में वर्तमान षष्ठी का समास होता है । इध्मप्रव्रश्चनः—कुठार ।

व्याख्या—याजकादि गण का नाम है जिसमें निम्न शब्द हैं—याजक, पूजक, परिचारक, परिवेषक, स्नापक, अध्यापक, उत्साहक, उद्वर्तक, होतृ, भर्तृ, रथगणक, पत्तिगणक । 'याजकादिभिश्च'[७०३] (२.२.९) सूत्र 'तृजकाभ्यां कर्तरि'[७०९] (२.२.१५) सूत्र का अपवाद है । 'तृजकाभ्याम्०'[७०९] (२.२.१५) सूत्र कर्ता के अर्थ में प्रयुक्त तृच् और अक अन्त वाले शब्दों के साथ षष्ठी समास का निषेध करता है और प्रस्तुत सूत्र 'याजकादिभिश्च'[७०३] (२.२.९) उक्त निषेध का अपवाद है ।

कृद्योगेति । 'कर्तृकर्मणोः कृति'[६२३] (२.३.६५) सूत्र से कृद्योग में षष्ठी का विधान हुआ है । 'कृद्योगा च षष्ठी समस्यत इति वाच्यम्' (वा० १३१७) से कृद्योग में जिस षष्ठी का विधान हुआ है उसका समास होता है । जैसे—इध्मप्रव्रश्चनः—इध्मानां प्रव्रश्चनः । यहाँ कर्मषष्ठी है । इस षष्ठ्यन्त पद का कृदन्त पद 'प्रव्रश्चन' के साथ समास होता है ।

रूपसिद्धिः—ब्राह्मणयाजकः

लौ० वि०—ब्राह्मणस्य याजकः । अलौ० वि०—ब्राह्मण ङस् याजक सु ।

यहाँ 'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) सूत्र द्वारा प्राप्त षष्ठी समास को 'तृजकाभ्यां कर्तरि'[७०९] (२.२.१५) सूत्र ने बाधित किया । 'याजकादिभिश्च'[७०३] (२.२.९) सूत्र द्वारा 'तृजकाभ्यां कर्तरि'[७०९] (२.२.१५) सूत्र को बाधित करके षष्ठ्यन्त 'ब्राह्मण' शब्द का 'याजक' शब्द के साथ समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् ङस् और सु प्रत्ययों का लोप (ब्राह्मण याजक) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'ब्राह्मण' शब्द की उपसर्जनसंज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'ब्राह्मण' का पूर्व प्रयोग (ब्राह्मण याजक) । पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (ब्राह्मण याजक स्) । शेषं पूर्ववत् (ब्राह्मणयाजकः) ।

देवपूजकः—लौ० वि०—देवानां पूजकः । अलौ० वि०—देव आम् पूजक सु ।

यहाँ 'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) सूत्र द्वारा प्राप्त षष्ठी समास को 'तृजकाभ्यां कर्तरि'[७०९] (२.२.१५) सूत्र ने बाधित किया । 'याजकादिभिश्च'[७०३] (२.२.९) सूत्र द्वारा 'तृजकाभ्यां कर्तरि'[७०९] (२.२.१५) सूत्र को बाधित करके षष्ठ्यन्त 'देव' शब्द का 'पूजक' शब्द के साथ समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् आम् और सु प्रत्ययों का लोप (देव पूजक) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'देव' शब्द की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'देव' शब्द का पूर्व प्रयोग (देव पूजक) । पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (देव पूजक स्) । शेषं पूर्ववत् । (देवपूजकः) ।

सर्वश्वेतः—

लौ० वि०—सर्वेषां श्वेततरः । अलौ० वि०—सर्व आम् श्वेततर सु ।

'गुणात्तरेण तरलोपश्चेति वक्तव्यम्' (वा० ३८४१) से समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (आम् और सु प्रत्ययों) का लोप (सर्व श्वेततर) । 'गुणात्तरेण तरलोपश्चेति वक्तव्यम्' (वा० ३८४१) से तरप् लोप (सर्व श्वेत) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'सर्व' शब्द की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'सर्व' का पूर्व प्रयोग (सर्व श्वेत) । पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (सर्व श्वेत स्) । शेषं पूर्ववत् (सर्वश्वेतः) ।

सर्वमहान्—

लौ० वि०—सर्वेषां महत्तरः । अलौ० वि०—सर्व आम् महत्तर सु ।

'गुणात्तरेण०' (वा० ३८४१) से समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (आम् और सु प्रत्ययों) का लोप (सर्व महत्तर) । 'गुणात्तरेण०' (वा० ३८४१) से तरप् लोप (सर्व महत्) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'सर्व' की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'सर्व' का पूर्व प्रयोग (सर्व महत्) । पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (सर्व महत् स्) । 'उगिदचाम्०'[३६१] (७.१.७०) से नुम् (न्) (सर्व महन् त् स्) । 'सर्वनामस्थाने०'[३५०] (६.४.८) से उपधा दीर्घ (सर्व महान् त् स्) । 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से स् लोप (सर्व महान् त्) । 'संयोगान्तस्य०'[७५४] (८.२.२३) से 'त्' लोप (सर्वमहान्) ।

इध्मप्रव्रश्चनः—

लौ० वि०—इध्मानां प्रव्रश्चनः । अलौ० वि०—इध्म आम् प्रव्रश्चन सु ।

यहाँ 'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) से प्राप्त समास का 'प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते' (वा० १३२०) से निषेध हुआ । पुनः 'कृद्योगा च षष्ठी०' (वा० १३१७) से समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (आम् और सु प्रत्ययों) का लोप (इध्म प्रव्रश्चन) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'इध्म' की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'इध्म' का पूर्व प्रयोग (इध्म प्रव्रश्चन) । पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (इध्म प्रव्रश्चन स्) । शेषं पूर्ववत्, (इध्मप्रव्रश्चनः) ।

७०४. न निर्धारणे (२.२.१०)

निर्धारणे या षष्ठी सा न समस्यते । नृणां द्विजः श्रेष्ठः । 'प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यत इति वाच्यम्' (वा १३२०) । सर्पिषो ज्ञानम् ।

अनु०—निर्धारण अर्थ में जिस षष्ठी का विधान हुआ है उसका समास नहीं होता । नृणां द्विजः श्रेष्ठः—मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है । कर्ता, कर्म, करण आदि कारक के नाम से जिस षष्ठी का विधान हुआ है उसका समास नहीं होता । सर्पिषो ज्ञानम्—घी का ज्ञान ।

व्याख्या—प्रतिपद इति । 'षष्ठी शेषे'[६०६] (२.३.५०) इस सूत्र से विहित शेष षष्ठी को त्याग कर सभी अन्य षष्ठी प्रतिपदविधान कहलाती हैं । सर्पिषो ज्ञानम्—यहाँ 'ज्ञोऽविदर्थस्य करणे'[६१२] (२.३.५१) इस सूत्र से जो षष्ठी हुई है वह प्रतिपदविधान है । अतः 'प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते इति वाच्यम्' (वा० १३२०) इस वार्त्तिक से यहाँ समास का निषेध हुआ है ।

७०५. पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन (२.२.११)

पूरणाद्यर्थैः सदादिभिश्च षष्ठी न समस्यते। पूरणे—सतां षष्ठः। गुणे—काकस्य काष्ण्यम्, ब्राह्मणस्य शुक्लाः। यदा प्रकरणादिना दन्ता इति विशेष्यं ज्ञातं तदेदमुदाहरणम्। अनित्योऽयं गुणेन निषेधः, 'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्' (सू १२९५) इत्यादिनिर्देशात्। तेन अर्थगौरवम्, बुद्धिमान्द्यम् इत्यादि सिद्धम्। सुहितार्थास्तृप्त्यर्थाः। फलानां सुहितः। तृतीयासमासस्तु स्यादेव स्वरे विशेषः। सत्—द्विजस्य कुर्वन्, कुर्वाणो वा, किङ्कर इत्यर्थः। अव्ययम्—ब्राह्मणस्य कृत्वा। पूर्वोत्तरसाहचर्यात्कृदव्ययमेव गृह्यते, तेन तदुपरि इत्यादि सिद्धमिति रक्षितः। तव्यः—ब्राह्मणस्य कर्तव्यम्। तव्यता तु भवत्येव, स्वकर्तव्यम्। स्वरे भेदः। समानाधिकरणेन—तक्षकस्य सर्पस्य। विशेषणसमासस्त्विह बहुलग्रहणान्न। 'गोर्धेनोः' इत्यादिषु 'पोटायुवति—'(सू ७४४) इत्यादीनां विभक्त्यन्तरे चरितार्थानां परत्वाद्बाधकः षष्ठीसमासः प्राप्तः, सोऽप्यनेन वार्यते।

अनु०—पूरण, गुण, सुहित—इन अर्थों के वाचक शब्दों के साथ एवं सद्, अव्यय, तव्य और समानाधिकरण के साथ षष्ठी का समास नहीं होता।

पूरण के अर्थ में—सतां षष्ठः—सज्जनों में श्रेष्ठ। गुण के अर्थ में—काकस्य काष्ण्यम्,—कौए की कालिमा। ब्राह्मणस्य शुक्लाः—ब्राह्मण के श्वेत। यहाँ प्रकरण वश 'दन्ताः' इस विशेष्य का ज्ञान हो जाता है अतः यह (ब्राह्मणस्य शुक्लाः) उदाहरण दिया है। 'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्'[१२९५] (१.२.५३) सूत्र के निर्देश से 'पूरणगुण०'[७०५] (२.२.११) से गुणवाची शब्द के साथ षष्ठी समास का जो निषेध हुआ है वह अनित्य है। इससे अर्थगौरवम्—अर्थ का गौरव, बुद्धिमान्द्यम्—बुद्धि की मन्दता प्रयोग भी ठीक हैं। सुहितार्थ अर्थात् तृप्ति के अर्थ में—फलानांसु हितः—फलों से तृप्त। तृतीया समास (फलैः सुहितः), तो होगा ही। इससे स्वर में विशेषता आ जाती है। सत् के अर्थ में—द्विजस्य कुर्वन्, द्विजस्य कुर्वाणः—ब्राह्मण का नौकर। कुर्वन्, कुर्वाणः शब्दों का प्रयोग 'किङ्कर' अर्थ में है। अव्यय में—ब्राह्मणस्य कृत्वा। पूर्व और उत्तर के साहचर्य से अव्यय भी 'कृत्' ही होगा, इसलिए तदुपरि में 'उपरि' अव्यय का 'तद्' के साथ समास हो गया है। यह आचार्य रक्षित का मत है। तव्य में—ब्राह्मणस्य कर्तव्यम्। तव्यत् प्रत्ययान्त का तो समास होता है—स्वकर्तव्यम्। स्वर में भेद होता है। समानाधिकरण में—तक्षकस्य सर्पस्य। यहाँ (तक्षकस्य सर्पस्य) में विशेषण समास नहीं हुआ क्योंकि सूत्र 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्'[७३६] (२.१.५७) में 'बहुल' का प्रयोग है।

'गोर्धेनोः इत्यादि में 'पोटायुवति०'[७४४] (२.१.६५) आदि सूत्रों से अन्य विभक्तियों के साथ समास विधि चरितार्थ है। किन्तु परवर्ती सूत्र 'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) से यह बाधित होकर षष्ठी समास प्राप्त होता है। इस षष्ठी समास का 'पूरणगुण०'[७०५] (२.२.११) से निषेध किया गया है।

व्याख्या—पूरणे इति। पूरण अर्थ में 'सतां षष्ठः' में समास नहीं हुआ। पूरण अर्थ में डट् प्रत्यय करने पर 'षष्ठः' बना है। अतः 'षष्ठः' का 'सताम्' के साथ समास नहीं होता। गुणे इति। काकस्य काष्ण्यम्—गुणवाची कृष्ण शब्द से भाव में ष्यञ् प्रत्यय

करने पर 'काण्र्यम्' रूप बना है। अतः उक्त वाक्य में इसका 'काकस्य' के साथ समास नहीं हुआ।

इसी प्रकार 'ब्राह्मणस्य शुक्लाः' इस वाक्य में गुणवाचक 'शुक्लाः' का 'ब्राह्मणस्य' के साथ समास नहीं होता।

यद्यपि "ब्राह्मणस्य शुक्लाः" इस वाक्य में 'ब्राह्मणस्य' का सम्बन्ध 'दन्ताः' के साथ है, 'शुक्लाः' के साथ नहीं, अतः सामर्थ्य न होने पर 'ब्राह्मणस्य' का 'शुक्लाः' के साथ समास प्राप्त ही नहीं था, तो भी वाक्य में 'शुक्लाः' का ही प्रयोग है, 'दन्ताः' का नहीं। शुक्ल शब्द ही विशेष्य दन्त को बोधित करता है। इस प्रकार 'शुक्लाः' का 'ब्राह्मणस्य' के साथ साक्षात् सम्बन्ध है। सामर्थ्य होने के कारण समास प्राप्त था। अतः 'पूरण-गुण०'[७०५] (२.२.११) इससे समास का निषेध हुआ।

अनित्य इति। 'पूरणगुण०'[७०५] (२.२.११) इससे गुणवाची शब्द के साथ षष्ठी समास का जो निषेध हुआ है वह अनित्य है। अर्थात् गुणवाची शब्द के साथ कहीं कहीं षष्ठी समास हो जाता है। जैसे 'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्'[१२९५] (१.२.५३) इस सूत्र में पाणिनि ने गुणवाची 'प्रमाण' का 'संज्ञा' के साथ समास किया है। पाणिनि द्वारा विहित उक्त समास इस बात का ज्ञापक है कि गुणवाचक शब्द का षष्ठ्यन्त पद के साथ समास का निषेध नित्य नहीं है।

गुणवाची शब्द का षष्ठ्यन्त पद के साथ समास कई अन्य उदाहरणों में भी मिलता है जैसे अर्थगौरवम्, बुद्धिमान्द्यम्। अर्थगौरवम् (अर्थस्य गौरवम्), बुद्धिमान्द्यम् (बुद्धेः मान्द्यम्)। इस प्रकार के प्रयोग इसी कोटि में आते हैं। यहाँ भी गौरव और मान्द्य गुण-वाची शब्द हैं। 'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) इससे प्राप्त समास का 'पूरणगुण०'[७०५] (२.२.११) इससे निषेध प्राप्त था, किन्तु इस निषेध को अनित्य मानकर उक्त दोनों उदाहरणों में समास हुआ है।

सुहितार्था इति। सुहितार्थ अर्थात् तृप्ति के अर्थ में। जैसे—फलानां सुहितः। यहाँ तृप्त्यर्थक 'सुहितः' का 'फलानां' के साथ समास नहीं हुआ। जहाँ 'फलसुहितः' यह समस्त प्रयोग मिलता है उसे फलैः सुहितः इस विग्रह वाक्य का समस्त पद मानना होगा अर्थात् वह तृतीया समास होगा जिसमें प्रकृति स्वर उदात्त पूर्वपद में लगता है। यदि षष्ठी समास होता तो आद्युदात्त न होकर अन्तोदात्त होता जो कि अभीष्ट नहीं है।

सत् इति। द्विजस्य कुर्वन्, द्विजस्य कुर्वाणः—में कुर्वन् और कुर्वाणः शब्दों का प्रयोग 'किङ्कर' अर्थ में हुआ है। द्विजस्य—यह शेषषष्ठी है। अतः 'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) इससे समास प्राप्त था, तब उसका 'पूरणगुण०'[७०५] (२.२.११) इससे निषेध हुआ।

कुर्वन् और कुर्वाणः में क्रमशः शतृ और शानच् हुए हैं। 'तौ सत्'[३१०६] (३.२.१२७) इस सूत्र से शतृ और शानच् की 'सत्' संज्ञा होती है। 'पूरणगुण०'[७०५] (२.२.११) इस सूत्र में सत् शब्द के समावेश का यह अर्थ होगा कि सत् संज्ञक प्रत्ययान्त पद का षष्ठ्यन्त पद के साथ समास नहीं होता।

अव्ययम् इति । 'ब्राह्मणस्य कृत्वा' वाक्य में 'कृत्वा' क्त्वान्त होने के कारण अव्यय है । अतः समास नहीं हुआ । 'पूरणगुण०'[७०५] (२.२.११) सूत्र में 'अव्ययम्' यह पद 'सत्' और 'तव्य' के बीच पड़ा है अतः साहचर्य से अव्यय भी कृत् होगा । जैसे कृत्वा कृत् अव्यय है । सूत्रस्थित अव्यय पद से कृद् अव्यय का ही ग्रहण करने पर कृद्भिन्न अव्ययों का ग्रहण नहीं होगा । इस प्रकार 'तदुपरि' में उपरि अव्यय का तद् के साथ समास हो गया है । यहाँ 'उपरि' कृद् भिन्न अव्यय है । अतः 'पूरणगुण०'[७०५] (२.२.११) इस सूत्र से विहित समास निषेध यहाँ चरितार्थ नहीं होगा । यह आचार्य रक्षित का मत है ।

तव्य इति । ब्राह्मणस्य कर्तव्यम्—यहाँ षष्ठी समास नहीं हुआ । 'स्वकर्तव्यम्' में जो षष्ठी समास हुआ है वहाँ कृत्य प्रत्यय तव्यत् है, तव्य नहीं । यह अन्तस्वरित होगा । यदि तव्य के साथ समास अभीष्ट होता तब मध्योदात्त होता ।

समानाधिकरणेन इति । 'तक्षकस्य सर्पस्य' वाक्य में दोनों पद षष्ठ्यन्त हैं । दोनों का अधिकरण (कारक) समान है अतः समास नहीं हुआ ।

'तक्षकस्य सर्पस्य' यहाँ 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्'[७३६] (२.१.५७) इससे कर्मधारय समास प्राप्त था किन्तु उक्त सूत्र में 'बहुलम्' शब्द का प्रयोग हुआ है । इसका तात्पर्य है कि विशेष्य विशेषण कर्मधारय समास बहुलतया होता है अर्थात् कहीं होता है, कहीं नहीं होता । अतः बहुल ग्रहण के कारण कर्मधारय समास भी नहीं होता ।

गोर्धेनोः इति । गोर्धेनोः—यहाँ भी समानाधिकरण है अर्थात् गोः और धेनोः दोनों षष्ठ्यन्त पद हैं । 'पूरणगुण०'[७०५] (२.२.११) इस सूत्र से समानाधिकरण में षष्ठी समास का निषेध हुआ है ।

गोः धेनोः इस विग्रह वाक्य में 'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) और 'पोटायुवति०'[७४४] (२.१.६५) इन दोनों सूत्रों से षष्ठी समास प्राप्त था । इन दोनों सूत्रों से प्राप्त समास का 'पूरणगुण०'[७०५] (२.२.११) इस सूत्र से निषेध हुआ है ।

'पूरणगुण०'[७०५] (२.२.११) इस सूत्र से षष्ठी समास का ही निषेध होता है अतः अन्यविभक्तियों के साथ समास करने में 'पोटायुवति०'[७४४] (२.१.६५) चरितार्थ है । इसी प्रकार 'पूरणगुण०'[७०५] (२.२.११) यह सूत्र समानाधिकरण में षष्ठी समास का निषेध करता है । असमानाधिकरण में जैसे 'राज्ञः पुरुषः' 'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) यह सूत्र चरितार्थ होगा । अतः कोई सूत्र व्यर्थ नहीं होता । तीनों सूत्र—'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) 'पोटायुवति०'[७४४] (२.१.६५) और 'पूरणगुण०'[७०५] (२.२.११) अपने अपने क्षेत्र में सफल हैं ।

परत्वाद्बाधक इति । 'पोटायुवति०'[७४४] (२.१.६५) इस सूत्र से सूत्रोक्त नियम के अनुसार सभी विभक्तियों में समास प्राप्त है । इस सूत्र में किसी विशेष विभक्ति का उल्लेख नहीं है किन्तु 'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) इस सूत्र में षष्ठी का नाम से उल्लेख हुआ है । अष्टाध्यायी के क्रमानुसार 'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) पर-सूत्र है और इस कारण अधिक बलवान् है । सम्भव है कि 'पोटायुवति०'[७४४] (२.१.६५) यह सूत्र षष्ठी समास के विधान में समर्थ न होता किन्तु "षष्ठी" इस विशेष सूत्र से विधीयमान समास को रोकना कठिन

था। अतः 'पूरणगुण०'[७०५] (२.२.११) से समानाधिकरण में समास का निषेध करना आवश्यक हुआ। इसका अभिप्राय यह है कि 'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) इस सूत्र से विधीयमान समास असमानाधिकरण में ही होता है, समानाधिकरण में नहीं।

७०६. क्तेन च पूजायाम् (२.२.१२)

'मतिबुद्धि'—(सू० ३८६) इति सूत्रेण विहितो यः क्तस्तदन्तेन षष्ठी न समस्यते। राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा। राजपूजित इत्यादौ तु भूते क्तान्तेन सह तृतीयान्तस्य समासः।

अनु०—'मतिबुद्धि'—इस सूत्र से विहित क्त प्रत्ययान्त शब्दों का षष्ठ्यन्त के साथ समास नहीं होता। जैसे—राज्ञां मतः। राज्ञां बुद्धः। राज्ञां पूजितः। 'राजपूजितः' इत्यादि में भूत अर्थ में क्तान्त शब्दों के साथ तृतीया समास है।

व्याख्या—'मतिबुद्धि०'[३०८९] (३.२.१८८)—इस सूत्र से वर्तमान में 'क्त' प्रत्यय होता है और 'क्तस्य च वर्तमाने'[६२५] (२.३.६७) इस सूत्र से क्तान्त शब्द के योग में षष्ठी विभक्ति होती है—जैसे राज्ञां मतः। राज्ञां बुद्धः। राज्ञां पूजितः। ऐसे उदाहरणों में 'क्तेन च०'[७०६] (२.२.१२)—इस सूत्र से पूजा अर्थ में समास नहीं होता। किन्तु हमें 'राजपूजितः' ऐसा समस्त पद भी मिलता है। वहाँ 'राज्ञा पूजितः' इस लौकिक विग्रह वाक्य से बना हुआ तृतीया तत्पुरुष समास मानना होगा। 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्'[६९४] (२.१.३२) इस सूत्र से समास होने पर राजपूजितः की सिद्धि होती है।

७०७. अधिकरणवाचिना च (२.२.१३)

क्तेन षष्ठी न समस्यते। इदमेषामासितं गतं भुक्तं वा।

अनु०—अधिकरणवाची 'क्त' के योग में विहित षष्ठी का समास नहीं होता। जैसे—इदमेषामासितं गतं भुक्तं वा।

व्याख्या—'क्तोऽधिकरणे०'[३०८७] (३.४.७६) इस सूत्र से अधिकरण में क्त होता है। 'अधिकरणवाचिनश्च'[३३६] (२.३.६८) इससे अधिकरणवाची क्त अन्त वाले शब्द के योग में षष्ठी का प्रयोग होता है। जैसे—एषाम् आसितम्। एषां गतम्। एषां भुक्तम्। ऐसे उदाहरणों में अधिकरणवाची क्त के योग में विहित षष्ठी का समास नहीं होता।

७०८. कर्मणि च (२.२.१४)

'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (सू ६२४) इति या षष्ठी सा न समस्यते। आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन।

अनु०—'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इस सूत्र से कर्म में जिस षष्ठी का प्रयोग हुआ है उसका समास नहीं होता। जैसे—आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन—गोपेतर से गायों का दुहा जाना आश्चर्य है।

व्याख्या—'कर्मणि च'[७०८] (२.२.१४) सूत्र में 'च' का 'इति' के अर्थ में प्रयोग हुआ है। 'उभयप्राप्तौ कर्मणि'[६२४] (२.३.६६) इस सूत्र से कर्म में जिस षष्ठी का प्रयोग हुआ है उसका समास नहीं होता। जैसे 'आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन' इस उदाहरण में 'गवाम्' में कर्म में षष्ठी का प्रयोग हुआ है, अतः यहाँ समास नहीं हुआ।

७०६. तृजकाभ्यां कर्तरि (२.२.१५)

कर्त्रर्थतृजकाभ्यां षष्ठ्या न समासः। अपां स्रष्टा। वज्रस्य भर्ता। ओदनस्य पाचकः। कर्तरि किम्—इक्षूणां भक्षणमिक्षुभक्षिका। पत्यर्थभर्तृशब्दस्य तु याजकादित्वात्समासः। भूभर्ता। कथं तर्हि 'घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः' इति। शेषषष्ठ्या समास इति कैयटः।

अनु०—कर्ता के अर्थ में विहित तृच् और अक प्रत्ययान्त शब्दों के साथ षष्ठी का समास नहीं होता। जैसे—अपां स्रष्टा, वज्रस्य भर्ता। ओदनस्य पाचकः।

[**प्र०**]—कर्तरि क्यों कहा? [**उ०**]—इक्षूणां भक्षणमिक्षुभक्षिका (यहाँ समास निषेध हो)। पत्यर्थक भर्तृ शब्द का समास होता है क्योंकि यह शब्द याजकादि गण में है जैसे—भूभर्ता।

[**प्र०**] 'घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः' इस वाक्य में 'त्रिभुवनविधातुः' में समास कैसे हुआ ?

[**उ०**] कैयट के मत में यहाँ शेषषष्ठी मानकर समास हुआ है।

व्याख्या—कर्ता के अर्थ में वर्तमान तृच् और अक प्रत्ययान्त शब्दों के साथ षष्ठ्यन्त पद का समास नहीं होता। जैसे अपां स्रष्टा, वज्रस्य भर्ता। इन दोनों उदाहरणों में 'ण्वुल्तृचौ'[२८९५] (३.१.१३३) सूत्र से कर्ता में तृच् का प्रयोग हुआ है। 'ओदनस्य पाचकः' यहाँ 'ण्वुल्तृचौ'[२८९५] (३.१.१३३) इस सूत्र से 'पाचकः' में कर्ता में ण्वुल् प्रत्यय हुआ है। 'युवोरनाकौ'[१३४७] (७.१.१) इससे ण्वुल् (-वु) को अक आदेश हुआ है। इस प्रकार तृजन्त और अकान्त प्रयोगों के साथ षष्ठ्यन्त पद का समास नहीं होता है।

कर्तरि किम् इति। **प्र०**—'तृजकाभ्यां कर्तरि'[७०९] (२.२.१५) इस सूत्र में 'कर्तरि' का ग्रहण क्यों हुआ।

'इक्षुभक्षिका' जैसे समस्त प्रयोगों में समासनिषेध न हो, इसलिए उक्त सूत्र में 'कर्तरि' पद का समावेश कर दिया गया है। 'कर्तरि' पद के समावेश का अभिप्राय यह है कि जहाँ कर्ता के अर्थ में तृच् और अक प्रत्यय लगे हैं जैसे अपां स्रष्टा, ओदनस्य पाचकः—इन प्रयोगों में, वहाँ उन शब्दों का षष्ठ्यन्त पद के साथ समास नहीं होगा। किन्तु जहाँ कर्त्रर्थ से भिन्न अर्थ में तृच् और अक का प्रयोग हुआ है उन पदों का षष्ठी के साथ समास हो जाएगा। जैसे इक्षुभक्षिका। यहाँ इक्षूणां भक्षणम्' इस अर्थ में भक्ष् धातु से भाव में ण्वुल् (=वु) प्रत्यय हुआ है। भावार्थक ण्वुल् को अक आदेश

होने पर 'अक' भी भावार्थक हो जाता है। अतः ऐसे प्रयोगों में षष्ठी समास का निषेध नहीं होता है।

पत्यर्थ इति। [प्र०] 'भूभर्ता'—इस प्रयोग में 'ण्वुल्तृचौ'[२८९५] (३.१.१३३) इस सूत्र से तृच् प्रत्यय कर्ता के अर्थ में हुआ है। यहाँ 'तृजकाभ्यां कर्तरि'[७०९] (२.२.१५) इस सूत्र से षष्ठी समास का निषेध प्राप्त था तब 'भूभर्ता' यह समस्त पद कैसे हुआ ? [उ०] पत्यर्थक भर्तृ शब्द का याजकादि गण में पाठ मिलता है अतः 'याजकादिभिश्च'[७०३] (२.२.९) सूत्र से यहाँ 'भर्तृ' का 'भू' के साथ समास हुआ है।

इसी प्रकार 'घटानां निर्मातुः' और त्रिभुवनविधातुः' इन उदाहरणों में कर्ता के अर्थ में तृच् प्रत्यय हुआ है। अत एव 'घटानां निर्मातुः' यहाँ षष्ठी समास का निषेध हुआ है 'त्रिभुवनस्य विधातुः' यहाँ भी षष्ठी समास का निषेध प्राप्त था किन्तु 'तृजकाभ्यां कर्तरि'[७०९] (२.२.१५) यह सूत्र कर्त्रर्थक तृच् और अक का कर्म षष्ठी के साथ ही समास का निषेध करता है। 'त्रिभुवनस्य विधातुः' यहाँ 'त्रिभुवनस्य' में शेष षष्ठी मानकर हम समास कर सकते हैं।

७१०. कर्तरि च (२.२.१६)

कर्तरि षष्ठ्या अकेन न समासः। भवतः शायिका। नेह तृजनुवर्तते। तद्योगे कर्तुरभिहितत्वेन कर्तृषष्ठ्या अभावात्।

अनु०—कर्त्रर्थ में विहित षष्ठी का अक के साथ समास नहीं होता। जैसे—भवतः शायिका। इस सूत्र में 'तृच्' की अनुवृत्ति नहीं होती। कर्त्रर्थक तृच् के योग में कर्तृ-षष्ठी का विधान नहीं है।

व्याख्या—भवतः शायिका। इस वाक्य में 'शायिका' प्रयोग में ण्वुल् प्रत्यय धात्वर्थ निर्देश अर्थात् भाव में हुआ है, कर्ता के अर्थ में नहीं; अतः यहाँ ण्वुल् (वु) को जो अक का आदेश हुआ है वह भी धात्वर्थ का ही निर्देश है अर्थात् भाव अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

ऐसी दशा में 'तृजकाभ्यां कर्तरि'[७०९] (२.२.१५) इस सूत्र से षष्ठी समास का निषेध करना सम्भव नहीं था। यहाँ षष्ठी समास का निषेध करने के लिए 'कर्तरि च'[७१०] (२.२.१६) सूत्र की रचना स्वतःसिद्ध है।

'कर्तरि च'[७१०] (२.२.१६) इस सूत्र में 'तृजकाभ्यां०'[७०९] (२.२.१५) इस सूत्र से केवल 'अक' की अनुवृत्ति होती है, तृच् की नहीं। क्योंकि कर्त्रर्थक तृच् के योग में षष्ठी का विधान नहीं है अतः तृच् के योग में षष्ठी समास की प्राप्ति व उसके निषेध का प्रश्न ही नहीं उठता।

७११. नित्यं क्रीडाजीविकयोः (२.२.५७)

एतयोरर्थयोरकेन नित्यं षष्ठी समस्यते। उद्दालकपुष्पभञ्जिका। क्रीडाविशेषस्य संज्ञा। 'संज्ञायाम्' (सू ३२८६) इति भावे ण्वुल्। जीविकायाम्—दन्तलेखकः। तत्र क्रीडायां विकल्पे, जीविकायां 'तृजकाभ्यां कर्तरि' (सू ७०९) इति निषेधे प्राप्ते वचनम्।

अनु०—क्रीडा और आजीविका अर्थों में अक प्रत्ययान्त शब्द के साथ षष्ठी का नित्य समास होता है। 'उद्दालकपुष्पभञ्जिका' यह क्रीडा विशेष का नाम है। 'संज्ञायाम्' सूत्र से भाव में ण्वुल् प्रत्यय हुआ है। जीविका अर्थ में —दन्तलेखकः। क्रीडा अर्थ में विकल्प प्राप्त होने पर जीविका अर्थ में 'तृजकाभ्यां कर्तरि' से निषेध प्राप्त होने पर इस सूत्र की रचना की गई।

व्याख्या—उद्दालकपुष्पभञ्जिका — यह एक खेल का नाम है। नित्य समास होने के कारण यहाँ स्वपद से विग्रह नहीं होता। उद्दालकपुष्पाणां भञ्जनम्—इस प्रकार अस्वपद विग्रह होगा। भञ्जिका—यहाँ 'संज्ञायाम्'[३२८६] (३.३.१०९) इस सूत्र से भाव में ण्वुल् प्रत्यय हुआ है। यहाँ 'विभाषा'[६६५] (२.१.११) का अधिकार होने से वैकल्पिक षष्ठी समास प्राप्त था। 'नित्यं क्रीडाजीविकयोः'[७११] (२.२.५७) से नित्य समास हुआ है। दन्तलेखकः— आजीविका के अर्थ में यह नित्य समास हुआ है। यहाँ 'दन्तानां लेखनेन जीवति' इस प्रकार अस्वपद से विग्रह होता है।

'लेखकः' इस प्रयोग में कर्ता के अर्थ में ण्वुल् प्रत्यय हुआ है। 'युवोरनाकौ'[१२४७] (७.१.१) इससे कर्त्रर्थक ण्वुल् (=वु) को 'अक' आदेश होकर 'लेखकः' बना है। 'तृजकाभ्यां कर्तरि'[७०९] (२.२.१५) सूत्र से लेखकः के साथ षष्ठ्यन्त दन्त के समास का निषेध प्राप्त था अतः यहाँ समास करने के लिए 'नित्यं क्रीडाजीविकयोः'[७११] (२.२.५७) सूत्र की रचना आवश्यक हुई।

७१२. पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे (२.२.१)

अवयविना सह पूर्वादयः समस्यन्ते, एकत्वसंख्याविशिष्टश्चेदवयवी। षष्ठीसमासापवादः। पूर्वं कायस्य पूर्वकायः। अपरकायः। एकदेशिना किम्—पूर्वं नाभेः कायस्य। एकाधिकरणे किम्—पूर्वश्छात्राणाम्। सर्वोऽप्येकदेशोऽह्ना समस्यते। संख्याविसाय—' (सू२३८) इति ज्ञापकात्। मध्याह्नः। सायाह्नः। केचित्तु सर्वं एकदेशः कालेन समस्यते न त्वह्नैव। ज्ञापकस्य सामान्यापेक्षत्वात्। तेन मध्यरात्रः उपारताः पश्चिमरात्रगोचरा इत्यादि सिद्धमित्याहुः।

अनु०—पूर्व, अपर, अधर और उत्तर इन अवयववाचक शब्दों का अवयवी वाचक शब्द के साथ समास होता है यदि अवयवी एकत्वसंख्यायुक्त (अर्थात् एकवचनान्त) हो। यह सूत्र षष्ठी समास का अपवाद है। पूर्वकायः। अपरकायः।

[प्र०]—सूत्र में 'एकदेशिना' क्यों कहा ? [उ०]—पूर्वं नाभेः कायस्य। (यहाँ पूर्वं और नाभेः का समास न हो)।

[प्र०]—सूत्र में 'एकाधिकरणे' क्यों कहा ? [उ०]—पूर्वश्छात्राणाम् (यहाँ समास न हो)। सभी एकदेश (अवयव) 'अह्न' शब्द के साथ समस्त हो जाते हैं। 'संख्याविसाय०'[२३८] (६.३.११०) इस ज्ञापक से। मध्याह्नः—दिन का मध्य भाग। सायाह्नः—दिन का साय भाग। कुछ (आचार्यों) के मत में सभी एकदेश (अवयव) कालवाची शब्द के साथ ही समस्त हो जाते हैं, केवल 'अह्न' शब्द के साथ ही नहीं क्योंकि 'संख्याविसाय०' इस सूत्र की ज्ञापकता सामान्य है अर्थात् केवल अवयव के

लिये ही नहीं अपितु अवयवी के लिये भी है। इससे मध्यरात्रः, उपारताः पश्चिमरात्रगोचराः इत्यादि सिद्ध हो जाते हैं।

व्याख्या—पूर्व, अपर, अधर और उत्तर इन अवयव वाचक शब्दों का अवयवी-वाचक शब्दों के साथ समास होता है यदि अवयवी एकत्वसंख्यायुक्त अर्थात् एकवचनान्त हो।

एकदेश का अर्थ है अवयव। एकदेशी का अर्थ है अवयवी। अधिकरण का अर्थ है द्रव्य। सूत्र का स्पष्ट अर्थ इस प्रकार होगा— एकत्वसंख्या विशिष्ट द्रव्य में वर्तमान अवयवविवाचक सुबन्त के साथ सुबन्त पूर्व, अपर, अधर और उत्तर शब्दों का समास होता है और उस समास को तत्पुरुष कहते हैं। जैसे—पूर्वकायः।

यहाँ पूर्व कायस्य इस विग्रह में काय (शरीर) अवयवी है और 'पूर्व' अवयव है। अवयवी काय एकत्व संख्या विशिष्ट है। यह सूत्र 'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) सूत्र का अपवाद है। यदि 'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) इस सूत्र से समास होता तब षष्ठ्यन्त पद की उपसर्जन संज्ञा होती और 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) इससे उसका पूर्व प्रयोग होता। पूर्व कायस्य इस विग्रह में 'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) इस सूत्र से समास करने पर 'कायपूर्वः' ऐसा समस्त पद बनता जो कि अभीष्ट नहीं है। 'पूर्वापर०'[७१२] (२.२.१) इस सूत्र से समास करने पर 'पूर्व' शब्द की उपसर्जन संज्ञा होती है क्योंकि 'पूर्वापर'[७१२] (२.२.१) इस समास विधायक सूत्र में 'पूर्व' शब्द प्रथमानिर्दिष्ट है। उपसर्जन संज्ञा होने पर 'पूर्व' का पूर्व प्रयोग हो जाता है। एकदेशिसमास का यही फल है। अपरकायः — यहाँ 'अपरं कायस्य' ऐसा विग्रह करने पर 'पूर्वापराधरोत्तर०'[७१२] (२.२.१) इस सूत्र से अपर का षष्ठ्यन्त 'काय' के साथ समास हुआ है।

[प्र०] एकदेशिना किम्? सूत्र में 'एकदेशिना' (अवयवी के साथ) ऐसा क्यों कहा गया है?

[उ०] यदि हम सूत्र में 'एकदेशिना' इस पद को न रखें तब 'पूर्वं नाभेः कायस्य' यहाँ भी पूर्व और नाभि का समास हो जाएगा जो कि अभीष्ट नहीं है। 'एकदेशिना' इस पद के समावेश से उक्त उदाहरण में समास नहीं होता क्योंकि नाभि एकदेश (अवयव) है, एकदेशी (अवयवी) नहीं। अवयव (नाभि) का अवयव (पूर्व) के साथ समास नहीं होता।

[प्र०] एकाधिकरणे किम्? 'पूर्वापराधरोत्तर०'[७१२] (२.२.१) इस सूत्र में अवयवी एकत्व संख्याविशिष्ट हो, ऐसा क्यों कहा?

[उ०] यदि सूत्र में 'एकाधिकरणे' इसका प्रयोग न करते तब 'पूर्वश्छात्राणाम्' यहाँ भी समास हो जाता। किन्तु सूत्र में 'एकाधिकरणे' इस प्रयोग से उक्त वाक्य में समास नहीं होता, क्योंकि षष्ठ्यन्त अवयवी 'छात्राणाम्' बहुत्व संख्या विशिष्ट है। जहाँ अवयवी बहुवचन में हो वहाँ एकदेशी तत्पुरुष समास नहीं होता।

सर्व इति। सभी एकदेश अर्थात् अवयव 'अह्न' शब्द के साथ समस्त हो जाते हैं। 'संख्याविसाय०'[२३४८] (६.३.११०) यह सूत्र ज्ञापक है।

'संख्याविसाय०'[२३८] (६.३.११०) इस सूत्र से साय शब्द पूर्वक अह्न शब्द को विकल्प से अहन् आदेश होता है। यह तभी सम्भव है जब 'पूर्वापराधरोत्तरम्०'[७१२] (२.२.१) इस सूत्र से एकदेशिसमास होकर साय शब्द का पूर्व प्रयोग हो। किन्तु 'पूर्वापराधरोत्तरम्०'[७१२] (२.२.१) इस सूत्र में साय शब्द का प्रयोग नहीं है। और यदि हम एकदेशिसमास न होने पर 'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) इस सूत्र से समास करते हैं तब षष्ठ्यन्त अह्न पद का पूर्व प्रयोग हो जाता है। ऐसी स्थिति में 'संख्याविसाय०'[२३८] (६.३.११०) यह सूत्र लागू नहीं होता क्योंकि यह सूत्र तभी लागू होता है जब अह्नशब्द से पूर्व साय शब्द हो। इस सूत्र में साय शब्द के चरितार्थ होने के लिए यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि साय और अह्न शब्द का एकदेशिसमास हो। इस प्रकार 'संख्याविसाय०'[२३८] (६.३.११०) इस सूत्र में गृहीत साय शब्द ज्ञापित करता है कि साय और अह्न का एकदेशि समास हो। अब क्योंकि एकदेशिसमास विधायक 'पूर्वापराधरोत्तर०'[७१२] (२.२.१) इस सूत्र में साय का ग्रहण नहीं है अतः 'संख्याविसाय०'[२३८] (६.३.११०) यह सूत्र यह भी सिद्ध करता है कि 'पूर्वापराधरोत्तर०'[७१२] (२.२.१) यह सूत्र न केवल सूत्रोक्त अवयव भूत पूर्व, अपर, अधर, उत्तर शब्दों का ही, किन्तु सूत्र में अनुक्त अवयवभूत अन्य शब्दों का भी अह्न से समास विधान करता है। इस प्रकार 'संख्याविसाय०'[२३८] (६.३.११०) इस ज्ञापक ने अवयवों को सीमा बन्धन से मुक्त कर दिया है।

केचित् इति। कुछ आचार्यों के मत में न केवल अवयव को ही किन्तु अवयवी को भी सीमा से मुक्त कर दिया गया है। इस मत में 'संख्याविसाय०'[२३८] (६.३.११०) इस सूत्र की ज्ञापकता से किसी भी अवयववाचक शब्द का किसी भी कालवाची अवयवी शब्द के साथ समास हो जाता है। इस मत के अनुसार मध्यरात्रः, पश्चिमरात्रः आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

रूपसिद्धिः—पूर्वकायः

लौ० वि०— पूर्व कायस्य। अलौ० वि०— पूर्व अम् काय ङस्।

'पूर्वापराधरोत्तर०'[७१२] (२.२.१) से पूर्व शब्द का अवयवी 'काय' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१०९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् अम् और ङस् प्रत्ययों का लोप (पूर्व काय)। 'प्रथमानिर्दिष्ट०'[६५३] (१.२.४३) से 'पूर्व' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन-संज्ञक 'पूर्व' का पूर्व प्रयोग (पूर्व काय)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (पूर्व काय स्)। शेषं पूर्ववत् (पूर्वकायः)।

अपरकायः

लौ० वि०—अपरं कायस्य। अलौ० वि०—अपर अम् काय ङस्।

'पूर्वापराधरोत्तर०'[७१२] (२.२.१) से 'अपर' शब्द का अवयवी 'काय' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१०९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप्

अर्थात् अम् और ङस् प्रत्ययों का लोप (अपर काय)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से अपर की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'अपर' का पूर्व प्रयोग (अपर काय)। पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्'[१८३] (४.१.२) से सु (अपरकाय सु)। शेषं पूर्ववत् (अपरकायः)।

मध्यरात्रः—

लौ०वि० —रात्रेः मध्यम्। अलौ० वि० —रात्रि ङस् मध्य सु।

'पूर्वापराधरोत्तर०'[७१२] (२.२.१) से 'मध्य' शब्द का 'रात्रि' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस् और सु प्रत्ययों) का लोप (रात्रि मध्य)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'मध्य' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'मध्य' का पूर्व प्रयोग (मध्य रात्रि)। 'अहःसर्वैक०'[८८७] (५.४.८७) से अच् (अ) (मध्य रात्रि अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से इकार लोप (मध्य रात्र् अ)। 'रात्राह्नाहाः पुंसि'[६१४] (२.४.२९) से पुंल्लिङ्ग। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (मध्यरात्र स्)। शेषं पूर्ववत् (मध्यरात्रः)।

पश्चिमरात्रः—

लौ० वि० —रात्रेः पश्चिमम्। अलौ० वि० —रात्रि ङस् पश्चिम सु।

'पूर्वापराधरोत्तर०'[७१२] (२.२.१) से 'पश्चिम' शब्द का 'रात्रि' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङस् और सु प्रत्ययों) का लोप (रात्रि पश्चिम)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'पश्चिम' शब्द की उपसर्जनसंज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'पश्चिम' शब्द का पूर्व प्रयोग (पश्चिम रात्रि)। 'अहः सर्वैक०'[८८७] (५.४.८७) से अच् (अ) प्रत्यय (पश्चिम रात्रि अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से इकार लोप (पश्चिम रात्र् अ)। पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्'[१८३] (४.१.२) से सु (पश्चिमरात्र सु)। शेषं पूर्ववत् (पश्चिमरात्रः)।

७१३. अर्धं नसपुंकम् (२.२.२)

समांशवाच्यर्धशब्दो नित्यं क्लीबे, स प्राग्वत्। 'एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम्' (वा० ६७३)। एकदेशिसमासविषयकोऽयमुपसर्जनसंज्ञानिषेधः। तेन 'पञ्चखट्वी' इत्यादि सिध्यति। अर्धं पिप्पल्या अर्धपिप्पली। क्लीबे किम्—ग्रामार्धः। द्रव्यैक्य एव। अर्धं पिप्पलीनाम्।

अनु०—बराबर आधे भाग का वाचक जो नित्य नपुंसक अर्ध शब्द है उसका सुबन्त के साथ समास होता है। 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' सूत्र में 'अषष्ठ्यन्त' पद का ग्रहण करना चाहिए। एकदेशिसमास में ही यह (वार्त्तिक) उपसर्जन संज्ञा का निषेध करता है। इससे पञ्चखट्वी आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। अर्धपिप्पली—पिप्पली का आधा। नपुंसकलिंग में ही (अर्धशब्द का सुबन्त के साथ समास होता है) ऐसा क्यों

कहा ? ग्रामार्धः (यहाँ समास न हो)। एकत्व-संख्या-विशिष्ट अवयवी होने पर ही (अर्ध शब्द का अवयवी पद के साथ समास होता है। अतः) अर्धं पिप्पलीनाम् (यहाँ समास नहीं हुआ)।

व्याख्या—बराबर आधे भाग के वाचक और नपुंसकलिङ्ग वाची 'अर्ध' शब्द का सुबन्त के साथ समास होता है।

एकविभक्ताविति। 'एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम्' (वा० ६७३) यह वार्त्तिक नियत विभक्तिक षष्ठ्यन्त पदों का 'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४) इस सूत्र से प्राप्त उपसर्जन संज्ञा का निषेध करता है। अर्धं पिप्पल्याः, अर्धेन पिप्पल्याः, अर्धाय पिप्पल्याः इत्यादि विग्रह वाक्यों में पिप्पली शब्द षष्ठ्यन्त होने के कारण नियतविभक्तिक है। 'एकविभक्ति'[६५५] (१.२.४४) से पिप्पली शब्द की उपसर्जन संज्ञा होने पर 'गोस्त्रियो०'[६५६] (१.२.४८) इस सूत्र से ईकार को ह्रस्व प्राप्त हुआ। 'एकविभक्तावषष्ठ्यन्त-वचनम्' (वा० ६७३) से नियतविभक्तिक षष्ठ्यन्त पिप्पली पद का 'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४) इस सूत्र से प्राप्त उपसर्जन संज्ञा का निषेध हो गया।

तेनेति। पञ्चानां खट्वानां समाहारः, पञ्चानां खट्वानां समाहारम्, पञ्चानां खट्वानां समाहारेण इत्यादि विग्रह वाक्यों में 'खट्वा' नियतविभक्तिक षष्ठ्यन्त पद है। यहाँ 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते'[६५५] (१.२.४४) इस सूत्र से खट्वा की उपसर्जन संज्ञा होने पर 'गोस्त्रियो०'[६५६] (१.२.४८) से 'खट्वा' के 'आ' को ह्रस्व प्राप्त हुआ। किन्तु 'एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम्' (वा०६७३) से षष्ठ्यन्त खट्वा की उपसर्जन संज्ञा का निषेध होने पर 'गोस्त्रियो०'[६५६] (१.२.४८) से खट्वा के 'आ' को ह्रस्व नहीं हुआ। ह्रस्व न होने से अदन्त न होने के कारण 'द्विगोः'[४७९] (४.१.२१) इस सूत्र से ङीप् नहीं हो सकता। 'अजाद्यतष्टाप्'[४५४] (४.१.४) से टाप् होकर 'पञ्चखट्वा' होता। तब 'पञ्चखट्वी' कैसे ?

इसका समाधान भट्टोजिदीक्षित ने इस प्रकार किया है। 'एकविभक्ति चापूर्वनि-पाते'[६५५] (१.२.४४) इस सूत्र से विधीयमान उपसर्जन संज्ञा का 'एकविभक्ता०' (वा० ६७३) से षष्ठ्यन्त में जो निषेध किया गया है वह एकदेशिसमास में ही लागू होता है, अन्यत्र नहीं। अर्धपिप्पली में एकदेशिसमास है अतः षष्ठ्यन्त पिपली की 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते'[६५५] (१.२.४४) से उपसर्जन संज्ञा नहीं हुई और 'गोस्त्रियो०'[६५६] (१.२.४८) से ह्रस्व नहीं हुआ। किन्तु 'पञ्चखट्वी' में एकदेशि समास नहीं है, द्विगुसमास है। अतः 'एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम्' (वा०६७३) से प्राप्त उपसर्जन संज्ञा-निषेध लागू नहीं होता। 'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४) से उपसर्जन संज्ञा होने पर 'गोस्त्रियो०'[६५६] (१.२४८) से खट्वा के 'आ' को ह्रस्व हो जाता है तब 'पञ्चखट्व' इस दशा में 'द्विगोः'[४७९] (४.१.२१) इस सूत्र से ङीप् (ई) प्रत्यय होकर पञ्चखट्वी रूप सिद्ध हो जाता है। क्लीबे किमिति। 'अर्धं नपुंसकम्'[७१३] (२.२.२) सूत्र से नपुंसक लिङ्ग में ही 'अर्ध' शब्द का षष्ठ्यन्त के साथ समास होता है, पुंवाचक अर्ध शब्द का नहीं। जैसे अर्धं पिप्पल्याः = अर्धपिप्पली। यहाँ 'अर्ध' शब्द

नपुंसक है, अतः एकदेशिसमास हुआ है। जहाँ अर्ध शब्द पुंल्लिङ्ग है जैसे ग्रामस्य अर्धः = ग्रामार्धः वहाँ एकदेशिसमास नहीं होता। 'ग्रामार्धः' यह षष्ठी तत्पुरुष का उदाहरण है।

द्रव्यैक्य एव इति। 'अर्धं नपुंसकम्'[७१३] (२.२.२) सूत्र में 'पूर्वापराधरोत्तर०'[७१२] (२.२.१) सूत्र से 'एकाधिकरणे' की अनुवृत्ति हुई है। इसका अर्थ होगा कि समांशवाची नपुंसक अर्ध शब्द का सुबन्त पद के साथ समास होता है जबकि वह एकत्व संख्याविशिष्ट हो। जब सुबन्त पद बहुत्व संख्या विशिष्ट हो तो वहाँ एकदेशि समास नहीं होता। जैसे 'अर्धं पिप्पलीनाम्' यहाँ 'पिप्पलीनाम्' यह षष्ठचन्त पद बहुत्व संख्या विशिष्ट है अतः यहाँ एकदेशिसमास नहीं हुआ।

७१४. द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्याम् (२.२.३)

एतान्येकदेशिना सह प्राग्वद्वा। द्वितीयं भिक्षाया द्वितीयभिक्षा। 'एकदेशिना' किम्—द्वितीयं भिक्षाया भिक्षुकस्य। अन्यतरस्याङ्ग्रहणसामर्थ्यात् 'पूरणगुण-' (सू ७०५) इति निषेधं बाधित्वा पक्षे षष्ठीसमासः। भिक्षाद्वितीयम्।

अनु०—द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और तुर्य शब्दों का अवयवी के साथ विकल्प से समास होता है। द्वितीयभिक्षा—भिक्षा का दूसरा भाग। अवयवी के साथ (समास हो) ऐसा क्यों कहा? द्वितीयं भिक्षाया भिक्षुकस्य (यहाँ द्वितीय का भिक्षुक के साथ समास न हो)। (सूत्र में) 'अन्यतरस्याम्' पद का ग्रहण करने के सामर्थ्य से 'पूरणगुण०'[७०५] (२.२.११) इस निषेध को बाधित करके पक्ष में षष्ठी समास होता है। भिक्षाद्वितीयम्—भिक्षा का द्वितीय।

व्याख्या—द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और तुर्य शब्दों का अवयवी के साथ विकल्प से समास होता है। जैसे 'द्वितीयं भिक्षायाः' इस विग्रह वाक्य में भिक्षा अवयवी है, उसका 'द्वितीयम्' के साथ एकदेशिसमास होता है।

एकदेशिना किमिति। सूत्र में 'एकदेशिना' पद का ग्रहण किया गया है। द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और तुर्य शब्दों का जिस सुबन्त पद के साथ समास होता है उस सुबन्त पद को अवश्य ही अवयवी होना चाहिए। अन्यथा एकदेशिसमास नहीं होता। जैसे द्वितीयं भिक्षायाः भिक्षुकस्य। इसका अर्थ है कि भिक्षा का जो द्वितीय उसका स्वामी भिक्षुक। यहाँ 'भिक्षायाः' यह अवयव षष्ठी है, इसका सम्बन्ध 'द्वितीयम्' इसके साथ है; द्वितीय का भिक्षुक के साथ भी समास नहीं होता क्योंकि द्वितीय के प्रति भिक्षुक एकदेशि (अवयवी) पद नहीं है।

अन्यतरस्यामिति। 'द्वितीयतृतीय०'[७१४] (२.२.३) इस सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' का प्रयोग है। इसका अर्थ है कि द्वितीय तृतीय आदि शब्दों का षष्ठ्यन्त पद के साथ जो समास होता है वह विकल्प से होता है। जहाँ एकदेशिसमास नहीं होता वहाँ 'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) से षष्ठी समास हो जाता है। जैसे भिक्षाद्वितीयम्—भिक्षायाः द्वितीयम्।

'पूरणगुण०'७०५ (२.२.११) इस सूत्र से पूरण-प्रत्ययान्त द्वितीय शब्द का षष्ठ्यन्त भिक्षा के साथ तत्पुरुष समास सम्भव नहीं था किन्तु 'द्वितीयतृतीय०'७१४ (२.२.३) इस सूत्र स्थित 'अन्यतरस्याम्' इस पद के बल से तत्पुरुष समास हो जाता है।

रूपसिद्धिः--द्वितीयभिक्षा

लौ० वि० — द्वितीयं भिक्षायाः। अलौ० वि०—द्वितीय अम् भिक्षा ङस्।

'द्वितीयतृतीय०'७१४ (२.२.३) से 'द्वितीय' का अवयवी 'भिक्षा' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'१७९ (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'६५० (२.४.७१) से सुप् अर्थात् अम् और ङस् प्रत्ययों का लोप (द्वितीय भिक्षा)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'६५३ (१.२.४३) से 'द्वितीय' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'६५४ (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'द्वितीय' का पूर्व प्रयोग (द्वितीय भिक्षा)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'१८३ (४.१.२) से सु (द्वितीय भिक्षा सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'२५२ (६.१.६८) से सु लोप (द्वितीयभिक्षा)।

भिक्षाद्वितीयम्—

लौ० वि०—भिक्षायाः द्वितीयम्। अलौ० वि०—भिक्षा ङस् द्वितीय सु।

'द्वितीयतृतीय०'७१४ (२.२.३) सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण के फलस्वरूप 'पूरणगुण०'७०५ (२.२.११) से प्राप्त निषेध को बाध कर 'षष्ठी'७०२ (२.२.८) से 'भिक्षा' का 'द्वितीय' पद के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'१७९ (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'६५०(२.४.७१) से सुप् अर्थात् ङस् और सु प्रत्ययों का लोप (भिक्षा द्वितीय) 'प्रथमानिर्दिष्ट०'६५३ (१.२.४३) से 'भिक्षा' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'६५४ (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'भिक्षा' शब्द का पूर्व प्रयोग (भिक्षा द्वितीय)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'१८३ (४.१.२) से सु (भिक्षा द्वितीयं सु)। 'स नपुंसकम्'८२१ (२.४.१७) से नपुंसक। 'अतोऽम्'३०९ (७.१.२४) से सु को अम् (भिक्षाद्वितीय अम्)। 'अमि पूर्वः'१९४ (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप (भिक्षाद्वितीयम्)।

७१५. प्राप्तापन्ने च द्वितीयया (२.२.४)

पक्षे 'द्वितीया श्रिता–' (सू० ६८६) इति समासः। प्राप्तो जीविकां प्राप्तजीविकः, जीविकाप्राप्तः। आपन्नजीविकः, जीविकापन्नः। इह सूत्रे 'द्वितीयया अ' इति छित्त्वा अकारोऽपि विधीयते। तेन जीविकां प्राप्ता स्त्री प्राप्तजीविका। आपन्नजीविका।

अनु०--(प्राप्त और आपन्न शब्द का द्वितीयान्त पद के साथ समास होता है।) पक्ष में 'द्वितीया श्रित०'६८६ (२.१.२४) सूत्र से समास होता है। प्राप्तजीविकः–जीविका को प्राप्त। पक्ष में–जीविकाप्राप्तः। आपन्नजीविकः–जीविका को प्राप्त। पक्ष में–जीविकापन्नः। इस सूत्र में 'द्वितीयया अ' ऐसा पदच्छेद करके (प्राप्ता और आपन्ना के आकार

के स्थान पर) अकार भी हो जाता है। इस (पदच्छेद) से प्राप्तजीविका रूप बनता है। आपन्नजीविका–जीविका को प्राप्त (स्त्री)।

व्याख्या—प्राप्त और आपन्न शब्द का द्वितीयान्त पद के साथ समास हो जाता है।

प्राप्तजीविकः—प्राप्तः जीविकाम् इस विग्रह में 'प्राप्त' शब्द का द्वितीयान्त 'जीविका' शब्द के साथ समास होता है। इसी प्रकार आपन्नो जीविकाम्–इस विग्रह में आपन्नजीविकः।

'प्राप्तापन्ने०'[७१५] (२.२.४) इस सूत्र में 'द्वितीयतृतीय०'[७१४] (२.२.३) इस सूत्र से 'अन्यतरस्याम्' इस पद की अनुवृत्ति होती है। इस अनुवृत्ति के कारण प्राप्त और आपन्न शब्दों का द्वितीया के साथ विकल्प से एकदेशिसमास होता है। जहाँ एकदेशिसमास नहीं होता वहाँ 'द्वितीया श्रिता०'[६८६] (२.१.२४) इस सूत्र से द्वितीया तत्पुरुष होता है। यहाँ द्वितीयान्त पद का पूर्व प्रयोग होकर 'जीविकाप्राप्तः,' 'जीविकापन्नः' रूप बनते हैं।

स्त्रीप्रत्ययान्त 'प्राप्ता और 'आपन्ना' के साथ जब द्वितीयान्त पद का समास होता है तब प्राप्ता और आपन्ना के अन्तिम 'आ' को 'प्राप्तापन्ने०'[७१५] (२.२.४) इस सूत्र से 'अ' हो जाता है। प्राप्तजीविका और आपन्नजीविका—रूप बनते हैं।

आकार को अकारादेश करने के लिए 'प्राप्तापन्ने च द्वितीयया'[७१५] (२.२.४) इस सूत्र में 'द्वितीयया' का 'द्वितीयया अ' पदच्छेद करते हैं। इस प्रकार स्त्रीवाचक 'प्राप्ता' और 'आपन्ना' शब्द अकारान्त होकर प्राप्त और आपन्न हो जाते हैं।

रूपसिद्धिः—प्राप्तजीविकः

लौ० वि०—प्राप्तः जीविकाम्। अलौ० वि०—प्राप्त सु जीविका अम्।

'प्राप्तापन्ने०'[७१५] (२.२.४) से 'प्राप्त' का द्वितीयान्त 'जीविका' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् सु और अम् प्रत्ययों का लोप (प्राप्तजीविका)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'प्राप्त' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'प्राप्त' का पूर्व प्रयोग (प्राप्तजीविका)। 'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४) से 'जीविका' की उपसर्जन संज्ञा। 'गोस्त्रियो०'[६५६] (१.२.४८) से जीविका के 'आ' को ह्रस्व (प्राप्तजीविक)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[४८३] (४.१.२) से सु (स्) (प्राप्तजीविक स्)। शेषं पूर्ववत् (प्राप्तजीविकः)।

पक्ष में—जीविकाप्राप्तः

लौ० वि०—जीविकां प्राप्तः। अलौ० वि०—जीविका अम् प्राप्त सु।

'द्वितीया श्रिता०'[६८६] (२.१.२४) से द्वितीयान्त 'जीविका' शब्द का 'प्राप्त' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् अम् और सु प्रत्ययों का लोप (जीविका प्राप्त)। 'प्रथमा-

निर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४६) से 'जीविका' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'जीविका' का पूर्व प्रयोग (जीविका प्राप्त)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (जीविका प्राप्त स्)। शेषं पूर्ववत् (जीविकाप्राप्तः)।

आपन्नजीविकः

लौ० वि०—आपन्नः जीविकाम्। अलौ० वि०—आपन्न सु जीविका अम्।

प्राप्तापन्ने०'[७१५] (२.२.४) से 'आपन्न' शब्द का द्वितीयान्त 'जीविका' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् सु और अम् प्रत्ययों का लोप (आपन्न जीविका)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'आपन्न' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'आपन्न' का पूर्व प्रयोग (आपन्न जीविका)। 'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४)) से 'जीविका' की उपसर्जन संज्ञा। 'गोस्त्रियो०'[६५६] (१.२.४८) से जीविका के 'आ' को ह्रस्व (आपंन्न जीविक)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा।'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (आपन्न जीविक स्) शेषं पूर्ववत् (आपन्नजीविकः)।

पक्ष में —**जीविकापन्नः**

लौ० वि०—जीविकाम् आपन्नः। अलौ० वि०—जीविका अम् आपन्न सु।

'द्वितीया श्रिता०'[६८६] (२.१.२४) से द्वितीयान्त 'जीविका' शब्द का 'आपन्न' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् अम् और सु प्रत्ययों का लोप (जीविका आपन्न)। 'अकः सवर्णे०'[८१] (६.१.१०२) से सवर्ण दीर्घ (जीविकापन्न)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (जीविकापन्न स्)। शेषं पूर्ववत् (जीविकापन्नः)।

७१६ कालाः परिमाणिना (२.२.५)

परिच्छेद्यवाचिना सुबन्तेन सह कालाः समस्यन्ते। मासो जातस्य मासजातः। द्व्यहजातः। द्वयोरह्नोः समाहारो द्व्यहः। द्व्यहो जातस्य इति विग्रहे 'उत्तरपदेन परिमाणिना द्विगोः सिद्धये बहूनां तत्पुरुषस्योपसंख्यानम्' (वा० १२८८)। द्वे अहनी जातस्य यस्य स द्व्यह्नजातः। 'अह्नोऽह्न-' (सू० ७९०) इति वक्ष्यमाणोऽह्नादेशः। पूर्वत्र तु 'न संख्यादेः समाहारे' (सू० ७९३) इति निषेधः।

अनु०—परिमेयवाची सुबन्त के साथ कालवाची शब्दों का समास होता है। मासजातः=जिसे जन्म लिये हुए एक महीना हुआ है। द्व्यहजातः—दो दिनों का समाहार =द्व्यहः। द्व्यहो जातस्य (= जिसे पैदा हुए दो दिन हुए हैं) इस विग्रह

में द्वयहजातः। किन्तु द्वे अहनी जातस्य यस्य इस विग्रह में 'उत्तरपदे—' इस वार्त्तिक से त्रिपदतत्पुरुष समास हुआ और 'अह्नोऽह्नः'[७९०] (५.४.८८) से अहन् को अह्न आदेश=द्वयह्नजातः। पहले उदाहरण (द्वयहजातः) में 'न संख्यादे०:'[७९३] (५.४.८९) से अहन् को अह्न आदेश का निषेध है।

व्याख्या—परिमेय वाची सुबन्त के साथ मास आदि काल वाची शब्दों का समास होता है। जैसे मासजातः—मासो जातस्य। यहाँ परिमेयवाची 'जात' शब्द का कालवाची 'मास' शब्द के साथ समास हुआ है।

द्वयहजातः—द्वयहो जातस्य। यहाँ 'तद्धितार्थ०'[७२८] (२.१.५१) से समाहार में द्विगु है।

प्रायः तत्पुरुष में दो पदों का ही समास होता है किन्तु कहीं कहीं तीन पदों का भी समास होता है जैसे द्वयह्नजातः। 'द्वे अहनी जातस्य' यह लौकिक विग्रह है। पहले दो पदों 'द्वे' और 'अहनी' की द्विगु संज्ञा होती है। द्विगु भी तत्पुरुष का भेद है। और जब द्विगु समासान्त द्वयह पद का जात शब्द के साथ समास होता है तब उसकी तत्पुरुष संज्ञा होती है। इसके लिए वार्त्तिक है —'उत्तरपदेन परिमाणिना द्विगोः सिद्धये बहूनां तत्पुरुषस्योपसंख्यानम्' (वा० १२८८)।

परिमाणवाचक उत्तरपद के होने पर द्विगु समासान्त शब्दों का अन्य शब्दों के साथ जो समास होता है वह तत्पुरुष होगा। 'द्वयह्नजातः' में 'द्वयह्न' द्विगुसमासान्त है, इसका 'जात' के साथ जो समास होता है उसकी तत्पुरुष संज्ञा होती है।

द्वे अहनी जातस्य यस्य स द्वयह्नजातः। 'द्वयह्नजातः' शब्द में 'अहन्' को अह्न आदेश हुआ है। किन्तु 'द्वयहजातः' में 'अह्नोऽह्न०'[७९०] (५.४.८८) इस सूत्र से प्राप्त 'अहन्' को 'अह्न' आदेश का 'न संख्यादेः समाहारे'[७९३] (५.४.८९) इस सूत्र से निषेध हुआ है। समाहार द्वन्द्व में अहन् को अह्न आदेश नहीं होता। उक्त शब्द 'द्वयह' में समाहार द्वन्द्व है। इसका विग्रह 'द्वयोरह्नोः समाहारः' इस प्रकार है। समाहार द्वन्द्व होने के कारण ही 'अहन्' को 'अह्न' आदेश का निषेध हुआ है।

रूपसिद्धिः— मासजातः

लौ० वि०—मासो जातस्य। अलौ० वि०—मास सु जात ङस्।

'कालाः०'[७१६] (२.२.५) से कालवाची 'मास' शब्द का 'जात' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१०९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् सु और ङस् प्रत्ययों का लोप (मास जात)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'मास' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'मास' शब्द का पूर्व प्रयोग (मास जात)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (मास जात स्)। **शेषं पूर्ववत् (मासजातः)।**

द्व्यहजातः—

लौ० वि०—द्व्यहो जातस्य। अलौ० वि०—द्व्यह सु जात ङस्।

'काला०'[७१६] (२.२.५) सूत्र से काल वाचक 'द्व्यह' शब्द का 'जात' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् सु और ङस् प्रत्ययों का लोप (द्व्यह जात)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से कालवाचक 'द्व्यह' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'द्व्यह' का पूर्व प्रयोग (द्व्यह जात)। 'एकदेशविकृत-मनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (द्व्यह जात स्)। शेषं पूर्ववत् (द्व्यहजातः)।

द्व्यह्नजातः—

लौ०वि०—द्वे अहनी जातस्य। अलौ० वि०—द्वि औ अहन् औ जात ङस्।

'कालाः'[७१६] (२.२.५) सूत्र पर 'उत्तरपदेन परिमाणिना०' (वा० १२८८) के बल पर 'द्व्यह्न' का 'जात' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (औ, औ और ङस् प्रत्ययों) का लोप (द्वि अहन् जात)। 'इको यणचि'[४७] (६.१.७७) से 'इ' को 'य्' (द्व्यहन् जात)। 'तद्धितार्थोत्तर०'[७२८] (२.१.५१) सूत्र से 'द्वि' का अहन् के साथ द्विगु समास। 'राजाहःसखिभ्य०'[७८८] (५.४.९१) से टच् (अ) (द्व्यहन् अ जात)। 'अह्नोऽह्न०'[७९०] (५.४.८८) से 'अहन्' को अह्न आदेश (द्व्यह्न जात)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा।'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (द्व्यह्न जात स्)। शेषं पूर्ववत् (द्व्यह्नजातः)।

७१७. सप्तमी शौण्डैः (२.१.४०)

सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः प्राग्वद्वा। अक्षेषु शौण्डोऽक्षशौण्डः। अधिशब्दोऽत्र पठ्यते। 'अध्युत्तरपदात्-' (सू २०७९) इति खः। ईश्वराधीनः।

अनु०—सप्तम्यन्त पद का शौण्ड आदि शब्दों के साथ समास होता है। अक्षशौण्डः—द्यूत में प्रवीण। शौण्डादि गण में 'अधि' शब्द का पाठ मिलता है। 'अध्युत्तरपदात्०'[२०७९] (५.४.७) सूत्र से ख प्रत्यय। ईश्वराधीनः—ईश्वर के अधीन।

व्याख्या—शौण्डादि एक गण है जिसमें शौण्ड, धूर्त, कितव, व्याड, प्रवीण, संवति, अन्तर, अधि,पटु, पण्डित, कुशल, चपल, निपुण शब्द हैं। अधि इति। शौण्डादि गण में 'अधि' शब्द का पाठ मिलता है। अतः 'अधि' शब्द के साथ भी सप्तम्यन्त का समास होता है। जैसे ईश्वरे अधि=ईश्वराधीनः। यहाँ 'अधि' शब्द का सप्तम्यन्त 'ईश्वर शब्द के साथ समास हुआ है।

रूपसिद्धिः—अक्षशौण्डः

लौ० वि०—अक्षेषु शौण्डः। अलौ० वि०—अक्ष सुप् शौण्ड सु।

'सप्तमी शौण्डैः'[७२७] (२.१.४०) से सप्तम्यन्त 'अक्ष' शब्द का 'शौण्ड' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (सुप् और सु प्रत्ययों) का लोप (अक्ष शौण्ड)। 'प्रथमानिर्दिष्टं'[६५३] (१.२.४३) से सप्तम्यन्त 'अक्ष' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'अक्ष' का पूर्व प्रयोग (अक्ष शौण्ड)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (अक्ष शौण्ड स्)। शेषं पूर्ववत् (अक्षशौण्डः)।

ईश्वराधीनः—

लौ० वि०— ईश्वरे अधि। अलौ० वि०—ईश्वर ङि अधि।

'सप्तमी शौण्डैः'[७२७] (२.१.४०) से सप्तम्यन्त 'ईश्वर' शब्द का 'अधि' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङि प्रत्यय) का लोप (ईश्वर अधि)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'ईश्वर' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'ईश्वर' शब्द का पूर्व प्रयोग (ईश्वर अधि)। 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (ईश्वराधि)। 'अषडक्ष०'[२०७९] (५.४.७) से 'ख' प्रत्यय (ईश्वराधि ख)। 'आयनेयी०'[४७५] (७.१.२) से 'ख' को 'ईन' (ईश्वराधि ईन)। 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (ईश्वराधीन)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (ईश्वराधीन स्)। शेषं पूर्ववत् (ईश्वराधीनः)।

७१८. सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च (२.१.४१)

एतैः सप्तम्यन्तं प्राग्वत्। सांकाश्यसिद्धः। आतपशुष्कः। स्थालीपक्वः। चक्रबन्धः।

अनु०—सिद्ध, शुष्क, पक्व, बन्ध शब्दों के साथ सप्तम्यन्त पद का समास होता है। सांकाश्यसिद्धः—सांकाश्य (नगर) में तैयार हुआ। आतपशुष्क—धूप में सूखा हुआ। स्थालीपक्वः—पतीली में पका हुआ। चक्रबन्धः—पहिये में बंधा हुआ।

रूपसिद्धिः—सांकाश्यसिद्धः—

लौ० वि०—सांकाश्ये सिद्धः। अलौ० वि०—सांकाश्य ङि सिद्ध सु।

'सिद्धशुष्क०'[७२८] (२.१.४१) से सप्तम्यन्त 'सांकाश्य' शब्द का 'सिद्ध' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङि. और सु प्रत्ययों) का लोप (सांकाश्य सिद्ध)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'सांकाश्य' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'सांकाश्य' शब्द का पूर्व प्रयोग (सांकाश्य सिद्ध)। 'एकदेशविकृत-मनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (सांकाश्य सिद्ध स्)। शेषं पूर्ववत् (सांकाश्यसिद्धः)।

आतपशुष्कः

लौ० वि०—आतपे शुष्कः। अलौ० वि०—आतप ङि शुष्क सु।

'सिद्धशुष्क०'[७१८] (२.१.४१) से सप्तम्यन्त 'आतप' शब्द का 'शुष्क' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङि और सु प्रत्ययों) का लोप (आतप शुष्क)। 'प्रथमानिर्दिष्टं'[६५३] (१.२.४३) से 'आतप' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'आतप' शब्द का पूर्व प्रयोग (आतप शुष्क)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (आतप शुष्क स्)। शेषं पूर्ववत् (आतपशुष्कः)।

स्थालीपक्वः

लौ० वि०—स्थाल्यां पक्वः। अलौ० वि०—स्थाली ङि पक्व सु।

'सिद्धशुष्क०'[७१८] (२.१.४१) से सप्तम्यन्त 'स्थाली' शब्द का 'पक्व' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङि और सु प्रत्ययों) का लोप (स्थाली पक्व)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'स्थाली' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'स्थाली' शब्द का पूर्व प्रयोग (स्थाली पक्व)। 'एकदेशविकृत-मनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (स्थाली पक्व स्)। शेषं पूर्ववत् (स्थालीपक्वः)।

चक्रबन्धः

लौ० वि०—चक्रे बन्धः। अलौ० वि०—चक्र ङि बन्ध सु।

'सिद्धशुष्क०'[७१८] (२.१.४१) से सप्तम्यन्त 'चक्र' शब्द का 'बन्ध' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङि और सु प्रत्ययों) का लोप (चक्रबन्ध)। 'प्रथमानिर्दिष्टं'[६५३] (१.२.४३) से 'चक्र' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'चक्र' शब्द का पूर्व प्रयोग (चक्रबन्ध)। 'एकदेश-विकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (चक्रबन्ध स्)। शेषं पूर्ववत् (चक्रबन्धः)।

७१९. ध्वाङ्क्षेण क्षेपे (२.१.४२)

ध्वाङ्क्षवाचिना सह सप्तम्यन्तं समस्यते निन्दायाम्। तीर्थे ध्वाङ्क्ष इव तीर्थ-ध्वाङ्क्षः। तीर्थकाकः।

अनु०—'कौआ' इस अर्थ के वाचक शब्द के साथ सप्तम्यन्त पद का समास होता है निन्दा के अर्थ में। तीर्थध्वाङ्क्षः—तीर्थ में कौए के समान। तीर्थकाकः—तीर्थ में कौए के समान।

व्याख्या—'तीर्थध्वाङ्क्षः' और 'तीर्थकाकः'—दोनों अस्थायी छात्र के लिए प्रयुक्त हुए हैं। दोनों पदों से निन्दा का बोध होता है।

रूपसिद्धिः—तीर्थध्वाङ्क्षः

लौ० वि०—तीर्थे ध्वाङ्क्षः। अलौ० वि०—तीर्थ ङि ध्वाङ्क्ष सु।

'ध्वाङ्क्षेण०'[७१९] (२.१.४२) से निन्दा अर्थ में सप्तम्यन्त 'तीर्थ' शब्द का 'ध्वाङ्क्षे' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङि और सु प्रत्ययों) का लोप (तीर्थ ध्वाङ्क्ष)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'तीर्थ' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'तीर्थ' शब्द का पूर्व प्रयोग (तीर्थ ध्वाङ्क्ष)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (तीर्थ ध्वाङ्क्ष स्)। शेषं पूर्ववत् (तीर्थध्वाङ्क्षः)।

तीर्थकाकः

लौ० वि०—तीर्थे काकः। अलौ० वि०—तीर्थ ङि काक सु।

'ध्वाङ्क्षेण०'[७१९] (२.१.४२) से निन्दा अर्थ में सप्तम्यन्त 'तीर्थ' शब्द का 'काक' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङि और सु प्रत्ययों) का लोप (तीर्थ काक)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'तीर्थ शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'तीर्थ' शब्द का पूर्व प्रयोग (तीर्थ काक)। 'एकदेश-विकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (तीर्थ काक स्)। शेषं पूर्ववत् (तीर्थकाकः)।

७२०. कृत्यैर्ऋणे (२.१.४३)

सप्तम्यन्तं कृत्यप्रत्ययान्तैः सह प्राग्वदावश्यके। मासेदेयम् ऋणम्। ऋणग्रहणं नियोगोपलक्षणार्थम्। पूर्वाह्णे गेयं साम।

अनु०—कृत्यप्रत्ययान्त शब्दों के साथ सप्तम्यन्त पद का समास होता है आवश्यक अर्थ में। मासेदेयम् ऋणम्—महीने में अनिवार्य रूप से देने योग्य ऋण। 'आवश्यक' इस अर्थ को सूचित करने के लिए (सूत्र में) 'ऋण' शब्द का ग्रहण किया है। पूर्वाह्णे गेयं साम—दिन के पूर्व भाग में गान के योग्य साम।

व्याख्या—ऋणग्रहणमिति। 'कृत्यैर्ऋणे'[७२०] (२.१.४३) सूत्र में 'ऋण' पद का प्रयोग हुआ है। यह पद 'आवश्यक कर्तव्य' इस अर्थ को सूचित करता है।

'पूर्वाह्णे गेयं साम' इस उदाहरण में 'ऋण' का अर्थ नहीं है किन्तु 'आवश्यक कर्तव्य' यह अर्थ प्रकट होता है।

'कृत्यैर्ऋणे'[७२०] (२.१.४३) सूत्र में कहा है कि कृत्यप्रत्ययान्त पदों के साथ सप्तम्यन्त पद का समास होता है। यहाँ कृत्य प्रत्यय से केवल 'यत्' प्रत्यय का ही ग्रहण

होता है। अतः 'पूर्वाह्णे दातव्या भिक्षा' इस वाक्य में 'पूर्वाह्णे दातव्या' इन दो पदों का समास नहीं हुआ।

रूपसिद्धिः—मासेदेयम्

लौ० वि०—मासे देयम्। अलौ० वि०—मास ङि देय सु।

'कृत्यैर्ऋणे'[७२०] (२.१.४३) से 'आवश्यक' अर्थ में सप्तम्यन्त 'मास' शब्द का कृत्यप्रत्ययान्त 'देय' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (सु प्रत्यय) का लोप (मास ङि देय)। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से प्राप्त 'ङि' लोप का 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्'[७७२] (६.३.१४) से निषेध। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'मास ङि' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'मास ङि' का पूर्व प्रयोग (मास ङि देय)। 'लशक्वतद्धिते'[१९५] (१.३.८) से ङि के ङ् की इत्संज्ञा। 'तस्य लोपः'[६२] (१.३.९) से ङ् का लोप (मास इ देय)। 'आद् गुणः'[६९] (६.१.८७) से गुण (मासे देय)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (मासे देय सु)। 'अतोऽम्'[७०९] (७.१.२४) से सु को 'अम्' (मासे देय अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से 'अम्' के 'अ' को पूर्वरूप (मासेदेयम्)।

पूर्वाह्णेगेयम्

लौ० वि०—पूर्वाह्णे गेयम्। अलौ० वि०—पूर्वाह्ण ङि गेय सु।

'कृत्यैर्ऋणे'[७२०] (२.१.४३) से 'आवश्यक' अर्थ में सप्तम्यन्त 'पूर्वाह्ण' शब्द का कृत्यप्रत्ययान्त 'गेय' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (सु प्रत्यय) का लोप (पूर्वाह्ण ङि गेय)। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से प्राप्त 'ङि' लोप का 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्'[७७२] (६.३.१४) से निषेध। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'पूर्वाह्ण ङि' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'पूर्वाह्ण ङि' का पूर्व प्रयोग (पूर्वाह्ण ङि गेय)। 'लशक्वतद्धिते'[१९५] (१.३.८) से ङि के 'ङ्' की इत्संज्ञा। 'तस्य लोपः'[६२] (१.३.९) से 'ङ्' का लोप (पूर्वाह्ण इ गेय)। 'आद् गुणः'[६९] (६.१.८७) से गुण (पूर्वाह्णेगेय)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (पूर्वाह्णेगेय सु)। शेषं पूर्ववत् (पूर्वाह्णेगेयम्)।

७२१. संज्ञायाम् (२.१.४४)

सप्तम्यन्तं सुपा प्राग्वत् संज्ञायाम्। वाक्येन संज्ञानवगमान्नित्यसमासोऽयम्। अरण्ये-तिलकाः। वनेकशेरुकाः। 'हलदन्तात्सप्तम्याः—' (सू ९६६) इत्यलुक्।

अनु०—सुबन्त पद के साथ सप्तम्यन्त पद का समास होता है संज्ञा के अर्थ में।

विग्रह वाक्य से संज्ञा का बोध नहीं होता अतः यहाँ नित्य समास होगा। अरण्येतिलकाः—जंगली तिल। वनेकशेरुकाः—अर्थात् जो वस्तु अकस्मात् मिल जाये। 'हलदन्तात्सप्तम्या०'[९९६] (६.३.९) से सप्तमी लोप का निषेध हुआ है।

रूपसिद्धिः—अरण्येतिलकाः

लौ० वि०—अरण्येतिलकाः। अलौ० वि०—अरण्य ङि तिलक जस्।

'संज्ञायाम्'[७२१] (२.१.४४) से संज्ञा के अर्थ में सप्तम्यन्त 'अरण्य' शब्द का 'तिलक' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (जस् प्रत्यय) का लोप (अरण्य ङि तिलक)। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से ङि का लोप प्राप्त था किन्तु 'हलदन्तात्सप्तम्या०'[९९६] (६.३.९) से सप्तमी विभक्ति 'ङि' लोप का निषेध। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'अरण्य ङि' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'अरण्य ङि' का पूर्व प्रयोग (अरण्य ङि तिलक)। 'लशक्वतद्धिते'[१९५] (१.३.८) से ङि के 'ङ' की इत्संज्ञा। 'तस्य लोपः'[६२] (१.३.९) से 'ङ' का लोप (अरण्य इ तिलक)। 'आद्गुणः'[६९] (६.१.८७) से गुण (अरण्येतिलक)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से प्रथमाविभक्ति बहुवचन में जस् (अस्) प्रत्यय (अरण्ये तिलक अस्)। 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः'[१६४] (६.१.१०२) से पूर्वसवर्ण दीर्घ (अरण्येतिलका स्)। शेषं पूर्ववत् (अरण्येतिलकाः)।

वनेकशेरुकाः

लौ० वि०—वने कशेरुकाः। अलौ० वि०—वन ङि कशेरुक जस्।

'संज्ञायाम्'[७२१] (२.१.४४) से संज्ञा के अर्थ में सप्तम्यन्त 'वन' शब्द का 'कशेरुक' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (जस् प्रत्यय) का लोप (वन ङि कशेरुक)। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से 'ङि' लोप प्राप्त था किन्तु 'हलदन्तात्सप्तम्या०'[९९६] (६.३.९) से सप्तमी विभक्ति 'ङि' लोप का निषेध। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'वन ङि' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'वन ङि' का पूर्व प्रयोग (वन ङि कशेरुक)। 'लशक्वतद्धिते'[१९५] (१.३.८) से 'ङि' के 'ङ' की इत्संज्ञा। 'तस्य लोपः'[६२] (१.३.९) से 'ङ' का लोप (वन इ कशेरुक)। 'आद्गुणः'[६९] (६.१.८७) से गुण (वनेकशेरुक)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से प्रथमा विभक्ति बहुवचन में जस् (अस्) प्रत्यय (वनेकशेरुक अस्)। शेषं पूर्ववत् (वनेकशेरुकाः)।

७२२. क्तेनाहोरात्रावयवाः (२.१.४५)

अह्नो रात्रेश्चावयवाः सप्तम्यन्ताः क्तान्तेन सह प्राग्वत्। पूर्वाह्णकृतम्, अपररात्रकृतम्। अवयवग्रहणं किम्—अह्नि दृष्टम्।

अनु०—अहन् और रात्रि के सप्तम्यन्त अवयवों का क्तान्त पद के साथ समास

होता है। जैसे--पूर्वाह्णकृतम्--दोपहर के पहिले किया गया। अपररात्रकृतम्--रात्रि के अन्तिम भाग में किया गया। (सूत्र में) 'अवयव' का ग्रहण क्यों किया? अह्नि दृष्टम्--दिन में देखा गया (यहाँ समास न हो)।

व्याख्या--'क्तेनाहो०'[७२२] (२.१.४५) सूत्र से जहाँ दिन व रात्रि के भाग का बोध होता है वहीं समास होता है। जैसे 'पूर्वाह्णकृतम्' में 'पूर्वाह्ण' शब्द से दिन के पूर्व भाग का, 'अपररात्रकृतम्' में 'अपररात्र' शब्द से रात्रि के पश्चिम भाग का बोध होता है, अतः 'पूर्वाह्णकृतम्' में और 'अपररात्रकृतम्' में समास हुआ है।

जहाँ दिन व रात्रि के भाग का बोध नहीं होता अपितु पूर्ण का बोध होता है वहाँ समास नहीं होता। जैसे अह्नि दृष्टम्।

यहाँ 'अह्नि' पद से 'दिन' का बोध होता है, दिन के किसी भाग का नहीं। अतः 'अह्नि' पद का 'दृष्टम्' के साथ समास नहीं हुआ।

रूपसिद्धिः--पूर्वाह्णकृतम्

लौ० वि०--पूर्वाह्णे कृतम्। अलौ० वि०--पूर्वाह्ण ङि कृत सु।

'क्तेनाहो०'[७२२] (२.१.४५) से सप्तम्यन्त 'पूर्वाह्ण' शब्द का क्तान्त पद 'कृत' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१०९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङि और सु प्रत्ययों) का लोप (पूर्वाह्ण कृत)। 'प्रथमानिर्दिष्ट०'[६५३] (१.२.४३) से 'पूर्वाह्ण' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'पूर्वाह्ण' शब्द का पूर्व प्रयोग (पूर्वाह्ण कृत)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (पूर्वाह्ण कृत सु)। 'अतोऽम्'[३०९] (७.१.२४) से 'सु' को 'अम्' (पूर्वाह्ण कृत अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से 'अम्' के 'अ' को पूर्वरूप (पूर्वाह्णकृतम्)।

अपररात्रकृतम्

लौ० वि०--अपररात्रे कृतम्। अलौ० वि०--अपररात्र ङि कृत सु।

'क्तेनाहो०'[७२२] (२.१.४५) से सप्तम्यन्त 'अपररात्र' शब्द का क्तान्त पद 'कृत' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१०९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङि और सु प्रत्ययों) का लोप (अपररात्रकृत)। 'प्रथमानिर्दिष्ट०'[६५३] (१.२.४३) से 'अपररात्र' शब्द की उपसर्जनसंज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'अपररात्र' शब्द का पूर्व प्रयोग (अपररात्रकृत)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (अपररात्र कृत सु)। शेषं पूर्ववत् (अपररात्रकृतम्)।

७२३. तत्र (२.१.४६)

'तत्र' इत्येतत्सप्तम्यन्तं क्तान्तेन सह प्राग्वत्। तत्रभुक्तम्।

अनु०--सप्तम्यन्त 'तत्र' का क्तान्त पद के साथ समास होता है। तत्रभुक्तम्--वहाँ खाया गया।

७२४. क्षेपे (२.१.४७)

सप्तम्यन्तं क्तान्तेन प्राग्वन्निन्दायाम् । अवतप्तेनकुलस्थितं त एतत् ।

अनु०—सप्तम्यन्त पद का क्तान्त पद के साथ समास होता है निन्दा अर्थ में । 'अवतप्तेनकुलस्थितं त एतत्'—अवतप्त प्रदेश में नकुल की स्थिति के समान इसकी स्थिति है ।

व्याख्या०—'अवतप्तेनकुलस्थितं त एतत्' यह निन्दा वाक्य है । जिस प्रकार अवतप्त प्रदेश में नकुल चिरकाल तक नहीं ठहरते वैसे ही कार्य आरम्भ करके उन्हें बिना समाप्त किए तुम इधर उधर भाग रहे हो । तुम अव्यवस्थित हो । इस प्रकार यहाँ 'अवतप्तेनकुलस्थितम्' में निन्दा के अर्थ में अवतप्ते इस सप्तम्यन्त पद का नकुलस्थितम् इस क्तान्त पद के साथ समास हुआ है ।

रूपसिद्धिः—

अवतप्तेनकुलस्थितम्

लौ०वि०—अवतप्ते नकुलस्थितम् । अलौ०वि०—अवतप्त ङि नकुलस्थित सु ।

'क्षेपे'[७२४] (२.१.४७) से निन्दा के अर्थ में सप्तम्यन्त 'अवतप्त' का 'नकुलस्थित' इस क्तान्त पद के साथ समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (सु प्रत्यय) का लोप (अवतप्त ङि नकुलस्थित) 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से प्राप्त 'ङि' लोप का 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्'[९७२] (६.३.१४) से निषेध । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'अवतप्त ङि' की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'अवतप्त ङि' का पूर्व प्रयोग (अवतप्त ङि नकुलस्थित) । 'लशक्वतद्धिते'[१९१] (१.३.८) से 'ङि' के 'ङ' की इत्संज्ञा । 'तस्य लोपः'[९२] (१.३.९) से ङ का लोप (अवतप्त इ नकुलस्थित) । 'आदगुणः'[६९] (६.१.८७) से गुण (अवतप्ते नकुलस्थित) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (अवतप्ते नकुलस्थित सु) । 'अतोऽम्'[३०९] (७.१.२४) से सु को अम् (अवतप्तेनकुलस्थित अम्) । अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से 'अम्' के 'अ' को पूर्वरूप (अवतप्तेनकुलस्थितम्) ।

७२५. पात्रेसमितादयश्च (२.१.४८)

एते निपात्यन्ते क्षेपे । पात्रेसमिताः । भोजनसमय एव सङ्गताः; न तु कार्ये । गेहेशूरः । गेहेनर्दी । आकृतिगणोऽयम् । चकारोऽवधारणार्थः । तेनैषां समासान्तरे घटकतया प्रवेशो न । परमाः पात्रेसमिताः ।

अनु०—निन्दा के अर्थ में पात्रेसमित आदि शब्द निपातित होते हैं । पात्रेसमिताः—भोजन के समय ही सम्मिलित होते हैं, कार्य में नहीं । गेहेशूरः—घर में शूर न कि युद्ध में । गेहेनर्दी—घर में गर्जता है न कि युद्ध में । यह आकृति गण है । (सूत्र में)

'च' शब्द का प्रयोग समास का नियामक है। इससे इन पात्रेसमित आदि शब्दों का किसी अन्य शब्दों के साथ समास नहीं होता। (जैसे) परमाः पात्रेसमिताः (यहाँ परमाः और पात्रेसमिताः समस्त नहीं होते)।

व्याख्या—पात्रेसमितादि आकृति गण है। इस गण में निम्न शब्द हैं—पात्रेसमिताः, पात्रेबहुलाः, उदुम्बरमशकः, उदुम्बरकृमिः, कूपकच्छपः, अवटकच्छपः, कूपमण्डूकः, कुम्भमण्डूकः, उदपानमण्डूकः, नगरकाकः, नगरवायसः, मातरिपुरुषः, पिण्डीशूरः, पितरिशूरः, गेहेशूरः, गेहेनर्दी, गेहेक्ष्वेडी, गेहेविजिती, गेहेव्याडः, गेहेमेही, गेहेदाही, गेहेदृप्तः, गेहेधृष्टः, गर्भेतृप्तः, आखनिकवकः, गोष्ठेशूरः, गोष्ठेविजिती, गोष्ठेक्ष्वेडी, गोष्ठेपटुः, गोष्ठेपण्डितः, गोष्ठेप्रगल्भः, कर्णेटिरिटिरा, कर्णेचुरुचुरा।

चकार इति। सूत्र में 'च' शब्द का प्रयोग समास का नियामक है अर्थात् सप्तम्यन्त 'पात्रे' शब्द का 'समित' आदि के साथ ही समास हो किन्तु समस्त 'पात्रेसमित' का किसी अन्य शब्द के साथ समास न हो। अतः 'परमाः पात्रेसमिताः' में 'परमाः' और 'पात्रेसमिताः' समस्त नहीं होते।

रूपसिद्धिः—पात्रेसमिताः

लौ० वि०—पात्रे समिताः। अलौ०वि०—पात्र ङि समित जस्।

'पात्रेसमिता०'[७२५] (२.१.४८) से निन्दा अर्थ में 'पात्रेसमिताः' शब्द निपातन से सिद्ध हुआ है।

गेहेशूरः

लौ० वि०—गेहेशूरः। अलौ० वि०—गेह ङि शूर सु।

'पात्रेसमिता०'[७२५] (२.१.४८) से निन्दा अर्थ में 'गेहेशूरः' शब्द निपातन से सिद्ध हुआ है।

गेहेनर्दी

लौ० वि०—गेहे नर्दी। अलौ० वि०—गेहे ङि नर्दी सु।

'पात्रेसमिता०'[७२५] (२.१.४८) से निन्दा अर्थ में 'गेहेनर्दी' शब्द निपातन से सिद्ध हुआ है।

७२६. पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन। (२.१.४९)

'विशेषणं विशेष्येण–' (सू० ७३६) इति सिद्धे पूर्वनिपातनियमार्थं सूत्रम्। एकशब्दस्य 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' (सू० ७२७) इति नियमबाधनार्थं च। पूर्वं स्नातः पश्चादनुलिप्तः स्नातानुलिप्तः। एकनाथः। सर्वयाज्ञिकाः। जरन्नैयायिकाः। पुराणमीमांसकाः। नवपाठकाः। केवलवैयाकरणाः।

अनु०—'विशेषणं विशेष्येण०'[७३६] (२.१.५७) इस (सूत्र) से समास सिद्ध होने पर पूर्व निपात के लिए यह सूत्र है। (सूत्र में) एक शब्द का ग्रहण 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्'[७२७]

(२.१.५०) सूत्र द्वारा प्राप्त नियम का बाध करने के लिए हुआ है । पूर्वं स्नातः पश्चादनुलिप्तः स्नातानुलिप्तः—पूर्वकाल में स्नान करने और अपर काल में अनुलेपन लगाने वाला । एकनाथः—एकमात्र स्वामी । सर्वयाज्ञिकाः— सभी याजक । जरन्नैयायिकाः—वृद्ध नैयायिक । पुराणमीमांसकाः—प्राचीन मीमांसक । नवपाठकाः—नये पाठक । केवलवैयाकरणाः—केवल वैयाकरण ।

व्याख्या—पूर्व काल वाचक एवं एक, सर्व, जरत्, पुराण, नव और केवल शब्दों का समानाधिकरण के साथ समास होता है । जैसे-स्नातानुलिप्तः । यह पूर्वकाल का उदाहरण है । 'पूर्वं स्नातः पश्चाद् अनुलिप्तः'— यहाँ पूर्वकाल का अपरकाल के साथ समास हुआ है । स्नान पूर्व काल में हुआ है, अनुलेपन अपरकाल में हुआ है ।

ऐसे प्रयोग 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्'[७३६] (२.१.५७) इस सूत्र द्वारा कर्मधारय समास करने पर भी बन सकते थे । किन्तु उक्त सूत्र द्वारा विहित विशेष्य विशेषण समास में समस्यमान पदों के पूर्वापर क्रम का नियम नहीं होता । उस समास में स्नातानुलिप्तः और अनुलिप्तस्नातः दोनों रूप चलते हैं ।

किन्तु 'पूर्वकालैक०'[७२६] (२.१.४९) इस सूत्र द्वारा विहित समास में पूर्वकालवाची एवं एक, सर्व, जरत्, पुराण, नव और केवल—इन शब्दों का पूर्व प्रयोग होता है ।

इस सूत्र में 'एक शब्द के प्रयोग का एक अन्य प्रयोजन भी है। 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्'[७२६] (२.१.५०) इस सूत्र से संख्यावाचक और दिशावाचक शब्दों का विशेष्य के साथ तभी समास होता है जब वह समस्त पद संज्ञावाचक हो । इस नियम के अनुसार 'एकनाथ' का समास तभी सम्भव है जब वह किसी व्यक्ति के नाम को बोधित करे । 'एकमात्र स्वामी' के अर्थ में समास करने के लिए अन्य सूत्र की आवश्यकता थी । अतएव 'पूर्वकालैक०'[७२६] (२.१.४९) इस सूत्र में 'एक' शब्द का ग्रहण हुआ है ।

रूपसिद्धिः—स्नातानुलिप्तः

लौ० वि०—स्नातश्चासौ अनुलिप्तश्च । अलौ० वि०—स्नात सु अनुलिप्त सु ।

'पूर्वकालैक०'[७२६] (२.१.४९) से पूर्वकाल में सम्पन्न 'स्नात' शब्द का 'अनुलिप्त' शब्द के साथ समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (स्नात अनुलिप्त) । 'प्रथमानिर्दिष्ट'[६५३] (१.२.४३) से 'स्नात' शब्द की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'स्नात' शब्द का पूर्व प्रयोग (स्नात अनुलिप्त) । 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (स्नातानुलिप्त) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से प्रथमा एकवचन में सु (स्) (स्नातानुलिप्त स्) । शेषं पूर्ववत् (स्नातानुलिप्तः) ।

एकनाथः

लौ० वि०—एकश्चासौ नाथश्च । अलौ० वि०—एक सु नाथ सु ।

'पूर्वकालैक०'[७२६] (२.१.४९) से 'एक' शब्द का 'नाथ' शब्द के साथ समास ।

'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (एक नाथ)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'एक' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'एक' शब्द का पूर्व प्रयोग (एक नाथ)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (एकनाथ स्)। शेषं पूर्ववत् (एकनाथः)।

सर्वयाज्ञिकाः

लौ० वि०—सर्वे च ते याज्ञिकाः। अलौ० वि०—सर्व जस् याज्ञिक जस्।

'पूर्वकालैक०'[७२६] (२.१.४९) से 'सर्व' शब्द का 'याज्ञिक' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों जस् प्रत्ययों) का लोप (सर्व याज्ञिक)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'सर्व' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'सर्व' शब्द का पूर्व प्रयोग (सर्व याज्ञिक)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से प्रथमा बहुवचन में जस् (अस्) प्रत्यय (सर्वयाज्ञिक अस्)। 'अथमयोः पूर्वसवर्णः'[१६४] (६.१.१०२) से पूर्वसवर्ण दीर्घ (सर्वयाज्ञिका स्)। शेषं पूर्ववत् (सर्वयाज्ञिकाः)।

जरन्नैयायिकाः

लौ० वि०—जरन्तश्च ते नैयायिकाश्च। अलौ० वि०—जरत् जस् नैयायिक जस्।

'पूर्वकालैक०'[७२६] (२.१.४९) से 'जरत्' शब्द का 'नैयायिक' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों जस् प्रत्ययों) का लोप (जरत् नैयायिक)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'जरत्' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'जरत्' शब्द का पूर्व प्रयोग (जरत् नैयायिक)। 'झलां जशोऽन्ते'[८४] (८.२.३९) से 'त्' को 'द्' (जरद् नैयायिक)। 'यरोऽनुनासिके०'[११६] (८.४.४५) से 'द्' को 'न्' (जरन्-नैयायिक)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से प्रथमा बहुवचन में जस् (अस्) प्रत्यय (जरन्नैयायिक अस्)। शेषं पूर्ववत् (जरन्नैयायिकाः)।

पुराणमीमांसकाः

लौ० वि०—पुराणाश्च ते मीमांसकाश्च। अलौ०वि०—पुराण जस् मीमांसक जस्।

'पूर्वकालैक०'[७२६] (२.१.४९) से 'पुराण' शब्द का मीमांसक शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों जस् प्रत्ययों) का लोप (पुराण मीमांसक)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'पुराण' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'पुराण' शब्द का पूर्व प्रयोग (पुराण मीमांसक)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः

प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से प्रथमा बहुवचन में जस् (अस्) प्रत्यय (पुराणमीमांसक अस्)। शषं पूर्ववत् (पुराणमीमांसकाः)।

नवपाठकाः

लौ० वि०—नवाश्च ते पाठकाश्च। अलौ० वि०—नव जस् पाठक जस्।

'पूर्वकालैक०'[७२६] (२.१.४९) से 'नव' शब्द का 'पाठक' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों जस् प्रत्ययों) का लोप (नव पाठक)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'नव' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'नव' शब्द का पूर्व प्रयोग (नव पाठक)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से प्रथमा बहुवचन में जस् (अस्) प्रत्यय (नव पाठक अस्)। शेषं पूर्ववत् (नवपाठकाः)।

केवलवैयाकरणाः

लौ० वि०—केवलाश्च ते वैयाकरणाश्च। अलौ० वि०—केवल जस् वैयाकरण जस्।

'पूर्वकालैक०'[७२६] (२.१.४९) से 'केवल' शब्द का 'वैयाकरण' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों जस् प्रत्ययों) का लोप (केवल वैयाकरण)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'केवल' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'केवल' शब्द का पूर्व प्रयोग (केवल वैयाकरण)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से प्रथमा बहुवचन में जस् (अस्) प्रत्यय (केवल वैयाकरण अस्)। शेषं पूर्ववत् (केवलवैयाकरणाः)।

७२७. दिक्संख्ये संज्ञायाम् (२.१.५०)

'समानाधिकरणेन' इत्यापादपरिसमाप्तेरधिकारः। संज्ञायामेवेति नियमार्थं सूत्रम्। पूर्वेषुकामशमी। सप्तर्षयः। नेह, उत्तरा वृक्षाः। पञ्च ब्राह्मणाः।

अनु०—'समानाधिकरणेन' इस पद का (द्वितीय अध्याय के प्रथम) पाद की समाप्ति तक अधिकार है। (दिशावाचक और संख्यावाचक सुबन्तों का समानाधिकरण सुबन्तों के साथ) संज्ञा में ही समास होता है इस प्रकार नियमार्थ यह सूत्र है। पूर्वेषुकामशमी (किसी गांव का नाम)। सप्तर्षयः (सात ऋषि)। उत्तरा वृक्षाः। पञ्च ब्राह्मणाः—यहाँ समास नहीं हुआ (क्योंकि यहाँ संज्ञा नहीं है)।

व्याख्या—'दिक्संख्ये संज्ञायाम्'[७२७] (२.१.५०) सूत्र में 'पूर्वकालैक०'[७२६] (२.१.४९) इस सूत्र से 'समानाधिकरणेन' की अनुवृत्ति हुई है। 'समानाधिकरणेन' इसकी अनुवृत्ति द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद की समाप्ति तक चलती है।

संज्ञायामेवेति । 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्'[७२७] (२.१.५०) सूत्र नियमार्थ है । दिशावाचक और संख्यावाचक सुबन्तों का समानाधिकरण सुबन्तों के साथ संज्ञा में ही समास होता है । 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्'[७३६] (२.१.५७) इस सूत्र से प्राप्त समास का यह सूत्र नियम करता है कि यदि विशेषण दिशावाचक और संख्यावाचक हो तो समास संज्ञा में ही होता है ।

नेह इति । जहां समस्त पद संज्ञा का बोधक नहीं होता वहाँ समास नहीं होता । अतः 'उत्तरा वृक्षाः,' 'पञ्च ब्राह्मणाः'—यहाँ समास नहीं हुआ क्योंकि यहाँ संज्ञा नहीं है ।

रूपसिद्धिः—पूर्वेषुकामशमी

लौ० वि०—पूर्वः इषुकामशमी । अलौ० वि०—पूर्व सु इषुकामशमी सु ।

'दिक्संख्ये संज्ञायाम्'[७२७] (२.१.५०) से संज्ञा अर्थ में दिशावाची 'पूर्व' शब्द का 'इषुकामशमी' के साथ समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (पूर्व इषुकामशमी) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'पूर्व' शब्द की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'पूर्व' शब्द का पूर्व प्रयोग (पूर्व इषुकामशमी) । 'आद्गुणः'[६९] (६.१.८७) से गुण (पूर्वेषुकामशमी) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (पूर्वेषुकामशमी सु) । 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु का लोप (पूर्वेषुकामशमी) ।

सप्तर्षयः

लौ० वि०—सप्त च ते ऋषयः । अलौ० वि०—सप्तन् जस् ऋषि जस् ।

'दिक्संख्ये संज्ञायाम्'[७२७] (२.१.५०) से संज्ञा अर्थ में संख्यावाची 'सप्तन्' का 'ऋषि' शब्द के साथ समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों जस् प्रत्ययों) का लोप (सप्तन् ऋषि) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'सप्तन्' की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जन पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'सप्तन्' शब्द का पूर्व प्रयोग (सप्तन् ऋषि) । 'नलोपः प्राति०'[२२६] (८.२.७) से सप्तन् के 'न्' का लोप (सप्त ऋषि) । 'आद्गुणः'[६९] (६.१.८७) से 'अ+ऋ=अर्' गुण । 'उरण्रपरः'[७०] (१.१.५१) से रपर 'अर्' (सप्तर्षि) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से प्रथमा बहुवचन में जस् (अस्) प्रत्यय (सप्तर्षि अस्) । 'जसि च'[२४१] (७.३.१०९) से गुण (सप्तर्षे अस्) । 'एचोऽय०'[६१] (६.१.७८) से 'ए' को 'अय्' (सप्तर्ष् अय् अस्) । 'ससजुषो रुः'[१६२] (८.२.६६) से 'स्' को 'रु' (र्) (सप्तर्षय र्) । 'खरवसानयो०'[७६] (८.३.१५) से 'र्' को विसर्ग (सप्तर्षयः) ।

७२८. तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च। (२.१.५१)

तद्धितार्थे विषये उत्तरपदे च परतः समाहारे च वाच्ये दिक्संख्ये प्राग्वद्वा। पूर्वस्यां शालायां भवः पौर्वशालः। समासे कृते 'दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः' (सू० १३२८) इति ञः। 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' (वा० १३७६)। आपरशालः। पूर्वा शाला प्रिया यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ कृते प्रियाशब्दे उत्तरपदे पूर्वयोस्तत्पुरुषः। तेन शालाशब्दे आकार उदात्तः। पूर्वशालाप्रियः। दिक्षु समाहारो नास्त्यनभिधानात्। संख्यायास्तद्धितार्थे—षण्णां मातृणामपत्यं षाण्मातुरः। पञ्च गावो धनं यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहावन्तरतत्पुरुषस्य विकल्पे प्राप्ते 'द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्' (वा० १२८७)।

अनु०—तद्धितार्थ के विषय में, उत्तरपद रहते और जब समाहार वाच्य हो तब दिशावाचक और संख्यावाचक शब्दों का समास होता है। पौर्वशालः—पूर्व के कमरे में रहने वाला—पूर्वस्यां शालायां भवः (ऐसा विग्रह करके) समास करने पर 'दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः'[१३२८] (४.२.१०७) से ञ प्रत्यय। सर्वनाम को वृत्तिमात्र में (अर्थात् कृदन्त आदि पांचों वृत्तियों में) पुंवद्भाव हो। आपरशालः—पश्चिम के कमरे में रहने वाला। पूर्वा शाला प्रिया यस्य ऐसा त्रिपद बहुव्रीहि समास करने पर 'प्रिया' शब्द उत्तरपद रहते पूर्व का (अर्थात् पूर्वा और शाला का) तत्पुरुष समास। इससे शाला शब्द में 'आ' उदात्त होता है। पूर्वशालाप्रियः। समाहार में दिक् समास नहीं है क्योंकि ऐसा कहीं कहा नहीं गया। तद्धितार्थ में संख्या का उदाहरण—षाण्मातुरः—षण्णां मातृणामपत्यम्—छः माताओं का पुत्र, कार्त्तिकेय।

पञ्च गावो धनं यस्य ऐसा त्रिपद बहुव्रीहि समास होने पर अवान्तर तत्पुरुष (अर्थात् 'उत्तरपद 'धन' परे रहते पञ्च गावः में तत्पुरुष समास) को विकल्प प्राप्त होने पर 'उत्तरपद परे रहते जो द्वन्द्व और तत्पुरुष समास होते हैं, उनको नित्य समास कहना चाहिए' [पञ्चगवधन—जिसका धन पाँच गाय है।]

व्याख्या—'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च'[७२८] (२.१.५१) सूत्र में तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे' यह सप्तम्यन्त समस्त पद है। यहाँ 'तद्धितार्थे' 'उत्तरपदे' और 'समाहारे' तीन सप्तम्यन्त पद हैं। विषय भेद से सप्तमी के तीन अर्थ हो गये हैं—तद्धितार्थ के साथ सप्तमी का अर्थ है विषय. उत्तरपद के साथ पद और समाहार के साथ वाच्य। दिशावाचक का समाहार अर्थ में समास नहीं होता। दिशावाचक सुबन्त का तद्धितार्थ के विषय में और उत्तरपद परे रहते ही समास होता है। इस प्रकार दो ही उदाहरण मिलते हैं।

संख्यावाचक समास के तीनों स्थलों में उदाहरण मिलते हैं।

इस प्रकार इस सूत्र के पाँच उदाहरण हैं

(१) तद्धितार्थ में दिक्समास—जैसे पौर्वशालः।

(२) उत्तरपद में दिक्समास—जैसे पूर्वशालाप्रियः।

(३) तद्धितार्थ में संख्यातत्पुरुष—जैसे षाण्मातुरः।

(४) उत्तरपद में संख्यातत्पुरुष—जैसे पञ्चगवधनः ।
(५) समाहार में संख्यातत्पुरुष—जैसे पञ्चगवम् ।

रूपसिद्धिः—पौर्वशालः

लौ० वि०—पूर्वस्यां शालायां भवः । अलौ० वि०—पूर्वा ङि शाला ङि ।

'तद्धितार्थोत्तर०'[७२८] (२.१.५१) से तद्धितार्थ के विषय में दिशावाची 'पूर्वा' का 'शाला' शब्द के साथ समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों ङि प्रत्ययों) का लोप (पूर्वा शाला) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'पूर्वा' की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'पूर्वा' शब्द का पूर्व प्रयोग (पूर्वा शाला) । 'दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः'[११३८] (४.२.१०७) से ञ (अ) (पूर्वा शाला अ) । 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'शाला' के अन्त्य 'आ' का लोप (पूर्वा शाल् अ) । 'तद्धितेष्व०'[१०७५] (७.२.११७) से आदि वृद्धि (पौर्वा शाल) । 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' (वा० १३७६) से पौर्वा को पुंवद्भाव (पौर्वशाल) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से प्रथमा एकवचन में सु (स्) (पौर्वशाल स्) । 'ससजुषो रुः'[११२] (८.२.६६) से 'स्' को 'रु' (र्) (पौर्वशाल र्) । 'खरवसानयो०'[७६] (८.३.१५) से 'र्' को विसर्ग (पौर्वशालः) ।

आपरशालः

लौ० वि०—अपरस्यां शालायां भवः । अलौ० वि०—अपरा ङि शाला ङि ।

'तद्धितार्थोत्तर०'[७२८] (२.१.५१) से 'अपरा' का 'शाला' शब्द के साथ समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों ङि प्रत्ययों) का लोप (अपरा शाला) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'अपरा' शब्द की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'अपरा' शब्द का पूर्व प्रयोग (अपरा शाला) । 'दिक्पूर्वपदा०'[११३८] (४.२.१०७) से ञ (अ) (अपरा शाला अ) । 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'शाला' के अन्त्य 'आ' का लोप (अपराशाल) । 'तद्धितेष्व०'[१०७५] (७.२.११७) से आदि वृद्धि (आपरा शाल) । 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' (वा० १३७६) से 'आपरा' को पुंवद्भाव (आपरशाल) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से प्रथमा एकवचन में सु (स्) (आपरशाल स्) । शेषं पूर्ववत् । आपरशालः ।

पूर्वशालाप्रियः

लौ० वि०—पूर्वा शाला प्रिया यस्य । अलौ० वि०—पूर्वा सु शाला सु प्रिया सु ।

'तद्धितार्थोत्तर०'[७२८] (२.१.५१) से 'प्रिया' शब्द के उत्तरपद रहते पूर्वा शाला का समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१)

से सुप् (सु, सु, सु प्रत्ययों) का लोप (पूर्वा शाला प्रिया)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'पूर्वा' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'पूर्वा' शब्द का पूर्व प्रयोग (पूर्वा शाला प्रिया)। 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' (वा० १३७६) से 'पूर्वा' को पुंवद्भाव (पूर्वशाला प्रिया)। 'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४) से 'प्रिया' की उपसर्जन संज्ञा। 'गोस्त्रियो०'[६५६] (१.२.४८) से 'प्रिया' के 'आ' को ह्रस्व (पूर्वशाला प्रिय)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (पूर्वशालाप्रिय स्)। शेषं पूर्ववत्। पूर्वशालाप्रियः।

षाण्मातुरः

लौ० वि०— षण्णां मातृणाम् अपत्यम्। अलौ० वि०—षड् आम् मातृ आम्।

'तद्धितार्थोत्तर०'[७२८] (२.१.५१) से तद्धितार्थ में संख्यावाची 'षण्णाम्' का मातृणाम् सुबन्त पद के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों आम् प्रत्ययों) का लोप (षड् मातृ)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'षड्' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'षड्' का पूर्व प्रयोग (षड् मातृ)। यरोऽनुनासिके०'[११६] (८.४.४५) से 'ड्' को 'ण्' (षण्मातृ)। 'मातुरुत्संख्या०'[११८] (४.१.११५) से 'मातृ' के 'ऋ' को उत् और अण् (अ) प्रत्यय। 'उरण्रपरः'[७०] (१.१.५१) से उत् को रपर (षण्मातुर् अ)। 'तद्धितेष्व०'[१०७५] (७.२.११७) से आदि वृद्धि (षाण्मातुर)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (षाण्मातुर सु)। शेषं पूर्ववत्। षाण्मातुरः।

७२९. गोरतद्धितलुकि (५.४.९२)

गोऽन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यात्समासान्तः, न तद्धितलुकि। पञ्चगवधनः। पञ्चानां गवां समाहारः।

अनु०—गो शब्द जिसके अन्त में हो, ऐसे तत्पुरुष से टच् प्रत्यय समासान्त हो, किन्तु तद्धित प्रत्यय का जहाँ लोप हुआ हो वहाँ न हो। पञ्चगवधनः—पांच गाय हैं धन जिसके। पञ्चानां गवां समाहारः—पांच गायों का समूह।

रूपसिद्धिः—पञ्चगवधनः

लौ० वि०—पञ्च गावो धनं यस्य। अलौ० वि०—पञ्चन् जस् गो जस् धन सु।

'तद्धितार्थोत्तर०'[७२८] (२.१.५१) से 'धन' पद के परे रहते 'पञ्चन्' का 'गो' शब्द के साथ समास। 'तद्धितार्थोत्तर०'[७२८] (२.१.५१) सूत्र पर विभाषा का अधिकार है अतः यहाँ वैकल्पिक तत्पुरुष प्राप्त था किन्तु 'द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्' (वा० १२८७) से उत्तरपद 'धन' परे रहते नित्य समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६)

से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (जस्, जस् और सु प्रत्ययों) का लोप (पञ्चन् गो धन)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'पञ्चन्' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'पञ्चन्' का पूर्व प्रयोग (पञ्चन् गो धन)। 'नलोपः प्राति०'[३२६] (८.२.७) से पञ्चन् के 'न्' का लोप (पञ्च गो धन)। 'गोरतद्धित०'[७२९] (५.४.९२) से 'गो' शब्द से टच् (अ) प्रत्यय (पञ्च गो अ धन)। 'एचोऽय०'[६१] (६.१.७८) से 'गो' के 'ओ' को 'अव्' (पञ्च गव् अ धन)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (पञ्चगवधन सु)। शेषं पूर्ववत्। पञ्चगवधनः।

७३०. संख्यापूर्वो द्विगुः (२.१.५२)

'तद्धितार्थ—' (सू ७२८) इत्यत्रोक्तस्त्रिविधः संख्यापूर्वो द्विगुः स्यात्।

अनु०—'तद्धितार्थ—' इस सूत्र में बताया हुआ तीन प्रकार का संख्यापूर्व समास द्विगु संज्ञक होता है।

७३१. द्विगुरेकवचनम् (२.४.१)

द्विग्वर्थः समाहार एकवत्स्यात्। 'स नपुंसकम्' (सू ८२१) इति नपुंसकत्वम्। पञ्चगवम्।

अनु०—द्विगु संज्ञक समाहार एकवचन हो। 'स नपुंसकम्' से समाहार में द्विगु और द्वन्द्व नपुंसक हों। पञ्चगवम्—पाँच गाय।

रूपसिद्धिः—पञ्चगवम्

लौ० वि०—पञ्चानां गवां समाहारः। अलौ० वि०—पञ्चन् आम् गो आम्।

'तद्धितार्थोत्तर०'[७२८] (२.१.५१) से संख्यावाची 'पञ्चन्' का 'गो' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों आम् प्रत्ययों) का लोप (पञ्चन् गो)। 'नलोपः प्राति०'[३२६] (८.२.७) से 'पञ्चन्' के 'न्' का लोप (पञ्च गो)। 'गोरतद्धित०'[७२९] (५.४.९२) से टच् (अ) प्रत्यय (पञ्च गो अ)। 'एचोऽय०'[६१] (६.१.७८) से 'ओ' को 'अव्' (पञ्च गव् अ)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (पञ्चगव सु)। 'स नपुंसकम्'[८२१] (२.४.१७) से नपुंसक। 'अतोऽम्'[३०९] (७.१.२४) से 'सु' को 'अम्' (पञ्चगव अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से 'अम्' के 'अ' को पूर्वरूप (पञ्चगवम्)।

७३२. कुत्सितानि कुत्सनैः (२.१.५३)

कुत्स्यमानानि कुत्सनैः सह प्राग्वत्। वैयाकरणखसूचिः। मीमांसकदुर्दुरूटः।

अनु०—निन्द्यमान का निन्द्य के साथ तत्पुरुष समास होता है। वैयाकरणखसूचिः—कुत्सित वैयाकरण। मीमांसकदुर्दुरूटः— कुत्सित मीमांसक।

रूपसिद्धिः—वैयाकरणखसूचिः

लौ० वि०— वैयाकरणश्चासौ खसूचिश्च। अलौ० वि०—वैयाकरण सु खसूचि सु।

'कुत्सितानि०'[७३२] (२.१.५३) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (वैयाकरणखसूचि)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'वैयाकरण' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'वैयाकरण' का पूर्व प्रयोग (वैयाकरणखसूचि)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (वैयाकरणखसूचि स्)। 'ससजुषो रुः'[१६२] (८.२.६६) से स् को रु (र्) (वैयाकरणखसूचि र्)। 'खरवसानयो०'[७६] (८.३.१५) से 'र्' को विसर्ग (वैयाकरणखसूचिः)।

मीमांसकदुर्दुरूटः

लौ० वि०—मीमांसकश्चासौ दुर्दुरूटश्च। अलौ० वि०—मीमांसक सु दुर्दुरूट सु।

'कुत्सितानि०'[७३२] (२.१.५३) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (मीमांसक दुर्दुरूट)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'मीमांसक' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'मीमांसक' का पूर्व प्रयोग (मीमांसक दुर्दुरूट)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (मीमांसक दुर्दुरूट सु)। शेषं पूर्ववत्। मीमांसकदुर्दुरूटः।

७३३. पापाणके कुत्सितैः (२.१.५४)

पूर्वसूत्रापवादः। पापनापितः। अणककुलालः।

अनु०—(कुत्सित वाचक शब्दों के साथ पाप और अणक शब्दों का तत्पुरुष समास होता है।) यह सूत्र पूर्व सूत्र का अपवाद है। पापनापितः—घृणित नाई। अणककुलालः—घृणित कुम्हार।

रूपसिद्धिः—पापनापितः

लौ० वि०—पापश्चासौ नापितश्च। अलौ० वि०—पाप सु नापित सु।

'पापाणके०'[७३३] (२.१.५४) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (पाप नापित)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'पाप' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'पाप' शब्द का पूर्व प्रयोग (पाप नापित)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (पापनापित सु)। शेषं पूर्ववत्। पापनापितः।

अणककुलालः

लौ० वि०—अणकश्चासौ कुलालश्च । अलौ० वि०—अणक सु कुलाल सु ।

'पापाणके०'[७३३] (२.१.५४) से समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (अणक कुलाल) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'अणक' शब्द की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'अणक' शब्द का पूर्व प्रयोग (अणक कुलाल) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (अणककुलाल सु) । शेषं पूर्ववत् । अणककुलालः ।

७३४. उपमानानि सामान्यवचनैः (२.१.५५)

घन इव श्यामो घनश्यामः । इह पूर्वपदं तत्सदृशे लाक्षणिकमिति सूचयितुं लौकिकविग्रहे इवशब्दः प्रयुज्यते । पूर्वनिपाततनियमार्थं सूत्रम् ।

अनु०—(उपमानवाचक सुबन्त का समान धर्म वाचक सुबन्त के साथ समास होता है ।)

घनश्यामः (घन इव श्यामः, मेघ के समान श्याम वर्ण वाला) । यहाँ पूर्वपद 'घन' का लक्षणा से 'घनसदृश' अर्थ सूचित करने के लिए लौकिक विग्रह में 'इव' शब्द प्रयुक्त हुआ है । यह सूत्र समस्त पदों में किसका पूर्व निपात हो यह नियत करने के लिए है ।

व्याख्या—इहेति । घनश्यामः —घन इव श्यामः । इस लौकिक विग्रह में समानता वाचक 'इव' शब्द का प्रयोग सूचित करता है कि घन शब्द घन सदृश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'घन' मेघ अर्थ का वाचक शब्द है। किन्तु वह लक्षणा से 'मेघ सदृश' अर्थ को बोधित करता है।

पूर्वनिपातेति । यहाँ 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्'[७३६] (२.१.५७) से समास करने पर वक्ता की इच्छा के अनुसार दोनों में से किसी का भी पूर्वनिपात सम्भव था, क्योंकि दोनों गुणवाचक विशेषण पद हैं किन्तु यहाँ उपमान पद का पूर्व प्रयोग अपेक्षित है अतः इस सूत्र की रचना हुई है । सूत्र में 'उपमानानि' प्रथमान्त पद है । अतः 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) इस सूत्र के अनुसार उपमानवाचक पद की उपसर्जन संज्ञा होती है और 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उसका पूर्व प्रयोग होता है ।

रूपसिद्धिः—घनश्यामः

लौ० वि०—घन इव श्यामः । अलौ० वि०—घन सु श्याम सु ।

'उपमानानि०'[७३४] (२.१.५५) से समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (घन श्याम) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'घन' शब्द की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'घन' शब्द का पूर्व प्रयोग (घन श्याम) ।

'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (घन श्याम सु)। शेषं पूर्ववत्। घनश्यामः।

७३५. उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे (२.१.५६)

उपमेयं व्याघ्रादिभिः सह प्राग्वत्साधारणधर्मस्याप्रयोगे सति। विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थं सूत्रम्। पुरुषव्याघ्रः। नृसोमः। व्याघ्रादिराकृतिगणः। सामान्याप्रयोगे किम्—पुरुषो व्याघ्र इव शूरः।

अनु०—साधारण धर्म का प्रयोग न होने पर व्याघ्र आदि के साथ उपमेय का समास होता है। विशेष्य के पूर्व प्रयोग के लिये इस सूत्र की रचना हुई है। पुरुषव्याघ्रः—बाघ के सदृश (बलवान्) पुरुष। नृसोमः—चन्द्रमा के समान पुरुष। व्याघ्रादि आकृति गण है। (सूत्र में) 'सामान्याप्रयोगे' (साधारण धर्म का प्रयोग न होने पर) क्यों कहा? पुरुषो व्याघ्र इव शूरः (यहाँ समास निषेध हो)।

व्याख्या—विशेष्यस्येति। विशेष्य के पूर्व प्रयोग के लिए इस सूत्र की रचना हुई है। पुरुषव्याघ्रः। यहाँ 'पुरुषो व्याघ्र इव' यह लौकिक विग्रह है। पुरुष उपमेय है। 'उपमितं०'[७३५] (२.१.५६) सूत्र में उपमित (उपमेय) प्रथमानिर्दिष्ट है अतः 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से उसकी उपसर्जन संज्ञा होती है और 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उसका पूर्व प्रयोग होता है।

'विशेषणं०'[७३६] (२.१.५७) से समास करने पर 'पुरुषश्चासौ व्याघ्रश्च' इस लौकिक विग्रह में विशेषणपद 'व्याघ्र' का पूर्व प्रयोग होता। उसे रोकने के लिए 'उपमितं०'[७३५] (२.१.५६) इस सूत्र की रचना हुई है।

व्याघ्रादिराकृतिगणः। व्याघ्रादि शब्दों से समस्त हुए प्रयोगों को देखकर ही व्याघ्रादिगण की कल्पना हो सकती है। व्याघ्र आदि शब्द निम्न हैं—व्याघ्र, सिंह, ऋक्ष, ऋषभ, चन्दन, वृक, वृष, वराह, हस्तिन्, तरु, कुञ्जर, रुरु, पृषत्, पुण्डरीक, पलाश, कितव। यह आकृतिगण है। इसमें मुखपद्मम्, मुखकमलम्, करकिसलयम्, पार्थिवचन्द्रः इत्यादि प्रयोग भी गिने गए हैं।

सामान्याप्रयोगे इति। सूत्र में 'सामान्याप्रयोगे' का उल्लेख है। जहाँ सामान्य का प्रयोग नहीं होता वहीं उपमेय का व्याघ्र आदि शब्दों के साथ समास होता है। किन्तु जहाँ सामान्य का प्रयोग होता है वहाँ व्याघ्र आदि शब्दों के साथ उपमेय का समास नहीं होता है। अतः 'पुरुषो व्याघ्र इव शूरः' विग्रह में इस सूत्र से समास नहीं हुआ क्योंकि यहाँ 'शूरः' इस सामान्य (साधारण वचन) का प्रयोग हुआ है।

रूपसिद्धिः—पुरुषव्याघ्रः

लौ० वि०—पुरुषो व्याघ्र इव। अलौ० वि०—पुरुष सु व्याघ्र सु।

'उपमितं०'[७३५] (२.१.५६) से उपमेय 'पुरुष' का 'व्याघ्र' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप्

(दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (पुरुष व्याघ्र)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'पुरुष' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'पुरुष' शब्द का पूर्व प्रयोग (पुरुष व्याघ्र)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (पुरुष व्याघ्र सु)। शेषं पूर्ववत्। पुरुषव्याघ्रः।

नृसोमः

लौ० वि०—ना सोम इव। अलौ० वि०—नृ सु सोम सु।

'उपमितं०'[७३५] (२.१.५६) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (नृ सोम)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'नृ' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'नृ' शब्द का पूर्व प्रयोग (नृ सोम)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (नृ सोम सु)। शेषं पूर्ववत्। नृसोमः।

७३६. विशेषणं विशेष्येण बहुलम्। (२.१.५७)

भेदकं समानाधिकरणेन भेद्येन बहुलं प्राग्वत्। नीलमुत्पलं नीलोत्पलम्। बहुलग्रहणात् क्वचिन्नित्यम्, कृष्णसर्पः। क्वचिन्न, रामो जामदग्न्यः।

अनु०—विशेषण का विशेष्य के साथ बहुलता से समास होता है। नीलोत्पलम्—नील कमल। बहुल ग्रहण से कहीं नित्य समास होता है जैसे—कृष्णसर्पः—काला सांप। कहीं समास नहीं होता जैसे—रामो जामदग्न्यः।

व्याख्या—भेदकमिति। भेदक विशेषण को कहते हैं क्योंकि वह प्रस्तुत विशेष्य का दूसरे विशेष्य से भेद बताता है। भेद्य विशेष्य को कहते हैं क्योंकि उसे ही अन्य से भिन्न किया जाता है। विशेषण और विशेष्य दोनों एक ही पदार्थ को सूचित करते हैं अतः इन्हें समानाधिकरण कहा जाता है।

विशेषण और विशेष्य के समास में विशेषण पहले आता है क्योंकि समास शास्त्र में विशेषण पद प्रथमान्त है।

बहुलग्रहणादिति। इस सूत्र में 'बहुलम्' कहा है। इसका अर्थ यह है कि यह समास कहीं होता है और कहीं होता ही नहीं।

क्वचिन्नेति। सूत्र में 'बहुलम्' कहा है अतः कहीं यह विशेषण समास नहीं भी होता। जैसे 'रामो जामदग्न्यः' यहाँ विशेषण समास नहीं हुआ है।

रूपसिद्धिः—नीलोत्पलम्

लौ० वि०—नीलम् उत्पलम्। अलौ० वि०—नील सु उत्पल सु।

'विशेषणं०'[७३६] (२.१.५७) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (नील उत्पल)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'नील' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उप-

सर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'नील' शब्द का पूर्व प्रयोग (नील उत्पल)। 'आद्गुणः'[६९] (६.१.८७) से गुण (नीलोत्पल)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (नीलोत्पल सु)। 'अतोऽम्'[१०९] (७.१.२४) से 'सु' को 'अम्' (नीलोत्पल अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से 'अम्' के 'अ' को पूर्वरूप (नीलोत्पलम्)।

कृष्णसर्पः—

लौ० वि०—कृष्णश्चासौ सर्पश्च। अलौ० वि०—कृष्ण सु सर्प सु।

'विशेषणं०'[७३६] (२.१.५७) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१०९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (कृष्ण सर्प)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'कृष्ण' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'कृष्ण' शब्द का पूर्व प्रयोग (कृष्ण सर्प)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (कृष्ण सर्प सु)। शेषं पूर्ववत्। कृष्णसर्पः।

७३७. पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराश्च (२.१.५८)

पूर्वनिपातनियमार्थमिदम्। पूर्ववैयाकरणः। अपराध्यापकः। 'अपरस्यार्धे पश्चभावो वक्तव्यः' (वा ३२५३) अपरश्चासावर्धश्च पश्चार्धः। कथम् 'एकवीरः' इति। 'पूर्वकालैक—' (सू ७२६) इति बाधित्वा परत्वादनेन समासे 'वीरैकः' इति हि स्यात्। बहुलग्रहणाद्भविष्यति।

अनु०—(पूर्व, अपर, प्रथम, चरम, जघन्य, समान, मध्य, मध्यम और वीर शब्दों का समानाधिकरण विशेष्य के साथ समास होता है।) यह सूत्र पूर्व निपात के नियम के लिए है। पूर्ववैयाकरणः—प्राचीन वैयाकरण। अपराध्यापकः—नवीन अध्यापक। 'अर्ध' शब्द परे रहते 'अपर' शब्द को 'पश्च' आदेश कहना चाहिए। अपरश्चासौ अर्धश्च पश्चार्धः—निचला आधा भाग।

'एकवीरः' प्रयोग कैसे ? 'पूर्वकालैक०'[७२६] (२.१.४९) इस सूत्र को बाधित करके परवर्ती होने के कारण इस सूत्र ('पूर्वापर०') से समास करने पर 'वीरैकः' प्रयोग बनता है। किन्तु ('पूर्वापरः') सूत्र में ('विशेषणं०'[७३६] (२.१.५७) इस सूत्र से) बहुल की अनुवृत्ति होने के कारण 'एकवीरः' भी बनता है।

व्याख्या—पूर्व, अपर, प्रथम, चरम, जघन्य, समान, मध्य, मध्यम और वीर शब्दों का समानाधिकरण विशेष्य के साथ समास होता है। 'विशेषणं०'[७३६] (२.१.५७) इस सूत्र से इन शब्दों का विशेष्य के साथ समास सम्भव था किन्तु उसमें गुणवाचक शब्दों के पूर्वापर प्रयोग का नियम नहीं होता। जैसे—खञ्जकुब्जः, कुब्जखञ्जः। इसी प्रकार क्रिया शब्दों में भी जैसे—पाचकपाठकः, पाठकपाचकः। वैसे ही गुण क्रिया

शब्दों में भी, जैसे—खञ्जपाचकः, पाचकखञ्जः। किन्तु 'पूर्वापर०'[७३७] (२.१.५८) इस सूत्र से समस्यमान पदों में पूर्व आदि का ही प्रथम प्रयोग होता है।

कथमिति। 'एकवीरः' प्रयोग 'पूर्वकालैक०'[७२६] (२.१.४९) सूत्र से समास करने पर बनता है।

प्र०—किन्तु 'पूर्वापर०'[७३७] (२.१.५८) यह सूत्र 'पूर्वकालैक०'[७२६] (२.१.४९) इस सूत्र का बाधक है क्योंकि अष्टाध्यायी-सूत्र क्रम के अनुसार 'पूर्वापर०'[७३७] (२.१.५८) यह सूत्र 'पर' है अतः बलवान् है (द्र० 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'[९७५]) (१.४.२)। तथा इस सूत्र में 'वीर' पद प्रथमानिर्दिष्ट है। इसलिए वीर पद की उपसर्जन संज्ञा होकर उसका पूर्व प्रयोग होता है किन्तु 'एकवीरः' का भी साहित्य में प्रयोग मिलता है, यह कैसे?

उ०—भट्टोजि दीक्षित ने इसका समाधान इस प्रकार किया है। 'पूर्वापरप्रथम०'[७३७] (२.१.५८) इस सूत्र में 'विशेषणं०'[७३६] (२.१.५७) इस सूत्र से 'बहुलम्' की अनुवृत्ति हुई है। जहाँ इस सूत्र से समास होता है वहाँ 'वीरैकः' और जहाँ 'पूर्वकालैक०'[७२६] (२.१.४९) इससे समास होता है वहाँ 'एकवीरः' प्रयोग होता है।

रूपसिद्धिः—पूर्ववैयाकरणः

लौ० वि०—पूर्वश्चासौ वैयाकरणश्च। अलौ० वि०—पूर्व सु वैयाकरण सु।

'पूर्वापर०'[७३७] (२.१.५८) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (पूर्व वैयाकरण)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'पूर्व' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'पूर्व' शब्द का पूर्व प्रयोग (पूर्व वैयाकरण)। 'एकदेश-विकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (पूर्ववैयाकरण सु)। शेषं पूर्ववत्। पूर्ववैयाकरणः।

अपराध्यापकः

लौ० वि०—अपरश्चासौ अध्यापकश्च। अलौ० वि०—अपर सु अध्यापक सु।

'पूर्वापर०'[७३७] (२.१.५८) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (अपर अध्यापक)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'अपर' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'अपर' शब्द का पूर्व प्रयोग (अपर अध्यापक)। 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (अपराध्यापक)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (अपराध्यापक सु)। शेषं पूर्ववत्। अपराध्यापकः।

पश्चार्धः

लौ० वि०—अपरश्चासावर्धश्च। अलौ० वि०—अपर सु अर्ध सु।

'पूर्वापर०'[७३७] (२.१.५८) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक

संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (अपर अर्ध)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'अपर' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'अपर' शब्द का पूर्व प्रयोग (अपर अर्ध)। 'अपरस्यार्धे पश्चभावो वक्तव्यः' (वा ३२५३) से 'अपर' शब्द को 'पश्च' आदेश (पश्च अर्ध)। 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (पश्चार्ध)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्'[१८३] (४.१.२) से सु (पश्चार्ध सु)। शेषं पूर्ववत्। पश्चार्धः।

एकवीरः

लौ० वि०—एकश्चासौ वीरश्च। अलौ० वि०—एक सु वीर सु।

'पूर्वकालैक०'[७२६] (२.१.४९) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (एक वीर)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'एक' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'एक' शब्द का पूर्व प्रयोग (एक वीर)। 'एकदेशविकृत-मनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (एकवीर सु)। शेषं पूर्ववत्। एकवीरः।

७३८. श्रेण्यादयः कृतादिभिः (२.१.५९)

'श्रेण्यादिषु च्व्यर्थवचनं कर्तव्यम्' (वा० १२९६)। अश्रेणयः श्रेणयः कृताः श्रेणीकृताः।

अनु०—(श्रेणी आदि शब्द कृत आदि शब्दों के साथ समस्त होते हैं।) च्वि प्रत्यय के अर्थ में श्रेण्यादियों का समास कहना चाहिए। श्रेणीकृताः—अश्रेणयः श्रेणयः कृताः—जो श्रेणी (एक ही शिल्प कार्य से आजीविका चलाने वाले) नहीं थे उनको श्रेणी किया गया।

व्याख्या—जो एक ही शिल्प अथवा पण्य से जीवन धारण करे उसके समूह को श्रेणी कहते हैं।

रूपसिद्धिः — श्रेणीकृताः

लौ० वि०—अश्रेणयः श्रेणयः कृताः। अलौ० वि०—श्रेणी जस् कृत जस्।

'श्रेण्यादयः०'[७३८] (२.१.५९) सूत्र पर 'श्रेण्यादिषु च्व्यर्थवचनं कर्तव्यम्' (वा० १२९६) के बल पर 'च्वि' प्रत्यय के अर्थ में 'श्रेणी' शब्द का 'कृत' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों जस् प्रत्ययों) का लोप (श्रेणी कृत)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'श्रेणी' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'श्रेणी' शब्द का पूर्व प्रयोग (श्रेणी कृत)। एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से प्रथमा बहुवचन में जस् (अस्) प्रत्यय (श्रेणी कृत अस्)। 'प्रथमयोः पूर्व०'[१९४] (६.१.१०२) से पूर्व सवर्ण दीर्घ

(श्रेणीकृता स्) । 'ससजुषो रुः'[१६२] (८.२.६६) से 'स्' को 'रु' (र्) (श्रेणीकृता र्) । 'खरवसानयो०'[७६] (८.३.१५) से 'र्' को विसर्ग (श्रेणीकृताः) ।

७३९. क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ् (२.१.६०)

नञ्विशिष्टेन क्तान्तेनानञ् क्तान्तं समस्यते । कृतं च तदकृतं च कृताकृतम् । 'शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्' (वा० १३१०) । शाकप्रियः पार्थिवः शाकपार्थिवः । देवब्राह्मणः ।

अनु०—नञ् विशिष्ट क्तान्त पद के साथ नञ् भिन्न क्तान्त पद का समास होता है । कृताकृतम्—एकदेश में कृत और अन्य देश में अकृत ।

'शाकपार्थिव' आदि समस्त पदों की सिद्धि के लिए उत्तरपद के लोप का परिगणन होता है । शाकप्रियः पार्थिवः शाकपार्थिवः—शाक को पसन्द करने वाला राजा । देवब्राह्मणः—(देवपूजको ब्राह्मणः) देवताओं की पूजा करने वाला ब्राह्मण ।

रूपसिद्धिः—कृताकृतम्

लौ० वि०—कृतं च तदकृतं च । अलौ० वि०—कृत सु अकृत सु ।

'क्तेन नञ्विशिष्टेना०'[७३९] (२.१.६०) से क्तान्त 'कृत' का नञ् विशिष्ट क्तान्त 'अकृत' के साथ समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (कृत अकृत) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'कृत' शब्द की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'कृत' शब्द का पूर्व प्रयोग (कृत अकृत) । 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (कृताकृत) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२)से सु (कृताकृत सु) । 'अतोऽम्'[१०९] (७.१.२४) से 'सु' को 'अम्' (कृताकृत अम्) । 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से 'अम्' के 'अ' को पूर्वरूप (कृताकृतम्) ।

शाकपार्थिवः

लौ० वि०—शाकप्रियः पार्थिवः । अलौ० वि०—शाक सु पार्थिव सु ।

'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्'[७३६] (२.१.५७) से विशेषण पद 'शाकप्रिय' का विशेष्य पद 'पार्थिव' के साथ समास और 'शाकपार्थिवादीनां सिद्धये०' (वा० १३१०) से 'शाकप्रिय' के उत्तर पद 'प्रिय' का लोप । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (शाक पार्थिव) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'शाक' शब्द की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'शाक' शब्द का पूर्व प्रयोग (शाक पार्थिव) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (शाकपार्थिव स्)। 'ससजुषो रुः'[१६२] (८.२.६६) से 'स्' को 'रु' (र्) (शाकपार्थिव र्) । 'खरवसानयो०'[७६] (८.३.१५) से 'र्' को विसर्ग (शाकपार्थिवः) ।

देवब्राह्मणः

लौ० वि०—देवपूजको ब्राह्मणः। अलौ० वि०—देव सु ब्राह्मण सु।

'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्'[७३६] (२.१.५७) से विशेषण पद 'देवपूजक' का विशेष्य पद 'ब्राह्मण' के साथ समास और 'शाकपार्थिवादीनां सिद्धये०' (वा० १३१०) से 'देवपूजक' के उत्तरपद 'पूजक' का लोप। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (देव ब्राह्मण)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'देव' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'देव' शब्द का पूर्व प्रयोग (देव ब्राह्मण)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (देव ब्राह्मण सु)। शेषं पूर्ववत्। देवब्राह्मणः।

७४०. सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः (२.१.६१)

सद्वैद्यः। वक्ष्यमाणेन महत आकारः। महावैयाकरणः। पूज्यमानैः किम्—उत्कृष्टो गौः। पङ्काद् उद्धृत इत्यर्थः।

अनु०—(सत्, महत्, परम, उत्तम, उत्कृष्ट इन शब्दों का पूज्यमान समानाधिकरणों के साथ समास होता है।) सद्वैद्यः—चिकित्साशास्त्र में निपुण वैद्य। वक्ष्यमाण सूत्र 'आन्महतः'[८०७] (६.३.४६) से 'महत्' को आकार अन्तादेश। महावैयाकरणः—महान् वैयाकरण। 'पूज्यमान पदों के साथ' (ही समास हो) ऐसा क्यों कहा?—उत्कृष्टो गौः। कीचड़ से निकाला गया बैल। (यहाँ गो शब्द का अर्थ 'बैल' है जो कि पूज्यमान नहीं है। अतः उसका 'उत्कृष्टः' के साथ समास नहीं होता।)

रूपसिद्धिः—सद्वैद्यः

लौ० वि०—सत् वैद्यः। अलौ० वि०—सत् सु वैद्य सु।

'सन्महत्०'[७४०] (२.१.६१) से 'सत्' शब्द का 'वैद्य' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (सत् वैद्य)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'सत्' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'सत्' शब्द का पूर्व प्रयोग (सत् वैद्य)। 'झलां जश्०'[५२] (८.४.५३) से 'त्' को 'द्' (सद्वैद्य)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (सद्वैद्य सु)। शेषं पूर्ववत्। सद्वैद्यः।

महावैयाकरणः

लौ० वि०—महांश्चासौ वैयाकरणः। अलौ० वि०—महत् सु वैयाकरण सु।

'सन्महत्०'[७४०] (२.१.६१)से 'महत्' शब्द का 'वैयाकरण' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (महत् वैयाकरण)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'महत्' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'महत्' शब्द का पूर्व प्रयोग (महत् वैयाकरण)। 'आन्महतः०'[८०७] (६.३.४६) से 'महत्' के 'त्' को आकार अन्तादेश (मह आ वैयाकरण)। 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (महावैयाकरण)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (महावैयाकरण सु)। शेषं पूर्ववत्। महावैयाकरणः।

७४१. वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम् (२.१.६२)

गोवृन्दारकः। व्याघ्रादेराकृतिगणत्वादेव सिद्धे सामान्यप्रयोगार्थं वचनम्।

अनु०— (वृन्दारक, नाग और कुञ्जर पदों के साथ पूज्यमान वाचक पद का समास होता है।)। गोवृन्दारकः—यह बैल देवता के समान है। व्याघ्र आदि शब्दों के आकृतिगण होने के कारण समास सिद्ध होने पर सामान्य के प्रयोग होने पर ही इस सूत्र ('वृन्दारक०'[७४१](२.१.६२)) से समास हो, इसलिए इस सूत्र की रचना हुई।

व्याख्या०—व्याघ्रादेरिति। **प्रश्न**—'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे'[७३५] (२.१.५६) इस सूत्र से यहाँ समास हो सकता था। तब 'वृन्दारक०'[७४१] (२.१.६२) सूत्र से क्या लाभ? **उत्तर** में भट्टोजिदीक्षित का कथन है कि 'उपमितं०'[७३५] (२.१.५६) का क्षेत्र सीमित है क्योंकि वहाँ 'सामान्याप्रयोगे' कहा है। जहाँ सामान्य का प्रयोग नहीं होता वहाँ 'उपमितं०'[७३५] (२.१.५६) इस सूत्र से समास होता है। 'वृन्दारक०'[७४१] (२.१.६२) से जो समास होता है वह सामान्य के प्रयोग होने अथवा न होने पर भी होता है। 'गोकुञ्जरः श्रेष्ठः' इस उदाहरण में 'श्रेष्ठः' इस सामान्य का प्रयोग हुआ है। अतः यहाँ 'उपमितं०'[७३५] (२.१.५६) इस सूत्र से समास नहीं हो सकता। ऐसे उदाहरणों में 'वृन्दारक०'[७४१] (२.१.६२) इस सूत्र से समास होता है।

रूपसिद्धिः—गोवृन्दारकः

लौ० वि०—गौः वृन्दारक इव। अलौ० वि०—गो सु वृन्दारक सु।

'वृन्दारकनाग०'[७४१] (२.१.६२) से 'गो' शब्द का पूज्यमान वाचक 'वृन्दारक' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (गो वृन्दारक)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'गो' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'गो' शब्द का पूर्व प्रयोग (गो वृन्दारक)। एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (गोवृन्दारक सु)। शेषं पूर्ववत्। गोवृन्दारकः।

७४२. कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने (२.१.६३)

कतरकठः । कतमकलापः । 'गोत्रं च चरणैः सह' इति जातित्वम् ।

अनु०—जातिविषयक प्रश्न पूछने पर कतर और कतम शब्दों का समानाधिकरण के साथ समास होता है। जैसे कतरकठः—कौन कठ (कठशाखा का) है ? कतमकलापः—कौन कलाप शाखा का है ? 'जाति' शब्द से गोत्र और चरण दोनों का ग्रहण होता है।

रूपसिद्धिः —कतरकठः

लौ० वि०—कतरः कठः । अलौ० वि०— कतर सु कठ सु ।

'कतरकतमौ०'[७४२] (२.१.६३) से 'कतर' शब्द का 'कठ' शब्द के साथ समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (कतर कठ) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'कतर' शब्द की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'कतर' शब्द का पूर्व प्रयोग (कतरकठ) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (कतर कठ सु) । शेषं पूर्ववत् । कतरकठः ।

कतमकलापः

लौ० वि०—कतमः कलापः । अलौ० वि०—कतम सु कलाप सु ।

'कतरकतमौ०'[७४२] (२.१.६३) से 'कतम' शब्द का 'कलाप' शब्द के साथ समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (कतम कलाप) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'कतम' शब्द की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'कतम' शब्द का पूर्व प्रयोग (कतम कलाप) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (कतमकलाप सु) । शेषं पूर्ववत् । कतमकलापः ।

७४३. किं क्षेपे (२.१.६४)

कुत्सितो राजा किंराजा, यो न रक्षति ।

अनु०— (निन्दा अर्थ के सूच्य होने पर 'किम्' इस अव्यय का समानाधिकरण के साथ समास होता है । वह तत्पुरुष होता है।) कुत्सितो राजा किंराजा, यो न रक्षति—राजा कुत्सित है जो प्रजा की रक्षा नहीं करता है ।

रूपसिद्धिः—किंराजा

लौ० वि०—कुत्सितो राजा । अलौ० वि०—किम् सु राजन् सु ।

'किं क्षेपे'[७४३] (२.१.६४) से निन्दा अर्थ में प्रयुक्त अव्यय 'किम्' का 'राजन्' शब्द के साथ समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो

धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (किम् राजन्)। 'प्रथमानिर्दिष्ट०'[६५३] (१.२.४३) से 'किम्' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'किम्' शब्द का पूर्व प्रयोग (किं राजन्)। एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (किं राजन् सु)। 'सर्वनामस्थाने चास०'[२५०] (६.४.८) से उपधा दीर्घ (किं राजान् सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप (किं राजान्)। 'नलोपः प्राति०'[२३६] (८.२.७) से 'न्' लोप (किंराजा)।

'किंराजा'—यहाँ 'राजाहःसखि०'[६८८] (५.४.९१) से टच् प्राप्त था किन्तु 'किं क्षेपे'[७४३] (२.१.६४) इस सूत्र से टच् का निषेध हुआ है। टच् होने पर 'किंराजः' प्रयोग बनता जो कि इष्ट नहीं है।

७४४. पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्बष्कयणीप्रवक्तृश्रोत्रियाध्यापकधूर्तैर्जातिः (२.१.६५)

अनु०—पोटा, युवति, स्तोक, कतिपय, गृष्टि, धेनु, वशा, वेहत्, बष्कयणी, प्रवक्तृ, श्रोत्रिय, अध्यापक और धूर्त इन समानाधिकरण शब्दों के साथ जातिवाचक शब्द का तत्पुरुष समास होता है।

७४५. तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः (१.२.४२)

अनु०—समानाधिकरण तत्पुरुष को कर्मधारय कहते हैं।

व्याख्या—समानाधिकरण का अर्थ है समान विभक्त्यन्त पद। समानाधिकरण में पूर्वपद और उत्तरपद दोनों समान विभक्त्यन्त होते हैं।

७४६. पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु (६.३.४२)

कर्मधारये जातीयदेशीययोश्च परतो भाषितपुंस्कात्पर ऊङभावो यस्मिंस्तथाभूतं पूर्वं पुंवत्। पूरणीप्रियादिष्वप्राप्तः पुंवद्भावो विधीयते। महानवमी। कृष्णचतुर्दशी। महाप्रिया। तथा कोपधादेः प्रतिषिद्धः पुंवद्भावः कर्मधारयादौ प्रतिप्रसूयते। पाचकस्त्री, दत्तभार्या, पञ्चमभार्या, स्त्रौघ्नभार्या, सुकेशभार्या, ब्राह्मणभार्या। एवं पाचकजातीया, पाचकदेशीया इत्यादि। इभपोटा। 'पोटा स्त्रीपुंसलक्षणा।' इभयुवतिः। अग्निस्तोकः। उदश्वित्कतिपयम्। गृष्टिः सकृत्प्रसूता, गोगृष्टिः। धेनुर्नवप्रसूता, गोधेनुः। वशा वन्ध्या गोवशा। वेहद्गर्भघातिनी, गोवेहत्। बष्कयण्यतरुणवत्सा, गोबष्कयणी। कठप्रवक्ता। कठश्रोत्रियः। कठाध्यापकः। कठधूर्तः।

अनु०—कर्मधारय समास में जातीय और देशीय शब्दों के परे रहते भाषितपुंस्क और ऊङरहित स्त्रीवाचक पद को पुंवद्भाव होता है। पूरणी, प्रिया आदि शब्दों के परे रहने पर अप्राप्त पुंवद्भाव का इस समास से विधान हुआ है। महानवमी।

कृष्णचतुर्दशी । महाप्रिया । 'न कोपधायाः' सूत्र से प्रतिषिद्ध पुंवद्भाव कर्मधारय समास में प्राप्त हो जाता है । पाचकस्त्री, दत्तभार्या, पञ्चमभार्या, स्नौघ्नभार्या, सुकेशभार्या, ब्राह्मणभार्या । इसी प्रकार पाचकजातीया, पाचकदेशीया आदि । इभपोटा । जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों के चिह्न हों उसे पोटा कहते हैं । इभयुवतिः । अग्निस्तोकः । उदश्वित्कतिपयम् । पहली बार प्रसूत गाय को गृष्टि कहा है । गोगृष्टिः । नवप्रसूता धेनु को गोधेनु कहा है । वन्ध्या गाय को गोवशा कहा है । गर्भघातिनी गाय को गोवेहत् कहते हैं । जिसका बछड़ा वृद्ध हो गया हो ऐसी गाय को गोबष्कयणी कहा है । कठप्रवक्ता । कठश्रोत्रियः । कठाध्यापकः । कठधूर्तः ।

व्याख्या—'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) सूत्र में 'स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियाऽऽदिषु'[८३१] (६.३.३४) इस सूत्र से 'स्त्रियाः पुंवत् भाषितपुंस्कादनूङ समानाधिकरणे स्त्रियाम्' इन पदों की अनुवृत्ति होती है ।

'भाषितपुंस्कादनूङ' यह समस्त पद षष्ठ्यन्त है, निपातन से 'अनूङः' की षष्ठी का लोप हुआ है जब कि 'भाषितपुंस्काद्' में निपातन से पञ्चमी का लोप नहीं हुआ ।

भाषितपुंस्क उस शब्द को कहते हैं जिसका अर्थ सभी लिङ्गों में समान हो । प्रायः ये पद विशेषण वाचक होते हैं । जैसे 'प्रिय' शब्द ।

'स्त्रियाः पुंवद्०'[८३१] (६.३.३४) इस सूत्र से भी पुंवद्भाव सम्भव था किन्तु इस सूत्र में 'अपूरणीप्रियादिषु' कहा है । पूरणी संख्या और प्रिया आदि शब्द यदि परे हों तब यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता । उस दशा में 'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) इस सूत्र से पुंवद्भाव होगा ।

कर्मधारय में और जातीय और देशीय शब्दों के परे रहते, पूरणी संख्या और प्रिया आदि शब्दों के परे रहने पर भी स्त्रीवाचक शब्द को पुंवद्भाव हो जाता है, अतिरिक्त स्थानों में 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) इस सूत्र में 'अपूरणीप्रियादिषु' कहने से पुंवद्भाव नहीं होता । अतः दोनों सूत्रों के पृथक् पृथक् क्षेत्र हैं ।

रूपसिद्धिः—महानवमी

लौ० वि०—महती चासौ नवमी च । अलौ० वि०—महती सु नवमी सु ।

'सन्महत्०'[७४०] (२.१.६१) सूत्र से समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (महती नवमी) । 'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) से महती को महत् पुंवद्भाव (महत् नवमी) । 'आन्महतः०'[८०७] (६.३.४६) से महत् के 'त्' को आ (मह आ नवमी) । 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (महा नवमी) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (महानवमी सु) । 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप । महानवमी ।

उक्त प्रयोग में 'नवमी' पूरणी प्रत्ययान्त है । यह पूरणार्थक डट् प्रत्यय से बना है । यहाँ 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) इस सूत्र से पुंवद्भाव प्राप्त नहीं था, 'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) से पुंवद्भाव हुआ है ।

कृष्णचतुर्दशी

लौ० वि०—कृष्णा चासौ चतुर्दशी च। अलौ० वि०—कृष्णा सु चतुर्दशी सु।

चतुर्दशी शब्द डट् प्रत्यय से बना है जो कि पूरणी प्रत्ययान्त है। यहाँ 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) इस सूत्र से पुंवद्भाव प्राप्त नहीं था। 'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) इस सूत्र से पुंवद्भाव हुआ है।

महाप्रिया

लौ० वि०—महती चासौ प्रिया च। अलौ० वि०—महती सु प्रिया सु।

यहाँ 'प्रिया' शब्द परे है अतः 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) इस सूत्र से पुंवद्भाव प्राप्त नहीं हुआ। 'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) से पुंवद्भाव हुआ है।

पाचकस्त्री

लौ वि०—पाचिका चासौ स्त्री च। अलौ० वि०—पाचिका सु स्त्री सु।

यहाँ 'न कोपधायाः'[८३८] (६.३.३७) सूत्र से पुंवद्भाव का प्रतिषेध प्राप्त था। 'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) सूत्र से पुंवद्भाव हुआ है।

दत्तभार्या

लौ० वि०—दत्ता चासौ भार्या च। अलौ वि०—दत्ता सु भार्या सु।

यहाँ 'संज्ञापूरण्योश्च'[८३९] (६.३.३८) सूत्र से पुंवद्भाव का निषेध प्राप्त था। 'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) सूत्र से पुंवद्भाव हुआ है।

पञ्चमभार्या

लौ० वि०—पञ्चमी चासौ भार्या च। अलौ० वि०—पञ्चमी सु भार्या सु।

यहाँ 'संज्ञापूरण्योश्च'[८३९] (६.३.३८) से पुंवद्भाव का प्रतिषेध प्राप्त था। 'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) से पुंवद्भाव हुआ है।

स्रौघ्नभार्या

लौ० वि०—स्रौघ्नी चासौ भार्या च। अलौ० वि०—स्रौघ्नी सु भार्या सु।

'वृद्धिनिमित्तस्य च०'[८४०] (६.३.३९) सूत्र से पुंवद्भाव का प्रतिषेध प्राप्त था। 'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) सूत्र से पुंवद्भाव हुआ है।

सुकेशभार्या

लौ० वि०—सुकेशी चासौ भार्या च। अलौ० वि०—सुकेशी सु भार्या सु।

यहाँ 'स्वाङ्गाच्च०'[८४१] (६.३.४०) सूत्र से पुंवद्भाव का निषेध प्राप्त हुआ। 'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) से पुंवद्भाव हुआ है।

ब्राह्मणभार्या

लौ० वि०—ब्राह्मणी चासौ भार्या च। अलौ० वि०—ब्राह्मणी सु भार्या सु।

यहाँ 'जातेश्च'[८८२] (६.३.४१) से पुंवद्भाव का निषेध प्राप्त था। 'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) से पुंवद्भाव हुआ है।

पाचकजातीया

लौ० वि०—पाचका चासौ जातीया च। अलौ० वि०—पाचका सु जातीयर् सु।

यहाँ 'तसिलादिष्वा०'[८३६] (६.३.३५) से प्राप्त पुंवद्भाव का 'न कोपधाया०'[८३८] ६.३.३७) सूत्र से निषेध प्राप्त था। 'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) से पुंवद्भाव हुआ है।

पाचकदेशीया

लौ० वि०—पाचिका चासौ देशीया च। अलौ० वि०—पाचिका सु देशीयर् सु।

यहाँ 'तसिलादिष्वा०'[८३६] (६.३.३५) सूत्र से प्राप्त पुंवद्भाव का 'न कोपधायाः'[८३८] (६.३.३७) सूत्र से निषेध प्राप्त था। 'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) से पुंवद्भाव हुआ है।

इभपोटा

लौ० वि०—पोटा चासौ इभी च। अलौ० वि०—पोटा सु इभी सु।

'पोटायुवति०'[७४४] (२.१.६५) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (पोटा इभी)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से इभी शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक इभी शब्द का पूर्व प्रयोग (इभी पोटा)। 'तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः'[७४५] (१.२.४२) से कर्मधारय संज्ञा। 'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) से इभी का पुंवद्भाव (इभ पोटा)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (इभपोटा सु)। हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप (इभपोटा)।

इभयुवतिः

लौ० वि०—युवतिश्चासौ इभी च। अलौ० वि०—युवति सु इभी सु।

'पोटायुवति०'[७४४] (२.१.६५) से समास। 'कृत्तद्धित'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (युवति इभी)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'इभी' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'इभी' शब्द का पूर्व प्रयोग (इभी युवति)। 'तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः'[७४५] (१.२.४२) से कर्मधारय संज्ञा। 'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) से 'इभी' शब्द को पुंवद्भाव (इभ युवति)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (इभयुवति स्)। 'ससजुषो रुः'[१६२] (८.२.६६) से 'स्' को 'रु'(र्) (इभयुवति र्)। 'खरवसानयो०'[७६] (८.३.१५) से र् को विसर्ग। इभयुवतिः।

अग्निस्तोकः

लौ० वि०—स्तोकश्चासौ अग्निश्च । अलौ० वि०—स्तोक सु अग्नि सु ।

'पोटायुवति०'[७४४] (२.१.६५) से समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (स्तोक अग्नि) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'अग्नि' शब्द की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'अग्नि' शब्द का पूर्व प्रयोग (अग्निस्तोक) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (अग्निस्तोक सु) । शेषं पूर्ववत् (अग्निस्तोकः)

उदश्वित्कतिपयम्

लौ० वि०—कतिपयं च तदुदश्विच्च । अलौ० वि०—कतिपय सु उदश्वित् सु ।

'पोटायुवति'०[७४४](२.१.६५)से समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (कतिपय उदश्वित्) । 'प्रथमानिर्दिष्टं'०[६५३] (१.२.४३) से 'उदश्वित्' शब्द की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'उदश्वित्' शब्द का पूर्व प्रयोग (उदश्वित्कतिपय) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्'[१८३] (४.१.२) से सु (उदश्वित्कतिपय सु) । 'अतोऽम्०'[३०९] (७.१.२४) से 'सु' को 'अम्' (उदश्वित्कतिपय अम्) । 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से 'अम्' के 'अ' को पूर्वरूप (उदश्वित्कतिपयम्) ।

गोगृष्टिः

लौ० वि०—गृष्टिश्चासौ गौश्च । अलौ० वि०—गृष्टि सु गो सु ।

'पोटायुवति०'[७४४] (२.१.६५) से समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (गृष्टि गो) । 'प्रथमानिर्दिष्टं'०[६५३] (१.२.४३) से 'गो' शब्द की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'गो' शब्द का पूर्व प्रयोग (गो गृष्टि) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (गोगृष्टि स्) । 'ससजुषो रुः'[१६२] (८.२.६६) से 'स्' को 'रु' (र्) (गोगृष्टि र्) 'खरवसानयो०'[७६] (८.३.१५) से र् को विसर्ग (गोगृष्टिः) ।

गोधेनुः

लौ० वि—धेनुश्चासौ गौश्च । अलौ० वि०—धेनु सु गो सु ।

'पोटायुवति०'[७४४] (२.१.६५) से समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (धेनु गो) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'गो' शब्द की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'गो' शब्द का पूर्व प्रयोग (गो धेनु) । 'एकदेशविकृत-

मनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (गोधेनु सु) । शेषं पूर्ववत्। गोधेनुः।

गोवशा

लौ० वि०—वशा चासौ गौश्च । अलौ० वि०—वशा सु गो सु ।

'पोटायुवति०'[७४४] (२.१.६५) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (वशा गो)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'गो' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'गो' शब्द का पूर्व प्रयोग (गो वशा)। एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (गोवशा सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप। गोवशा।

गोवेहत्

लौ० वि०—वेहच्चासौ गोश्च । अलौ० वि०—वेहत् सु गो सु ।

'पोटायुवति०'[७४४] (२.१.६५) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१)से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (वेहत् गो)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'गो' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'गो' शब्द का पूर्व प्रयोग (गो वेहत्)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्'[१८३] (४.१.२) से सु (गोवेहत् सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप (गोवेहत्)।

गोबष्कयणी

लौ० वि०—वष्कयणी चासौ गौश्च । अलौ० वि०—वष्कयणी पुं गो सु ।

'पोटायुवति०'[७४४] (२.१.६५) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (बष्कयणी गो)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से गो शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'गो' शब्द का पूर्व प्रयोग (गो बष्कयणी)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (गोबष्कयणी सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप (गोवष्कयणी)।

कठप्रवक्ता

लौ० वि०—प्रवक्ता चासौ कठश्च । अलौ० वि०—प्रवक्ता सु कठ सु ।

'पोटायुवति०'[७४४] (२.१.६५) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्यया) का लोप (प्रवक्ता कठ)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'कठ' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'कठ' शब्द का पूर्व प्रयोग (कठ प्रवक्ता)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा।

'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (कठप्रवक्ता सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप (कठप्रवक्ता)।

कठश्रोत्रियः

लौ० वि०—श्रोत्रियश्चासौ कठश्च। अलौ० वि०—श्रोत्रिय सु कठ सु।

'पोटायुवति०'[७४४] (२.१.६५) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (श्रोत्रिय कठ)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'कठ' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'कठ' शब्द का पूर्व प्रयोग (कठश्रोत्रिय)। 'एकदेश-विकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (कठश्रोत्रिय स्)। 'ससजुषो रुः'[१६२] (८.२.६६) से 'स्' को 'रु' (र्) (कठश्रोत्रिय र्)। 'खरवसानयो०'[७६] (८.३.१५) से 'र्' को विसर्ग (कठश्रोत्रियः)।

कठाध्यापक :—

लौ० वि०—अध्यापकश्चासौ कठश्च। अलौ० वि०—अध्यापक सु कठ सु।

'पोटायुवति०'[७४४] (२.१.६५) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (अध्यापक कठ)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'कठ' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'कठ' शब्द का पूर्व प्रयोग (कठ अध्यापक)। 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (कठाध्यापक)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (कठाध्यापक स्)। 'ससजुषो रुः'[१६२] (८.२.६६) से 'स्' को 'रु' (र्) (कठाध्यापक र्)। 'खरवसानयो०'[७६] (८.३.१५) से 'र्' को विसर्ग (कठाध्यापकः)।

कठधूर्तः—

लौ० वि०—धूर्तश्चासौ कठश्च। अलौ० वि०—धूर्त सु कठ सु।

'पोटायुवति०'[७४४] (२.१.६५) से समास। कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (धूर्त कठ)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'कठ' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'कठ' शब्द का पूर्व प्रयोग (कठधूर्त)। 'एकदेशविकृत-मनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (कठधूर्त सु)। शेषं पूर्ववत्। कठधूर्तः।

७४७. प्रशंसावचनैश्च (२.१.६६)

एतैः सह जातिः प्राग्वत्। गोमतल्लिका। गोमर्चिका। गोप्रकाण्डम्। गवोढः। गोतल्लजः। प्रशस्ता गौरित्यर्थः। मतल्लिकादयो नियतलिङ्गाः, न तु विशेष्यनिघ्नाः। जातिः किम्—कुमारी मतल्लिका।

अनु०—प्रशंसा वाचक शब्दों के साथ जाति का समास होता है। गोमतल्लिका।

गोमर्चिका, गोप्रकाण्डम् । गवोद्धः । गोतल्लजः । (उक्त उदाहरणों में मतल्लिका, मर्चिका, प्रकाण्डम्, उद्ध, तल्लज—ये प्रशंसा वाचक शब्द हैं।) इन शब्दों का अर्थ है—'प्रशस्त गाय' । मतल्लिका आदि शब्दों का लिङ्ग नियत होता है । विशेष्य के अनुसार नहीं चलता । सूत्र में 'जातिः' क्यों कहा ?—कुमारी मतल्लिका (यहाँ समास न हो) ।

व्याख्या—जातिरिति । 'प्रशंसावचनैश्च'[७४७] (२.१.६६) सूत्र में कहा है कि प्रशंसा वाचक शब्दों के साथ जातिवाचक शब्द का समास होता है । किन्तु जहाँ जाति नहीं है वहाँ प्रशंसा वाचक शब्द के होने पर भी समास नहीं होता । जैसे—कुमारी-मतल्लिका । यहाँ कुमारी वयोविशेषवाची शब्द है, जातिवाची नहीं । अतः यहाँ समास नहीं हुआ । समास होने पर 'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) से पुंवद्भाव हो जाता ।

रूपसिद्धिः—गोमतल्लिका

लौ० वि०—मतल्लिका चासौ गौश्च । अलौ० वि०—मतल्लिका सु गो सु ।

'प्रशंसावचनैश्च'[७४७] (२.१.६६) से समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (मतल्लिका गो) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'गो' शब्द की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'गो' शब्द का पूर्व प्रयोग (गो मतल्लिका) । 'एकदेश विकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (गोमतल्लिका सु) । 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप (गोमतल्लिका) ।

गोमर्चिका

लौ० वि०—मर्चिका चासौ गौश्च । अलौ० वि०—मर्चिका सु गो सु ।

'प्रशंसावचनैश्च'[७४७] (२.१.६६) से समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (मर्चिका गो) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'गो' शब्द की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'गो' शब्द का पूर्व प्रयोग (गोमर्चिका) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (गोमर्चिका सु) । 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप (गोमर्चिका) ।

गोप्रकाण्डम्

लौ० वि०—प्रकाण्डं चासौ गौश्च । अलौ० वि०—प्रकाण्ड सु गो सु ।

'प्रशंसावचनैश्च'[७४७] (२.१.६६) से समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (प्रकाण्ड गो) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'गो' शब्द की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'गो' शब्द का पूर्व प्रयोग

(गो प्रकाण्ड)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (गोप्रकाण्ड सु)। 'अतोऽम्'[३०९] (७.१.२४) से 'सु' को 'अम्' (गोप्रकाण्ड अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से 'अम् के 'अ' को पूर्वरूप (गोप्रकाण्डम्)।

गवोद्धः

लौ० वि०—उद्धश्चासौ गौश्च। अलौ० वि०—उद्ध सु गो सु।

'प्रशंसावचनैश्च'[७४०] (२.१.६६) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (उद्ध गो)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'गो' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'गो' शब्द का पूर्व प्रयोग (गो उद्ध)। 'अवङ् स्फोटायनस्य'[८८] (६.१.१२३) से 'ओ' को 'अवङ्' (ग् अवङ् उद्ध=गव उद्ध)। 'आद्गुणः'[६९] (६.१.८७) से गुण (गवोद्ध)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (गवोद्ध स्)। 'ससजुषो रुः'[१६२] (८.२.६६) से 'स्' को 'रु' (र्) (गवोद्ध र्)। 'खरवसानयो०'[७५] (८.३.१५) से 'र्' को विसर्ग (गवोद्धः)।

गोतल्लजः

लौ० वि०—तल्लजश्चासौ गौश्च। अलौ० वि०—तल्लज सु गो सु।

'प्रशंसावचनैश्च'[७४०] (२.१.६६) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (तल्लज गो)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'गो' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'गो' शब्द का पूर्व प्रयोग (गो तल्लज)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (गोतल्लज सु)। शेषं पूर्ववत्। गोतल्लजः।

७४८. युवा खलतिपलितवलिनजरतीभिः (२.१.६७)

पूर्वनिपातनियमार्थं सूत्रम्। लिङ्गविशिष्टपरिभाषया युवतिशब्दोऽपि समस्यते। युवा खलतिर्युवखलतिः। युवतिः खलती युवखलती। युवजरती। युवत्यामेव जरतीधर्मोपलम्भेन तद्रूपारोपात्सामानाधिकरण्यम्।

अनु०—(खलति, पलित, वलिन और जरती शब्दों के साथ 'युवन्' शब्द का समास होता है।) पूर्वनिपात के लिए यह सूत्र है। लिङ्गविशिष्ट परिभाषा से युवति शब्द का भी (खलति आदि शब्दों के साथ) समास हो जाता है। युवखलतिः= युवती खल्वाट।

(युवतिश्चासौ जरती च) यहाँ 'युवति' में ही जरती धर्म का आरोप करने से समानाधिकरण हो जाता है। युवजरती=ऐसी युवती जो देखने में वृद्धा मालूम होती है।

व्याख्या—पूर्वनिपातेति । युवखलतिः—युवा चासौ खलतिश्च । यहाँ 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्'[७३६] (२.१.५७) से भी समास हो सकता है किन्तु इस सूत्र से समास होने पर पूर्वनिपात का नियम नहीं रहता क्योंकि 'युवन्' और 'खलति' दोनों गुण वाचक शब्द हैं। दोनों में से किसी का भी पूर्वनिपात हो सकता है। किन्तु 'युवन्' का ही पूर्व निपात इष्ट है। 'युवा खलति०'[७४८] (२.१.६७) इस सूत्र का यह प्रयोजन है । लिङ्गविशिष्टेति । 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' परिभाषा द्वारा युवन् से स्त्रीलिङ्ग 'युवति' का भी ग्रहण हो जाता है ।

रूपसिद्धिः—युवखलतिः

लौ० वि०—युवा चासौ खलतिश्च । अलौ० वि०—युवन् सु खलति सु ।

'युवा खलति०'[७४८] (२.१.६७) से 'युवन्' शब्द का 'खलति' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (युवन् खलति)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'युवन्' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'युवन्' शब्द का पूर्व प्रयोग (युवन् खलति)। 'नलोपः प्राति०'[२२६] (८.२.७) से न् लोप (युव खलति) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (युवखलति सु)। शेषं पूर्ववत् । युवखलतिः ।

युवखलती

लौ० वि०—युवतिश्चासौ खलती च । अलौ० वि०—युवति सु खलती सु ।

'युवा खलति०'[७४८] (२.१.६७) सूत्र में प्रातिपदिकान्त 'युवा' शब्द न केवल पुंवाचक 'युवन्' को अपितु स्त्रीवाचक 'युवति' शब्द को भी सूचित करता है । (प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्) । अतः उक्त उदाहरण में 'युवा खलति०'[७४८] (२.१.६७) से 'युवति' शब्द का 'खलती' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (युवति खलती)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'युवति' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'युवति' शब्द का पूर्व प्रयोग (युवति खलती)। 'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) से 'युवति' शब्द का पुंवद्भाव (युवन् खलती)। 'नलोपः प्राति०'[२२६] (८.२.७) से न् लोप (युवखलती) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (युवखलती सु) । 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप (युवखलती) ।

युवजरती

लौ० वि०—युवतिश्चासौ जरती च । अलौ० वि०—युवति सु जरती सु ।

'युवा खलति'[७४८] (२.१.६७) सूत्र में प्रातिपदिकान्त 'युवा' शब्द न केवल पुंवाचक 'युवन्' को अपितु स्त्रीवाचक 'युवति' शब्द को भी सूचित करता है।

(प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्)। अतः उक्त उदाहरण में 'युवा खलति०'[७४८] (२.१.६७) से 'युवति' शब्द का 'जरती' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (युवति जरती)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'युवति' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'युवति' शब्द का पूर्व प्रयोग (युवती जरती)। 'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) से 'युवति' शब्द का पुंवद्भाव (युवन् जरती)। 'नलोपः प्राति०'[२२६] (८.२.७) से न् लोप (युवजरती)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (युवजरती सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप (युवजरती)।

७४९. कृत्यतुल्याख्या अजात्या (२.१.६८)

भोज्योष्णम्। तुल्यश्वेतः। सदृशश्वेतः। अजात्या किम्—भोज्य ओदनः। प्रतिषेधसामर्थ्याद्विशेषणसमासोऽपि न।

अनु०—(कृत्यप्रत्ययान्त और तुल्यवाचक शब्दों का जातिभिन्न वाचक समानाधिकरण के साथ तत्पुरुष समास होता है।) भोज्योष्णम्—गर्म भोज्य पदार्थ। तुल्यश्वेतः—समान सफेद रंग का। सदृशश्वेतः—समान सफेद रंग का। (सूत्र में) अजात्या क्यों कहा?—भोज्य ओदनः—भोज्य भात। यहाँ समास न हो। प्रतिषेध के बल से विशेषण समास भी नहीं होता।

व्याख्या—'कृत्यतुल्याख्या अजात्या'[७४९] (२.१.६८) सूत्र में 'तुल्याख्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसलिए तुल्यार्थक सदृश आदि शब्दों का भी जातिभिन्न वाचक समानाधिकरण के साथ समास हो जाता है। जैसे—सदृशश्वेतः। यहाँ 'सदृश' शब्द तुल्य का पर्याय है।

अजात्या किमिति। सूत्र में कहा है कि कृत्यप्रत्ययान्तों और तुल्यवाचक शब्दों का जातिभिन्नवाचक समानाधिकरण के साथ समास होता है। इसका अर्थ है कि जहाँ जातिवाचक समानाधिकरण होता है वहाँ कृत्य और तुल्य शब्दों के होने पर भी समास नहीं होता। जैसे—भोज्य ओदनः। यहाँ ओदन जातिवाचक शब्द है। इसलिए उसके साथ कृत्यप्रत्ययान्त भोज्य का समास नहीं हुआ है।

प्रतिषेधेति। 'भोज्य ओदनः' इस वाक्य में 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्'[७३६] (२.१.५७) इस सूत्र से समास हो सकता था किन्तु 'कृत्यतुल्याख्या०'[७४९] (२.१.६८) सूत्र में 'अजात्या' कहा है। इस कथन के बल से कृत्यप्रत्ययान्त और तुल्यवाचक शब्दों का जातिवाचक शब्दों के साथ विशेषण समास भी नहीं होता।

रूपसिद्धिः—भोज्योष्णम्

लौ० वि०—भोज्यं च तदुष्णं च। अलौ० वि०—भोज्य सु उष्ण सु।

'कृत्यतुल्याख्या०'[७४९] (२.१.६८) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से

प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (भोज्य उष्ण)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'भोज्य' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'भोज्य' शब्द का पूर्व प्रयोग (भोज्य उष्ण)। 'आद्गुणः'[६९] (६.१.८७) से गुण (भोज्योष्ण)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (भोज्योष्ण सु)। 'अतोऽम्'[३०९] (७.१.२४) से 'सु' को 'अम्' (भोज्योष्ण अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप (भोज्योष्णम्)।

तुल्यश्वेतः

लौ० वि०—तुल्यश्चासौ श्वेतश्च। अलौ० वि०—तुल्य सु श्वेत सु।

'कृत्यतुल्याख्या०'[७४९] (२.१.६८) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (तुल्य श्वेत)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'तुल्य' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'तुल्य' शब्द का पूर्व प्रयोग (तुल्य श्वेत)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (तुल्यश्वेत स्)। 'ससजुषो रुः'[१६३] (८.२.६६) से 'स्' को 'रु' (र्) (तुल्यश्वेत र्)। 'खरवसानयो०'[७६] (८.३.१५) से 'र्' को विसर्ग (तुल्यश्वेतः)।

सदृशश्वेतः

लौ० वि०—सदृशश्चासौ श्वेतश्च। अलौ० वि०—सदृश सु श्वेत सु।

'कृत्यतुल्याख्या०'[७४९] (२.१.६८) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (सदृश श्वेत)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'सदृश' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'सदृश' शब्द का पूर्व प्रयोग (सदृश श्वेत)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (सदृशश्वेत सु)। शेषं पूर्ववत्। सदृशश्वेतः।

७५०. वर्णो वर्णेन (२.१.६९)

समानाधिकरणेन सह प्राग्वत्। कृष्णसारङ्गः।

अनु०—वर्णवाची समानाधिकरण के साथ वर्णवाची का समास होता है। कृष्णसारङ्गः—काला चीतल मृग।

व्याख्या—'कृष्णसारङ्गः' शब्द में 'सारङ्ग' शब्द चित्र का पर्याय है। किन्तु यह चित्र गुण से युक्त द्रव्य को सूचित करता है। कृष्ण शब्द 'कृष्णावयववान्' के लिए प्रयुक्त हुआ है। सारङ्ग और कृष्ण—दोनों शब्द लाक्षणिक अर्थ को बोधित करते हैं। दोनों शब्दों का समानाधिकरण्य इनके उक्त लाक्षणिक अर्थ पर आधारित है। अतः

यहाँ सामानाधिकरण्य गौण है और जहाँ सामानाधिकरण्य गौण होता है वहाँ 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्'[७३६] (२.१.५७) इसकी प्रवृत्ति नहीं होती।

रूपसिद्धिः—कृष्णसारङ्गः

लौ० वि०—कृष्णश्चासौ सारङ्गश्च। अलौ० वि०—कृष्ण सु सारङ्ग सु।

'वर्णो वर्णेन'[७५०] (२.१.६९) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (कृष्ण सारङ्ग)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'कृष्ण' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'कृष्ण' शब्द का पूर्व प्रयोग (कृष्ण सारङ्ग)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (कृष्ण सारङ्ग सु)। शेषं पूर्ववत्। कृष्णसारङ्गः।

७५१. कडाराः कर्मधारये (२.२.३८)

कडारादयः शब्दाः कर्मधारये वा पूर्वं प्रयोज्याः। कडारजैमिनिः। जैमिनिकडारः।

अनु०—कर्मधारय समास में कडारादि शब्दों का विकल्प से पूर्व प्रयोग होता है। (जैसे–)कडारजैमिनिः—कठिन तप के कारण भूरे रंग के जैमिनि। जैमिनिकडारः—कठिन तप के कारण भूरे रंग के जैमिनि।

व्याख्या—कडारादि गण है जिसमें निम्न शब्द हैं—कडार, गडुल, खञ्ज, खोड, कण, कुण्ठ, खलति, गौर, वृद्ध, भिक्षुक, पिङ्ग, पिङ्गल (पिङ्गल), तड, तनु, बधिर, मठर, कञ्ज, बर्बर। कर्मधारय समास में इन शब्दों का विकल्प से पूर्व प्रयोग होता है।

७५२. कुमारः श्रमणादिभिः (२.१.७०)

कुमारी श्रमणा कुमारश्रमणा। इह गणे श्रमणा प्रव्रजिता गर्भिणीत्यादयः स्त्रीलिङ्गाः पठ्यन्ते। लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया एतदेव ज्ञापकं बोध्यम्।

अनु०—(श्रमण आदि समानाधिकरणों के साथ कुमार शब्द का तत्पुरुष समास होता है)। कुमारश्रमणा—कुमारी संन्यासिनी भिक्षुकी। इस गण में श्रमणा, प्रव्रजिता, गर्भिणी आदि स्त्रीलिङ्ग शब्द आते हैं। यह सूत्र ('कुमारः श्रमणादिभिः') भी लिङ्गविशिष्ट परिभाषा का ज्ञापक है।

व्याख्या—श्रमणादि गण है जिसमें श्रमणा, प्रव्रजिता, कुलटा, गर्भिणी, तापसी, दासी, बन्धकी, अध्यापक, अभिरूपक, पण्डित, पटु, मृदु, कुशल, चपल, निपुण शब्द हैं। लिङ्गेति। 'कुमारः श्रमणादिभिः'[७५२] (२.१.७०) सूत्र में 'कुमारः' पुंल्लिङ्ग है जिससे स्त्रीवाचक 'कुमारी' का भी ग्रहण हो जाता है।

जैसे 'युवा खलति०'[७४८] (२.१.६७) सूत्र, वैसे ही 'कुमारः०'[७५२] (२.१.७०) यह सूत्र भी 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इस लिङ्गविशिष्ट परिभाषा का ज्ञापक है। पुंवाची शब्द का प्रयोग अपने स्त्रीलिङ्ग का भी बोधक होता है।

अत एव 'युवा खलति०'[७४८] (२.१.६७) इस सूत्र में 'युवन्' शब्द न केवल पुंल्लिङ्ग को अपितु स्त्रीवाचक युवति को भी सूचित करता है। इसी प्रकार 'कुमारः श्रमणादिभिः'[७५२] (२.१.७०) इस सूत्र में पठित कुमार शब्द से कुमारी का भी ग्रहण होता है। यदि 'युवा खलति०'[७४८] (२.१.६७) इस सूत्र में पठित 'युवा' से युवति का ग्रहण न होता तब उसका इसी सूत्र में पठित स्त्रीवाचक जरती शब्द से कैसे सम्बन्ध होता? अतः सूत्र में जरती ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि 'युवा' से युवति का भी बोध होता है। 'कुमारः श्रमणादिभिः'[७५२] (२.१.७०) इस सूत्र में 'श्रमणा' स्त्रीवाचक शब्द है उसका पुंवाचक कुमार के साथ समानाधिकरण नहीं हो सकता। श्रमणा आदि स्त्रीवाचक शब्दों के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए सूत्रोक्त पुंवाचक कुमार शब्द से स्त्रीवाचक कुमारी शब्द का ग्रहण करना आवश्यक है।

'कुमारः श्रमणादिभिः'[७५२] (२.१.७०) सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि 'लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया एतदेव ज्ञापकम्'। किन्तु 'युवा खलति०'[७४८] (२.१.६७) सूत्र भी लिङ्गविशिष्टपरिभाषा का ज्ञापक है। तब समस्या के समाधान के लिए हमें 'एतदेव' का 'एतदपि' अर्थ करना चाहिए।

रूपसिद्धिः—कुमारश्रमणा

लौ० वि०—कुमारी श्रमणा। अलौ० वि०—कुमारी सु श्रमणा सु।

'कुमारः०'[७५२] (२.१.७०) से 'कुमारी' शब्द का 'श्रमणा' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (कुमारी श्रमणा)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'कुमारी' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'कुमारी' शब्द का पूर्व प्रयोग (कुमारी श्रमणा)। 'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) से 'कुमारी' शब्द का पुंवद्भाव (कुमार श्रमणा)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (कुमार श्रमणा सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप (कुमार श्रमणा)।

७५३. चतुष्पादो गर्भिण्या (२.१.७१)

चतुष्पाज्जातिवाचिनो गर्भिणीशब्देन सह प्राग्वत्। गोगर्भिणी। 'चतुष्पाज्जातिरिति वक्तव्यम्' (वा० १३११)। नेह स्वस्तिमती गर्भिणी।

अनु०—जातिवाचक गर्भिणी शब्द के साथ चतुष्पाद वाचक शब्द का समास होता है। गोगर्भिणी—गर्भिणी गाय। चतुष्पात् शब्द से चतुष्पात् जाति का ग्रहण करना चाहिए। यहाँ समास नहीं हुआ—स्वस्तिमती गर्भिणी।

व्याख्या—सूत्र में 'चतुष्पात्' शब्द से चतुष्पात् जाति का बोध होता है। यदि चतुष्पात् व्यक्ति है तब उसका 'गर्भिणी' के साथ समास नहीं होता। जैसे—

स्वस्तिमती गर्भिणी। यहाँ 'स्वस्तिमती' किसी गाय का नाम है। अतः उसका गर्भिणी के साथ समास नहीं हुआ।

रूपसिद्धिः—गोगर्भिणी

लौ० वि०—गर्भिणी चासौ गौश्च। अलौ० वि०—गर्भिणी सु गो सु।

'चतुष्पाज्जातिरिति वक्तव्यम्' (वा० १३११) के बल पर 'चतुष्पादो०'[७५३] (२.१.७१) से चतुष्पात् 'गो' शब्द का 'गर्भिणी' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (गर्भिणी गो)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'गो' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५८] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'गो' शब्द का पूर्व प्रयोग (गो गर्भिणी)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (गो गर्भिणी सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप (गोगर्भिणी)।

७५४. मयूरव्यंसकादयश्च (२.१.७२)

एते निपात्यन्ते। मयूरो व्यंसकः मयूरव्यंसकः। व्यंसको धूर्तः। उदक्चावाक्चोच्चावचम्। निश्चितं च प्रचितं च निश्चप्रचम्। नास्ति किञ्चन यस्य सोऽकिञ्चनः। नास्ति कुतो भयं यस्य सोऽकुतोभयः। अन्यो राजा राजान्तरम्। चिदेव चिन्मात्रम्। 'आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये' (ग २०)। अश्नीत पिबतेत्येवं सततं यत्राभिधीयते सा अश्नीतपिबता। पचतभृज्जता। खादतमोदता। 'एहीडादयोऽन्यपदार्थे' (ग० १८) एहीड इति यस्मिन्कर्मणि तदेहीइम्। एहियडम्। उद्धर कोष्ठादुत्सृज देहीति यस्यां क्रियायां सोद्धरोत्सृजा। उद्धमविधमा। असातत्यार्थमिह पाठः। 'जहि कर्मणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्तारं चाभिदधाति'। (ग० २९)। जहीत्येतत्कर्मणा बहुलं समस्यते आभीक्ष्ण्ये गम्ये समासेन चेत्कर्ताभिधीयत इत्यर्थः। जहिजोडः। जहिस्तम्बः।

अनु०—मयूर व्यंसकादि शब्दों में समास निपातन से होता है। मयूरव्यंसकः—चालाक मोर। व्यंसकः—धूर्त। उदक् च अवाक् च=उच्चावचम्—ऊँची नीची। निश्चितं च प्रचितं च=निश्चप्रचम्—निश्चित की हुई और बटोरी हुई। नास्ति किञ्चन यस्य सः=अकिञ्चनः—जिसके पास कुछ भी न हो, निर्धन। नास्ति कुतो भयं यस्य सः=अकुतोभयः—जिसको किसी का भय न हो, निर्भय। अन्यो राजा=राजान्तरम्—दूसरा राजा। चिद् एव=चिन्मात्रम्—केवल चैतन्यरूप, ब्रह्म।

जहाँ क्रिया का नैरन्तर्य द्योतित करना हो वहाँ आख्यात (क्रिया) का आख्यात (क्रिया) के साथ समास होता है। जैसे—जहाँ निरन्तर 'खाओ, पिओ' कहा जाय वहाँ अश्नीतपिबता; जहाँ निरन्तर 'पकाओ, भूनो, तलो,' कहा जाय वहां 'पचतभृज्जता' और जहाँ 'खाओ' और 'आनन्द मनाओ' कहा जाय वहाँ 'खादतमोदता' प्रयोग होते हैं।

अन्य पदार्थ में एहीड आदि क्रिया पदों का समास होता है। जैसे 'आओ और प्रशंसा के गीत गाओ' इस अर्थ में एहीडम्। 'आओ और पकाओ' इस अर्थ में एहिपचम्। 'कोठे से निकालो ओर दो' इस अर्थ में 'उद्धरोत्सृजा'। 'श्वास को बाहर निकालो और भीतर खींचो' इस अर्थ में 'उद्धमविधमा'। इस (एहीडादि) गण में नैरन्तर्य को नहीं लेना।

पौनःपुन्य गम्यमान रहते यदि समास से कर्ता का कथन होता हो तो कर्म के साथ 'जहि' का बहुल प्रकार से समास होता है। 'बन्धन को तोड़ो, बन्धन को तोड़ो,' इस प्रकार जो बार बार कहे वह 'जहिजोडः' है। 'वृक्ष-स्तम्ब को काटो, वृक्षस्तम्ब को काटो' जो बार बार कहे वह 'जहिस्तम्बः' है।

व्याख्या—मयूरव्यंसकादि गण है जिसमें निम्न शब्द हैं—मयूरव्यंसक, छात्रव्यंसक, कम्बोजमुण्ड, यवनमुण्ड, हस्तेगृह्य, पादेगृह्य, लाङ्गूलेगृह्य, पुनर्दाय, एहीडम्, एहियवम्, एहिवाणिजा (क्रिया), अपेहिवाणिजा, प्रेहिवाणिजा, एहिस्वागता, अपेहिस्वागता, एहिद्वितीया, अपेहिद्वितीया, प्रेहिद्वितीया, एहिकटा, अपेहिकटा, प्रेहिकटा, आहरकटा, प्रेहिकर्दमा, प्रोहकर्दमा, विधमचूडा, उद्धमचूडा, आहरचेला, आहरसेना, आहरवनिता, कृन्तविचक्षणा, उद्धरोत्सृजा, उद्धरावसृजा, उद्धमविधमा, उत्पचनिपचा, उत्पतनिपता, उच्चावचम्, उच्चनीचम्, आचोपचम्, आचपराचम् निश्चप्रचम्, अकिञ्चन, स्नात्वाकालक, पीत्वास्थिरक, भुक्त्वासुहित, प्रोष्यपापीयान्, उत्पत्यपाकल, निपत्यरोहिणी, निषण्णश्यामा, अपेहिप्रघसा, एहिविघस, इहपञ्चमी, इहद्वितीया, जहिजोडः, जहिस्तम्बम्, अश्नीतपिबता, पचतभृज्जता, खादतमोदता, खादतवमता, आहरनिवपा, आहरनिष्किरा, उत्पचविपचा, भिन्धिलवणा, कृन्धिविचक्षणा, पचलवणा, पचप्रकूटा।

मयूरव्यंसकादि आकृति गण है जिसमें ये शब्द भी पढ़े गये हैं—अकुतोभयः, कान्दिशीकः, आहोपुरुषिका, अहमहमिका, यदृच्छा, एहिरे, याहिरा, उन्मृजावमृजा, द्रव्यान्तरम्, अवश्यकार्यम्।

मयूरव्यंसक आदि शब्दों में समास निपातन से होता है। मयूरव्यसकः। व्यंसक का अर्थ धूर्त है। व्यंसकश्चासौ मयूरश्च लौकिक विग्रह है। उक्त सूत्र विशेषणसमास का बाधक है। विशेषण समास करने पर 'व्यंसकमयूर' प्रयोग बनता। उच्चावचम्—उदक् च अवाक् च। यहाँ उदक् को उच्च और अवाक् को अवच निपातन हुआ है।

निश्चप्रचम्—निश्चितं च प्रचितं च। यहाँ निश्चित को निश्च और प्रचित को प्रच आदेश हुआ है।

अकिञ्चनः—'नास्ति किञ्चन यस्य' इस अर्थ में बहुव्रीहि समास प्राप्त था उसे बाधित करके त्रिपद तत्पुरुष का निपातन हुआ है। यहाँ नञ् के 'न' का लोप भी निपातन से हुआ है।

अकुतोभयः। 'नास्ति कुतो भयं यस्य सः' इस अर्थ में बहुव्रीहि समास प्राप्त था उसे बाधित करके तत्पुरुष समास हुआ है।

राजान्तरम्—अन्यो राजा। विग्रह वाक्य में अन्य शब्द का प्रयोग हुआ है जो कि समास में 'अन्तर' शब्द में बदल गया है। यहाँ स्वपद से विग्रह नहीं हुआ, अतः यहाँ नित्य समास हुआ है। यह विशेषण समास का अपवाद है। विशेषण समास करने पर अन्यार्थवाची अन्तर का पूर्व प्रयोग हो जाता ।

चिन्मात्रम्—चिदेव। विग्रह वाक्य में 'एव' शब्द का प्रयोग हुआ है जो कि समास में 'मात्र' शब्द में बदल गया है। यहां स्वपद से विग्रह नहीं हुआ। अतः यहाँ नित्य समास हुआ है।

आख्यातमाख्यातेनेति। जब क्रिया से सतत और निरन्तर अर्थ का बोध होता है तब तिङन्त का तिङन्त के साथ समास होता है। जैसे–अश्नीतपिबता। यहाँ 'खाओ पीओ' इन क्रियाओं का सतत और निरन्तर अभिधान हो रहा है। इसी प्रकार पचतभृज्जता और खादतमोदता। इन प्रयोगों से क्रियाओं का सातत्य और नैरन्तर्य सूचित होता है। तीनों प्रयोग स्त्रीवाचक हैं। 'टाप्' प्रत्यय के लगाने से ये निष्पन्न हुए हैं।

एहीडादय इति। यह गणसूत्र है। अन्यपद के अर्थ में 'एहीड' आदि पदों का समास होता है।

एहीडम्। ईडे इति यस्मिन् कर्मणि तत्। यहाँ 'ईडे' वर्तमान काल के उत्तम-पुरुष एकवचन में प्रयोग है।

'एहीडादयो०' (ग०सू०१८) से 'ईडे' का 'ईड' में निपातन हुआ है।

एहियवम्। एहि यौमि। यहाँ 'यौमि' को 'यव' आदेश हुआ है।

उद्धरोत्सृजा। 'उद्धर कोष्ठादुत्सृज देहि' इति यस्यां क्रियायां सा। यहाँ 'एहीडा-दयोऽन्यपदार्थे' (ग० सू० १८) से 'उद्धर' और 'उत्सृज' लोट् लकार मध्यमपुरुष एकवचन में इन तिङन्त रूपों का निपातन से समास हुआ है।

उद्धमविधमा। 'उद्धम विधम' इति यस्यां क्रियायां सा। यहाँ 'एहीडादयो०' (ग० सू० १८) से लोट् लकार मध्यमपुरुष एकवचन में इन तिङन्त रूपों का निपातन से समास हुआ है।

असातत्यार्थमिति। ऊपर कहा गया है कि सतत और निरन्तर अर्थों का बोध कराने के लिए तिङन्त का तिङन्त के साथ समास होता है। प्रस्तुत गण सूत्र 'एहीडादयो०' (ग० सू० १८) से भी तिङन्त का तिङन्त से समास होता है किन्तु इसमें विशेषता यह है कि इस गणसूत्र से विहित समास सतत अर्थ का बोध नहीं कराता।

जहिकर्मणेति। 'जहि' लोट् लकार मध्यम पुरुष एकवचन में इस तिङन्त रूप का अपने कर्म के साथ बहुलतया समास होता है यदि उससे पौनःपुन्य बोधित हो और समस्त पद यदि कर्ता को बोधित करे। जैसे—जहिजोडः–'जहि जोडम्' 'जहि जोडम्' यः पुनः पुनः आह सः। मुझे स्वतन्त्र करो, स्वतन्त्र करो, जो ऐसा

बार-बार कहे। ऐसे ही जहिस्तम्बः—'जहि स्तम्बम्' 'जहि स्तम्बम्' यः पुनः पुनः आह सः।

७५५. ईषदकृता (२.२.७)

ईषत्पिङ्गलः। 'ईषद् गुणवचनेनेति वाच्यम्' (वा० १३१६)। ईषद्रक्तम्।

अनु०—(अकृदन्त प्रकृतिक सुबन्त के साथ ईषत् शब्द का तत्पुरुष समास होता है।) ईषत्पिङ्गलः—कुछ भूरा। ईषत् शब्द का गुणवाची शब्द के साथ समास हो ऐसा कहना चाहिए। ईषद्रक्तम् —कुछ लाल।

व्याख्या—ईषद्गुणवचनेनेति। 'ईषदकृता'[७५५] (२.२.७) सूत्र के अनुसार कृदन्त शब्दों के साथ ईषत् शब्द का समास नहीं होता किन्तु लोक में कृदन्त शब्दों के साथ भी ईषत् का समास मिलता है। जैसे—ईषद्रक्तम्। अतः वार्त्तिककार ने 'गुणवचनेन' इस पाठ का समावेश करके उक्त समस्या का समाधान किया है। 'रक्त' गुणवाचक शब्द है उसके साथ 'ईषत्' का समास हो सकता है।

रूपसिद्धिः—ईषत्पिङ्गलः

लौ० वि०—ईषत् पिङ्गलः। अलौ० वि०—ईषत् सु पिङ्गल सु।

'ईषदकृता'[७५५] (२.२.७) से 'ईषत्' शब्द का अकृदन्त 'पिङ्गल' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (ईषत् पिङ्गल)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'ईषत्' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन-संज्ञक 'ईषत्' शब्द का पूर्व प्रयोग (ईषत् पिङ्गल)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (ईषत्पिङ्गल स्)। 'ससजुषो रुः'[११२] (८.२.६६) से 'स्' को रु (र्) (ईषत्पिङ्गल र्)। 'खरवसानयो०'[७९] (८.३.१५) से 'र्' को विसर्ग (ईषत्पिङ्गलः)।

ईषद्रक्तम्

लौ० वि०—ईषत् रक्तम्। अलौ० वि०—ईषत् सु रक्त सु।

'ईषद् गुणवचनेनेति वाच्यम्' (वा० १३१६) से 'ईषत्' शब्द का गुणवाचक 'रक्त' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (ईषत् रक्त)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'ईषत्' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'ईषत्' शब्द का पूर्व प्रयोग (ईषत् रक्त)। 'झलां जशोऽन्ते'[८४] (८.२.३९) से 'त्' को 'द्' (ईषद्रक्त)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (ईषद्रक्त सु)। 'अतोऽम्'[२०९] (७.१.२४) से सु को अम् (ईषद्रक्त अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' को पूर्वरूप (ईषद्रक्तम्)।

७५६. नञ् (२.२.६)

नञ्सुपा सह समस्यते ।

अनु०—नञ् का सुबन्त के साथ समास होता है ।

७५७. नलोपो नञः (६.३.७३)

नञो नस्य लोपः स्यादुत्तरपदे । न ब्राह्मणोऽब्राह्मणः ।

अनु०—उत्तरपद परे रहते नञ् के नकार का लोप हो । अब्राह्मणः —ब्राह्मणेतर ।

रूपसिद्धिः—अब्राह्मणः

लौ० वि०—न ब्राह्मणः । अलौ० वि०— न ब्राह्मण सु ।

'नञ्' [७५६] (२.२.६) से समास । 'कृत्तद्धित०' [१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०' [६५०] (२.४.७१) से सुप् (सु प्रत्यय) का लोप (न ब्राह्मण) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०' [६५३] (१.२.४३) से 'न' की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्' [६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'न' का पूर्व प्रयोग (न ब्राह्मण) । 'नलोपो०' [७५७] (६.३.७३) से 'न' के 'न्' का लोप (अ ब्राह्मण) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०' [१८३] (४.१.२) से सु (स्) (अब्राह्मण स्) । 'ससजुषो रुः' [१६२] (८.२.६६) से स् को रु (र्) (अब्राह्मण र्) । 'खरवसानयो०' [७६] (८.३.१५) से र् को विसर्ग (अब्राह्मणः) ।

७५८. तस्मान्नुडचि (६.३.७४)

लुप्तनकारान्नञ उत्तरपदस्याजादेर्नुडागमः स्यात् । अनश्वः । अर्थाभावेऽव्ययीभावेन सहायं विकल्प्यते । 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' इति 'अद्रुतायामसंहितम्' (वा० ११६७) इति च भाष्यवार्त्तिकप्रयोगात् । तेन अनुपलब्धिः, अविवादः, अविघ्नम् इत्यादि सिद्धम् । 'नञो नलोपस्तिङि क्षेपे' (वा० ३९८४) । अपचसि त्वं जाल्म । नैकधा इत्यादौ तु नशब्देन 'सह सुपा' (सू० ६४९) इति समासः ।

अनु०—जिस नञ् के नकार का लोप हो गया हो उससे परे अजादि उत्तरपद को नुट् आगम हो । अनश्वः—घोड़े से भिन्न किन्तु घोड़े के समान, गधा आदि ।

अर्थाभाव अर्थ में नञ् के साथ सुबन्त का अव्ययीभाव समास विकल्प से होता है । क्योंकि 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' भाष्यकार के इस वचन में 'असन्देहाः' इस पद में नञ् तत्पुरुष समास हुआ है और 'अद्रुतायामसंहितम्' इस वार्त्तिक में 'अद्रुतायाम्' इस पद में नञ् तत्पुरुष,'असंहितम्' इस पद में अव्ययीभाव समास हुआ है । इस प्रकार अनुपलब्धिः (अप्राप्ति), अविवादः (विवाद का अभाव), अविघ्नम् (विघ्न का अभाव) आदि पदों की सिद्धि समझें ।

तिङ परे रहते निन्दा के अर्थ में नञ् के 'न्' का लोप होता है । जैसे—अपचसि

त्वं जाल्म–नीच, तू बुरी तरह पकाता है। नैकधा = एक बार नहीं, इत्यादि प्रयोगों में 'न' के साथ 'सह सुपा' से समास हुआ है।

व्याख्या—अर्थाभावे इति। नञ् के साथ सुबन्त पद का अव्ययीभाव और तत्पुरुष समास होता है। जैसे—न सन्देहः असन्देहः। यह नञ् तत्पुरुष का उदाहरण है। अव्ययीभाव में 'सन्देहस्य अभावः' इस विग्रह में अर्थाभाव में 'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) इस सूत्र से समास होकर 'असन्देहम्' रूप बनता है। पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रथम आह्निक में 'असन्देहाः' यह प्रयोग किया है–'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्।' यहाँ 'असन्देहाः' नञ् तत्पुरुष का उदाहरण है। नञ् अव्ययीभाव के भी महाभाष्य में उदाहरण मिलते हैं। जैसे असंहितम्। संहिताया अभावः। 'परः सन्निकर्षः संहिता' इस सूत्र के 'अद्रुतायामसंहितम्' (वा० ११६७) इस वार्त्तिक में 'असंहितम्' नञ् अव्ययीभाव का प्रयोग है। नञ् तत्पुरुष में 'असंहिता' प्रयोग होता।

पतञ्जलि के असन्देहाः (नञ् तत्पुरुष) और वार्त्तिककार के असंहितम् (नञ् अव्ययीभाव) प्रयोगों से ज्ञात होता है कि उन्हें नञ् के साथ अव्ययीभाव और तत्पुरुष दोनों समास इष्ट थे। उक्त प्रमाणों के आधार पर अनुपलब्धिः (नञ् तत्पुरुष), अविवादः (नञ् तत्पुरुष) और अविघ्नम् (नञ् अव्ययीभाव) आदि प्रयोगों की सिद्धि होती है।

नञो नलोपस्तिङि इति। निन्दा के अर्थ में, तिङ् परे रहते नञ् के 'न्' का लोप होता है। जैसे 'अपचसि त्वं जाल्म' इस निन्दार्थक वाक्य में तिङ् परे रहते नञ् के 'न्' का लोप हुआ है।

यहाँ 'अपचसि' दो भिन्न पद हैं क्योंकि तिङन्त के साथ नञ् का समास नहीं होता। यहाँ नलोप के प्रसङ्ग में इस वार्त्तिक को उद्धृत किया गया है। कुछ वैयाकरणों के अनुसार 'अपचसि' में 'अ' पद नञ् समानार्थक किन्तु नञ् से भिन्न अव्यय है। इस मत में 'न्' को 'अ' करने का प्रश्न ही नहीं होता और प्रस्तुत वार्त्तिक व्यर्थ हो जाता है।

नैकधा इत्यादौ इति। न एकधा—यहाँ नञ् समास में 'नलोपो नञः'[७५७] (६.३.७३) से न् का लोप करने पर—अ एकधा। तब 'तस्मान्नुडचि'[७५८] (६.३.७४) से नुट् (न्) करने पर अनेकधा।

'नैकधा' एवं इस प्रकार के अन्य प्रयोगों में 'न' शब्द के साथ सुबन्त 'एकधा' का समास होता है।

रूपसिद्धिः—अनश्वः

लौ० वि०—न अश्वः। अलौ० वि०—नञ् अश्व सु।

'नञ्'[७५६] (२.२.६) से नञ् का सुबन्त 'अश्व' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (सु प्रत्यय)

का लोप (नञ् अश्व)। 'नलोपो नञः'[७५७] (६.३.७३) से नञ् के न् का लोप (अ अश्व)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (स्) (अ अश्व स्)। 'तस्मान्नुडचि'[७५८] (६.३.७४) से नुट् (न्) का आगम (अन् अश्व स्)। 'ससजुषो रुः'[१६२] (८.२.६६) से स् को रु (र्) (अन् अश्व र्)। 'खरवसानयो०'[७६] (८.३.१५) से र् को विसर्ग (अनश्वः)।

७५९. नभ्राण्नपान्नवेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्रनक्रनाकेषु प्रकृत्या (६.३.७५)

पाद् इति शत्रन्तः। वेदा इत्यसुन्नन्तः। न सत्या असत्याः। न असत्या नासत्याः। न मुञ्चतीति नमुचिः। न कुलमस्य नकुलम्। न खमस्य नखम्। न स्त्री पुमान् नपुंसकम्। स्त्रीपुंसयोः पुंसकभावो निपातनात्। न क्षरतीति नक्षत्रम्। क्षीयतेः क्षरतेर्वा क्षत्रमिति निपात्यते। न क्रामतीति नक्रः। 'क्रमेर्डः'। न अकमस्मिन्निति नाकः।

अनु०—(नभ्राज्, नपात्, नवेदस्, नासत्या, नमुचि, नकुल, नख, नपुंसक, नक्षत्र, नक्र और नाक इन शब्दों में न का लोप नहीं होता।)

नभ्राट् (काला बादल)। नपात् (अरक्षक) में पात् शत्रन्त प्रयोग है। नवेदस् (जो जानता न हो) में 'वेदस्' असुन्नन्त प्रयोग है। न सत्याः = असत्याः = नासत्याः (=अश्विनिकुमार)। न मुञ्चतीति = नमुचिः (=राक्षस)। न कुलमस्य नकुलः (नेवला)। न खमस्य = नखः (=नाखून)। न स्त्री न पुमान् = नपुंसकम् (नपुंसक)। यहाँ 'स्त्रीपुंस' को इस सूत्र से निपातन से 'पुंसक' आदेश हुआ है। न क्षरतीति = नक्षत्रम् (=नक्षत्र)। क्षीयते क्षरते वा क्षत्रम्, यह निपातन से सिद्ध हुआ है। न क्रामतीति = नक्रः (=मगर)। यहाँ निपातन से क्रम् धातु से 'ड' प्रत्यय हुआ है। न अकमस्मिन्निति = नाकः (स्वर्ग)।

७६०. नगोऽप्राणिष्वन्यतरस्याम् (६.३.७७)

नग इत्यत्र नञ्प्रकृत्या वा। नगः—अगः पर्वतः। अप्राणिषु इति किम्—अगो वृषलः शीतेन।

अनु०—(जब 'नग' शब्द प्राणिभिन्न वस्तु व पदार्थ का बोध करता है तब उसके नञ् का लोप नहीं होता, विकल्प से।)

'नगः' यहाँ नञ् का लोप नहीं हुआ। अगः (=पर्वत, वृक्ष), नगः (=पर्वत, वृक्ष) जो न चलते हों, दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। (सूत्र में) अप्राणिषु ऐसा क्यों कहा? अगो वृषलः शीतेन (=वह शूद्र जो शीत के कारण न चलता हो)—यहाँ 'अगः' का प्राणिवाचक वृषल के साथ प्रयोग किया गया है। (अतः यहाँ 'नलोपो नञः'[७५७] (६.३.७३) से नलोप नित्य हुआ है।)

व्याख्या—'नग' एक प्राणिभिन्न पर्वत पर्यायवाची शब्द है। अतः इसके दो रूप बनते हैं—नलोप के न होने पर नगः, नलोप होने पर अगः।

अप्राणिष्विति किमिति । 'नगोऽप्राणिष्वन्यतरस्याम्'[७६०] (६.३.७७) सूत्र में अप्राणिषु का समावेश प्राणिवाचक शब्दों में इस सूत्र की प्रवृत्ति को रोकता है। जैसे—'अगो वृषलः शीतेन' में 'अगः' इस वाक्य का प्राणिवाचक वृषल के साथ प्रयोग किया गया है। इस वाक्य का अर्थ है—'दास शीत से स्तब्ध हो गया है।' यहाँ 'नगो वृषलः शीतेन' ऐसा वाक्य अशुद्ध होगा। क्योंकि दास प्राणी है अतः उक्त वाक्य में 'नगोऽप्राणिष्व०'[७६०] (६.३.७७) इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती अर्थात् 'नलोपो नञ्:'[७५७] (६.३.७३) इस सूत्र से नलोप नित्य होता है।

'नित्यं क्रीडा—'(सू० ७११) इत्यतो नित्यम् इत्यनुवर्तमाने—

अनु०—'नित्यं क्रीडा०' (२.२.५७) सूत्र से 'नित्यम्' पद की अनुवृत्ति होने पर—

७६१. कुगतिप्रादयः (२.२.१८)

एते समर्थेन नित्यं समस्यन्ते। कुत्सितः पुरुषः कुपुरुषः।

अनु०—कु शब्द, गतिसंज्ञक और प्र आदि का समर्थ सुबन्त पद के साथ नित्य समास होता है। (जैसे)—कुपुरुषः—निन्दनीय, दुष्ट मनुष्य।

रूपसिद्धिः—कुपुरुषः

लौ० वि०—कुत्सितः पुरुषः। अलौ० वि०—कु पुरुष सु।

'कुगति०'[७६१] (२.२.१८) से 'कु' शब्द का सुबन्त 'पुरुष' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (सु प्रत्यय) का लोप (कु पुरुष)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'कु' शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'कु' शब्द का पूर्व प्रयोग (कु पुरुष)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (कुपुरुष सु)। शेषं पूर्ववत्। कुपुरुषः।

'गतिश्च' (सू० २३) इत्यनुवर्तमाने—

७६२. ऊर्यादिच्विडाचश्च (१.४.६१)

एते क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः। ऊरीकृत्य। शुक्लीकृत्य। पटपटाकृत्य। 'कारिकाशब्दस्योपसंख्यानम्' (वा० ११३२) कारिका क्रिया। कारिकाकृत्य।

अनु०—'गतिश्च'[२३] (१.४.६०) सूत्र से 'गति' की अनुवृत्ति करने पर ऊरी आदि, च्वि प्रत्ययान्त और डाच् प्रत्ययान्त शब्द क्रिया के योग में गतिसंज्ञक होते हैं। जैसे—ऊरीकृत्य—स्वीकार करके। शुक्लीकृत्य—सफेद करके। पटपटाकृत्य—पटपट शब्द करके। 'कारिका' शब्द की भी गणना करनी चाहिए। 'कारिका' का अर्थ है 'क्रिया'। कारिकाकृत्य = कार्य करके।

रूपसिद्धिः—ऊरीकृत्य

लौ० वि०—ऊरी कृत्वा। अलौ० वि०—ऊरी कृ क्त्वा (=ल्यप्)।

कृ धातु के योग में प्र आदि से भिन्न स्वीकारार्थक ऊरी शब्द की 'ऊर्यादि०'[७६२] (१.४.६१) से गति संज्ञा। 'कुगतिप्रादयः'[७६१] (२.२.१८) से ऊरी शब्द का कृ धातु के साथ समास। 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (ऊरी कृत्य)। 'ह्रस्वस्य पिति०'[२८५८] (६.१.७१) से तुक् (त्) का आगम (ऊरीकृत्य)।

शुक्लीकृत्य

लौ० वि०—अशुक्लं शुक्लं कृत्वा। अलौ० वि०—शुक्ल कृ क्त्वा।

अभूततद्भाव अर्थ में 'अभूततद्भावे इति वक्तव्यम्' (वा० ३३४०) इस वार्तिक के सहयोग से 'कृभ्वस्तियोगे०'[३११७] (५.४.५०) सूत्र से च्वि (इ) प्रत्यय (शुक्ल इ कृ क्त्वा)। 'अस्य च्वौ'[३११८] (७.४.३२) से शुक्ल के अकार को ईकार (शुक्ल् ई इ कृ क्त्वा)। 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (शुक्ली कृ क्त्वा)। 'ऊर्यादि०'[७६२] (१.४.६१) से च्वि प्रत्ययान्त शुक्ली की गति संज्ञा। 'कुगतिप्रादयः'[७६१] (२.२.१८) से शुक्ली का कृ धातु के साथ समास। 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा प्रत्यय को ल्यप् (य) आदेश (शुक्ली कृ य)। 'ह्रस्वस्य पिति०'[२८५८] (६.१.७१) से तुक् (त्) का आगम (शुक्लीकृत्य)।

पटपटाकृत्य

लौ० वि०—पटत् पटत् इति कृत्वा। अलौ० वि०—पटत् कृ क्त्वा।

'अव्यक्तानुकरणाद्०'[२१२८] (५.४.५७) सूत्र से कृ धातु के योग में 'पटत्' (अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण शब्द) से डाच् (आ) प्रत्यय (पटत् आ कृ क्त्वा)। 'डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम्' (वा०४६९७) से पटत् को द्वित्व (पटत् पटत् आ कृ क्त्वा)। 'अव्यक्तानुकरणाद्०'[२१२८] (५.४.५७) से द्वितीय पटत् की टि (अत्) का लोप (पटत् पटा कृ क्त्वा)। 'नित्यमाम्रेडिते डाचिति वक्तव्यम्' (वा० ३६३८) से पूर्व पटत् के तकार और उत्तर पटा डाजन्त के पूर्व पकार—दोनों के स्थान में पररूप पकार (पटपटा कृ क्त्वा)। 'ऊर्यादि०'[७६२] (१.४.६१) से डाजन्त पटपटा की गति संज्ञा। 'कुगतिप्रादयः'[७६१] (२.२.१८) से पटपटा का कृ के साथ समास। 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (पटपटा कृ य)। 'ह्रस्वस्य पिति०'[२८५८] (६ १.७१) से तुक् (त्) का आगम (पटपटाकृत्य)।

कारिकाकृत्य

लौ० वि०— कारिका कृत्वा। अलौ० वि०—कारिका कृ क्त्वा।

'ऊर्यादि०'[७६२] (१.४.६१) सूत्र पर पठित 'कारिकाशब्दस्योपसंख्यानम्' (वा० ११३२) से कारिका शब्द की गति संज्ञा। 'कुगतिप्रादयः'[७६१] (२.२.१८) से गतिसंज्ञक कारिका शब्द का कृ धातु के साथ समास। 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७)

से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (कारिका कृ य)। 'ह्रस्वस्य पिति०'[१२८५८] (६.१.७१) से तुक् (त्) का आगम (कारिकाकृत्य)।

७६३. अनुकरणं चानितिपरम् (१.४.६२)

खाट्कृत्य। अनितिपरं किम्—खाडिति कृत्वा निरष्ठीवत्।

अनु०—(अव्यक्त ध्वनि का अनुकरणवाची शब्द गतिसंज्ञक होता है। किन्तु उस शब्द के परे 'इति' शब्द नहीं होना चाहिए।) खाट्कृत्य—खाट् (थूकने की ध्वनि का अनुकरणवाची) शब्द करके। (सूत्र में) 'अनितिपरम्' ऐसा क्यों कहा? खाडिति कृत्वा निरष्ठीवत्—उसने खट् शब्द करके थूक दिया। (यहाँ खाट् के पश्चात् इति शब्द है अतः यहाँ समास न हो इस लिए सूत्र में 'अनितिपरम्' कहा है।)

रूपसिद्धिः—खाट्कृत्य

लौ० वि०—खाट् कृत्वा। अलौ० वि०—खाट् कृ क्त्वा।

'अनुकरणं०'[७६३] (१.४.६२) से 'खाट्' शब्द की गति संज्ञा। 'कुगतिप्रादयः'[७६१] (२.२.१८) से खाट् शब्द का कृ धातु के साथ समास। 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[१३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (खाट् कृ य)। 'ह्रस्वस्य पिति०'[१२८५८] (६.१.७१) से तुक् (त्) का आगम (खाट्कृत्य)।

७६४. आदरानादरयोः सदसती (१.४.६३)

सत्कृत्य। असत्कृत्य।

अनु०—(क्रमशः) आदर और अनादर के सूचक अव्यय सत् और असत् की क्रिया के योग में गति संज्ञा होती है।) जैसे—सत्कृत्य—आदर करके। असत्कृत्य—अनादर करके।

रूपसिद्धिः—सत्कृत्य

लौ० वि०—सत् कृत्वा। अलौ० वि०—सत् कृ क्त्वा।

'आदरानादरयोः०'[७६४] (१.४.६३) से आदर सूचक 'सत्' शब्द की कृ धातु के योग में गति संज्ञा। 'कुगतिप्रादयः'[७६१] (२.२.१८) से 'सत्' का 'कृ' धातु के साथ समास। 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[१३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (सत् कृ य)। 'ह्रस्वस्य पिति०'[१२८५८] (६.१.७१) से तुक् (त्) का आगम (सत्कृत्य)।

असत्कृत्य

लौ० वि०—असत् कृत्वा। अलौ० वि०—असत् कृ क्त्वा।

'आदरानादरयोः०'[७६४] (१.४.६३) से अनादर सूचक 'असत्' शब्द की कृ धातु के योग में गति संज्ञा। 'कुगतिप्रादयः'[७६१] (२.२.१८) से 'असत्' का 'कृ' धातु के साथ

समास। समासेऽनञ्पूर्वे०'७३३७ (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (असत् कृ य)। 'ह्रस्वस्य पिति०'२८५८ (६.१.७१) से तुक् (त्) का आगम (असत्कृत्य)।

७६५. भूषणेऽलम् (१.४.६४)

अलंकृत्य। भूषणे किम्--अलं कृत्वौदनं गतः। पर्याप्तमित्यर्थः। 'अनुकरणम्-' (सू० ७६३) इत्यादित्रिसूत्री स्वभावात्कृञ्विषया।

अनु०—(भूषण अर्थ में विद्यमान 'अलम्' अव्यय गति संज्ञक होता है।) अलङ्कृत्य—अलङ्कारादि से सजा करके। (सूत्र में) 'भूषणे' ऐसा क्यों कहा? अलं कृत्वौदनं गतः (वह पर्याप्त भात खाकर चला गया)। (यहाँ भूषण अर्थ में 'अलम्' का प्रयोग न होकर 'पर्याप्त' अर्थ में हुआ है। अतः यहाँ समास नहीं हुआ।) 'अनुकरणं०' (सू० ७६३) इत्यादि तीन सूत्र स्वाभाविक रूप से कृञ् विषयक हैं।

व्याख्या—भूषणे किमिति। पर्याप्त अर्थ में भी 'अलम्' का प्रयोग होता है। जहाँ पर्याप्त अर्थ में 'अलम्' का प्रयोग हुआ है वहाँ गति समास नहीं होता। ऐसे स्थलों में क्त्वा को ल्यप् आदेश नहीं होता। जैसे—अलं कृत्वौदनं गतः। इस वाक्य में 'अलं' पर्याप्त अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'अलं कृत्वा' असमस्त पद है। अत एव क्त्वा को ल्यप् नहीं हुआ।

'अनुकरणम्०' इत्यादित्रिसूत्रीति।

(१) 'अनुकरणम्०'७६३ (१.४.६२) (२) 'आदरानादरयोः०'७६४ (१.४.६३) और (३) 'भूषणे०'७६५ (१.४.६४)—इन तीनों सूत्रों से विधीयमान समास कृञ् के योग में ही होता है।

रूपसिद्धिः—अलङ्कृत्य

लौ० वि०—अलम् कृत्वा। अलौ० वि०—अलम् कृ क्त्वा।

'भूषणे०'७६५ (१.४.६४) से भूषण अर्थ में विद्यमान 'अलम्' अव्यय की गति संज्ञा। 'कुगतिप्रादयः'७६१ (२.२.१८) से 'अलम्' का कृ के साथ समास। 'समासेऽनञ्पूर्वे०'७३३७ (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (अलम् कृ य)। 'ह्रस्वस्य पिति०'२८५८ (६.१.७१) से तुक् (त्) का आगम (अलङ्कृत्य)।

७६६. अन्तरपरिग्रहे (१.४.६५)

अन्तर्हत्य। मध्ये हत्वेत्यर्थः। अपरिग्रहे किम्—अन्तर्हत्वा गतः। हतं परिगृह्य गत इत्यर्थः।

अनु०—(जब कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति को मारकर उसे अपने साथ नहीं उठा ले जाता तब 'अन्तर्' अव्यय की गति संज्ञा होती है।) अन्तर्हत्य--युद्ध करते करते शत्रु को मारकर (और उसके शव को वहीं छोड़कर) चला गया। (सूत्र में) 'अपरिग्रहे' ऐसा क्यों कहा? अन्तर्हत्वा गतः—हत व्यक्ति को उठाकर ले गया।

व्याख्या—अपरिग्रहे किमिति । सूत्र में 'अपरिग्रहे' शब्द का प्रयोग किया गया है। किन्तु जहां परिग्रह है—व्यक्ति को मारकर उसके शव को उठाकर ले जाता है वहाँ 'अन्तर्' शब्द का हनन क्रिया के साथ समास नहीं होता। जैसे—'अन्तर्हत्वा गतः।' इसका अर्थ है—हत व्यक्ति को उठाकर ले गया।

रूपसिद्धिः—अन्तर्हत्य

लौ० वि०—अन्तर्हत्वा। अलौ० वि०—अन्तर् हन् क्त्वा।

'अन्तरपरिग्रहे'[७६६] (१.४.६५) से अपरिग्रह अर्थ में वर्तमान 'अन्तर्' अव्यय की गति संज्ञा। 'कुगतिप्रादयः'[७६१] (२.२.१८) से समास। 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (अन्तर हन् य)। 'ह्रस्वस्य पिति०'[१२५८] (६.१.७१) से तुक् (त्) का आगम (अन्तर् हन् त् य)। 'अनुदात्तोपदेश०'[२४२८] (६.४.३७) से अनुनासिक (न्) का लोप (अन्तर्हत्य)।

७६७. कणेमनसी श्रद्धाप्रतीघाते (१.४.६६)

कणेहत्य पयः पिबति। मनोहत्य। कणेशब्दः सप्तमीप्रतिरूपको निपातः अभिलाषातिशये वर्तते। मनशशब्दोऽप्यत्रैव।

अनु०—(श्रद्धाप्रतीघात अर्थ में कणे और मनस् शब्द गतिसंज्ञक होते हैं।) कणेहत्य पयः पिबति—तृप्तिपर्यन्त दूध व जल को पीता है। मनोहत्य (पयः पिबति)—अभिलाषा निवृत्ति पर्यन्त दूध व जल को पीता है। कणे शब्द सप्तम्यन्त प्रतीत होता है और अभिलाषातिशय का बोधक निपात है। इसी प्रकार मन शब्द भी अभिलाषातिशय का बोधक निपात है।

व्याख्या—जब तीव्र अभिलाषा की पूर्ति गम्य हो तब 'कणे' और 'मनस्' शब्द गतिसंज्ञक होते हैं।

सूत्र में 'श्रद्धाप्रतीघाते' पद का प्रयोग हुआ है। यहाँ श्रद्धा का 'अत्यन्त अभिलाषा' और प्रतिघात का 'निवृत्ति' व 'पूर्ति' अर्थ है। जहां 'कणे' सप्तम्यन्त पद है जिसका अर्थ सूक्ष्म तण्डुलावयव है, वहाँ समास नहीं होता जैसे कणे हत्वा गतः। इसी प्रकार मनो हत्वा गतः—विष पान आदि में मन की प्रवृत्ति को रोककर चला गया। इस वाक्य में 'मनस्' का हनन क्रिया के साथ समास नहीं हुआ है। क्योंकि यहाँ भी अत्यन्त अभिलाषा की पूर्ति नहीं हुई है।

रूपसिद्धिः—कणेहत्य

लौ० वि०—कणे हत्वा। अलौ० वि०—कणे हन् क्त्वा।

'कणेमनसी०'[७६७] (१.४.६६) से श्रद्धाप्रतीघात अर्थ में कणे शब्द की गति संज्ञा। 'कुगतिप्रादयः'[७६१] (२.२.१८) से गतिसंज्ञक 'कणे' शब्द का 'हन्' धातु के साथ समास।

'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (कर्णे हन् य)। 'ह्रस्वस्य पिति०'[२८५८] (६.१.७१) से तुक् (त्) का आगम (कर्ण हन् त् य)। 'अनुदात्तोपदेश०'[२४२८] (६.४.३७) से अनुनासिक (न्) का लोप (कर्णेहत्य)।

मनोहत्य

लौ० वि०—मनो हत्वा। अलौ० वि०—मनो हन् क्त्वा।

'कर्णेमनसी०'[७६७] (१.४.६६) से श्रद्धाप्रतिघात अर्थ में 'मनस्' शब्द की गति संज्ञा। 'कुगतिप्रादयः'[७६१] (२.२.१८) से गतिसंज्ञक 'मनस्' शब्द का 'हन्' धातु के साथ समास। 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (मनो हन् य)। 'ह्रस्वस्य पिति०'[२८५८] (६.१.७१) से तुक् (त्) का आगम (मनो हन् त् य)। 'अनुदात्तोपदेश०'[२४२८] (६.४.३७) से अनुनासिक (न्) का लोप (मनोहत्य)।

७६८. पुरोऽव्ययम् (१.४.६७)

पुरस्कृत्य।

अनु०—('पुरस्' अव्यय की गति संज्ञा होती है।) (जैसे)—पुरस्कृत्य—आगे करके।

व्याख्या—जब 'पुरस्' शब्द अव्यय होता है तब उसकी गति संज्ञा होती है। किन्तु जहाँ 'पुरस्' अव्यय नहीं है वहाँ उसकी गति संज्ञा न होकर समास नहीं होता और समास न होने पर क्त्वा को ल्यप् नहीं होता। जैसे पुरः (नगराणि) कृत्वा गतः। यहाँ 'पुरः' अव्यय नहीं है किन्तु द्वितीया बहुवचन में रूप है।

रूपसिद्धिः—पुरस्कृत्य

लौ० वि०—पुरस् कृत्वा। अलौ० वि०—पुरस् कृ क्त्वा।

'पुरोऽव्ययम्'[७६८] (१.४.६७) से 'पुरस्' की गति संज्ञा। 'कुगतिप्रादयः'[७६१] (२.२.१८) से 'पुरस्' का 'कृ' धातु के साथ समास। 'समासेऽनञ्पूर्वे'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (पुरस् कृ य)। 'ह्रस्वस्य पिति०'[२८५८] (६.१.७१) से तुक् (त्) का आगम (पुरस्कृत्य)।

७६९. अस्तं च (१.४.६८)

अस्तमिति मान्तमव्ययं गतिसंज्ञं स्यात्। अस्तंगत्य।

अनु०—'अस्तम्' इस मान्त अव्यय की गति संज्ञा होती है। जैसे—अस्तंगत्य—उस ओर जाकर।

व्याख्या—'अस्तम्' अव्यय होने पर ही गति संज्ञक होता है और गति संज्ञक होने पर इसका समास होता है। किन्तु जहाँ 'अस्तम्' अव्यय नहीं है वहाँ इसकी गति

संज्ञा नहीं होती। गति संज्ञा न होने पर समास भी नहीं होता। जैसे—अस्तं कृत्वा काण्डं गतः। यहाँ 'अस्तम्' एकवचनान्त द्वितीया का रूप है, अव्यय नहीं, अतः समास नहीं हुआ।

रूपसिद्धिः—अस्तंगत्य

लौ० वि०—अस्तम् गत्वा। अलौ० वि०—अस्तम् गम् क्त्वा।

'अस्तं च'[७६९] (१.४.६८) से 'अस्तम्' अव्यय की गति संज्ञा। 'कुगतिप्रादयः'[७६१] (२.२.१८) से 'अस्तम्' का 'गम्' धातु के साथ समास। 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से 'क्त्वा' को 'ल्यप्' (य) आदेश (अस्तम् गम् य)। 'ह्रस्वस्य पिति०'[२८५८] (६.१.७१) से तुक् (त्) का आगम। 'आद्यन्तौ०'[३६] (१.१.४६) से 'तुक्' आगम गम् का अन्त्य अवयव (अस्तम् गम् त् य)। 'अनुदात्तोपदेश'[२४२८] (६.४.३७) से अनुनासिक गम् के 'म्' का लोप (अस्तंगत्य)।

७७०. अच्छगत्यर्थवदेषु (१.४.६९)

अव्ययम् इत्येव। अच्छगत्य। अच्छोद्य। अभिमुखं गत्वा उक्त्वा चेत्यर्थः। अव्ययं किम्—जलमच्छं गच्छति।

अनु०—गत्यर्थक एवं वद् धातु के योग में 'अच्छ' अव्यय की गति संज्ञा होती है। अच्छगत्य—सामने जाकर। अच्छोद्य—सामने कहकर।

'अव्ययम्' ऐसा क्यों कहा? जलमच्छं गच्छति। (यहाँ 'अच्छम्' अव्यय नहीं है अतः यहाँ समास नहीं हुआ।)

व्याख्या—अव्ययं किमिति। जहाँ 'अच्छ' अव्यय होता है वहीं उसकी गति संज्ञा होती है। अच्छ अव्यय का अर्थ है—'अभिमुख' अर्थात् सामने। किन्तु उज्ज्वल अर्थ में भी 'अच्छ' का प्रयोग मिलता है जो कि अव्यय नहीं है। क्रिया के योग में भी उसकी गति संज्ञा नहीं होती। जैसे—जलमच्छं गच्छति। वह स्वच्छ जल में प्रवेश करता है। यहाँ 'अच्छम्' अच्छ शब्द का द्वितीया एकवचन में रूप है। अव्यय होने पर विभक्ति का लोप हो जाता है, 'अच्छ' बनता है।

रूपसिद्धिः—अच्छगत्य

लौ० वि०—अच्छं गत्वा। अलौ० वि०—अच्छ गम् क्त्वा।

'अच्छ गत्यर्थ०'[७७०] (१.४.६९) से 'अच्छ' की गति संज्ञा। 'कुगतिप्रादयः'[७६१] (२.२.१८) से गति संज्ञक 'अच्छ' का 'गम्' धातु के साथ समास। 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (अच्छ गम् य)। 'ह्रस्वस्य पिति०'[२८५८] (६.१.७१) से तुक् (त्) का आगम (अच्छ गम् त् य)। 'अनुदात्तोपदेश०'[२४२८] (६.४.३७) से अनुनासिक 'म्' का लोप (अच्छगत्य)।

अच्छोद्य

लौ० वि०—अच्छ उद्य । अलौ० वि०—अच्छ वद् क्त्वा ।

'अच्छ गत्यर्थ०'[७७०] (१.४.६९) से 'अच्छ' की गति संज्ञा । 'कुगतिप्रादयः'[७६१] (२.२.१८) से गतिसंज्ञक 'अच्छ' का वद् धातु के साथ समास । 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (अच्छ वद् य) । 'वचिस्वपि०'[२४०९] (६.१.१५) से वद् के 'व' को 'उ' सम्प्रसारण (अच्छ उद् य) । 'आद्गुणः'[६९] (६.१.८७) से गुण (अच्छोद्य) ।

७७१. अदोऽनुपदेशे (१.४.७०)

अद〜कृत्य अद〜कृतम् । परं प्रत्युपदेशे प्रत्युदाहरणम्—अदः कृत्वा अदः कुरु ।

अनु०—(जब किसी को समझाना न हो तो क्रिया के योग में अदस् शब्द की गति संज्ञा होती है ।) अदःकृत्य अदःकृतम्—यह काम करके उसने यह (दूसरा) काम किया । जब किसी व्यक्ति को समझाना हो तो अदस् शब्द की गति संज्ञा नहीं होती । उदाहरण—अदः कृत्वा अदः कुरु—इस कार्य को करके यह (दूसरा) कार्य करो । (यहाँ एक व्यक्ति दूसरे को समझा रहा है । अतः गति संज्ञा नहीं हुई । गति संज्ञा न होने पर समास नहीं हुआ ।)

रूपसिद्धिः—अदःकृत्य

लौ० वि०—अदस् कृत्वा । अलौ० वि०—अदस् कृ क्त्वा ।

'अदोऽनुपदेशे'[७७१] (१.४.७०) से 'अदस्' की गति संज्ञा । 'कुगतिप्रादयः'[७६१] (२.२.१८) से गतिसंज्ञक 'अदस्' का 'कृ' धातु के साथ समास । 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (अदस् कृ य) । 'ह्रस्वस्य पिति०'[२८५८] (६.१.७१) से तुक् (त्) का आगम (अदःकृत्य) ।

७७२. तिरोऽन्तर्धौ (१.४.७१)

तिरोभूय ।

अनु०—(व्यवधान अर्थ में वर्तमान तिरस् अव्यय की गति संज्ञा होती है ।) (जैसे–) तिरोभूय—छिपकर ।

रूपसिद्धिः—तिरोभूय

लौ० वि०—तिरस् भूत्वा । अलौ० वि०—तिरः भू क्त्वा ।

'तिरोऽन्तर्धौ'[७७२] (१.४.७१) से 'तिरस्' अव्यय की गति संज्ञा । 'कुगति०'[७६१] (२.२.१८) से 'तिरस्' का 'भू' धातु के साथ समास । 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (तिरः भू य) । 'तिरसोऽन्यतरस्याम्'[१५६] (८.३.४२) से 'तिरः' के विसर्ग को विकल्प से 'स्' (तिरस् भूय) । 'ससजुषो रुः'[११२] (८.२.६६) से 'स्' को 'रु' (तिर रु भूय) । 'हशि च'[१६१] (६.१.११४) से 'रु'

को 'उ' (तिर उ भूय)। 'आद्गुणः'[६९] (६.१.८७) से गुण (तिरोभूय)।

७७३. विभाषा कृञि (१.४.७२)

तिरस्कृत्य, तिर॑कृत्य, तिरः कृत्वा।

अनु०—(व्यवधान अर्थ में वर्तमान 'तिरस्' अव्यय की कृञ् परे रहते विकल्प से गति संज्ञा होती है।) (जैसे) तिरस्कृत्य, तिर॑कृत्य, तिरः कृत्वा—अनादर करके।

रूपसिद्धिः—तिरस्कृत्य

लौ० वि०—तिरस् कृत्वा। अलौ० वि०—तिरः कृ क्त्वा।

'विभाषा कृञि'[७७३] (१.४.७२) से कृञ् परे रहते 'तिरस्' अव्यय की विकल्प से गति संज्ञा। 'कुगति०'[७६१] (२.२.१८) से 'तिरस्' का 'कृ' धातु के साथ समास। 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३१] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (तिरः कृ य)। 'ह्रस्वस्य पिति०'[२८५८] (६.१.७१) से तुक् (त्) का आगम (तिरः कृ त् य)। 'तिरसोऽन्यतरस्याम्'[१५६] (८.३.४२) से 'तिरः' के विसर्ग को विकल्प से स् (तिरस्कृत्य)।

तिर॑कृत्य— यहाँ 'कुप्वोः॑क॑पौ च'[१४२] (८.३.३७) सूत्र से 'तिरः' के विसर्ग को जिह्वामूलीय हुआ है।

तिरः कृत्वा—यहाँ 'तिरस्' की गति संज्ञा नहीं हुई है। अतः 'तिरसोऽन्यतरस्याम्'[१५६] (८.३.४२) से 'तिरः' के विसर्ग को 'स्' नहीं हुआ। इस सूत्र से जहाँ गतिसंज्ञा होती है वहीं विसर्ग को 'स्' होता है, अन्यत्र नहीं। यहाँ गतिसंज्ञा न होने के कारण समास नहीं हुआ। समास न होने के कारण 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् नहीं हुआ।

७७४. उपाजेऽन्वाजे (१.४.७३)

एतौ कृञि वा गतिसंज्ञौ स्तः। उपाजेकृत्य, उपाजे कृत्वा। अन्वाजेकृत्य, अन्वाजे कृत्वा। दुर्बलस्य बलमाधायेत्यर्थः।

अनु०—उपाजे और अन्वाजे इन दोनों अव्ययों की कृ के योग में विकल्प से गति संज्ञा होती है। उपाजेकृत्य, उपाजे कृत्वा। अन्वाजेकृत्य, अन्वाजे कृत्वा। 'दुर्बल को बल देना' इस अर्थ में दोनों (उपाजे, अन्वाजे) निपातों का प्रयोग होता है।

रूपसिद्धिः—उपाजेकृत्य

लौ० वि०—उपाजे कृत्वा। अलौ० वि०—उपाजे कृ क्त्वा।

'उपाजेऽन्वाजे'[७७४] (१.४.७३) से 'कृ' के योग में 'उपाजे' की गति संज्ञा।

'कुगति०'[७६१] (२.२.१८) से समास। 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (उपाजे कृ य)। 'ह्रस्वस्य पिति०'[२८५८] (६.१.७१) से तुक् (त्) आगम (उपाजेकृत्य)।

उपाजे कृत्वा—'उपाजेऽन्वाजे'[७७४] (१.४.७३) से 'कृ' के योग में 'उपाजे' की गतिसंज्ञा वैकल्पिक है। यहाँ गति संज्ञा के अभाव के कारण उपाजे का 'कृ' के साथ समास नहीं हुआ है। समास न होने के कारण 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् आदेश भी नहीं हुआ है।

अन्वाजेकृत्य

लौ० वि०—अन्वाजे कृत्वा। अलौ० वि०—अन्वाजे कृ क्त्वा।

'उपाजेऽन्वाजे'[७७४] (१.४.७३) से 'कृ' के योग में 'अन्वाजे' की गतिसंज्ञा। 'कुगति०'[७६१] (२.२.१८) से समास। शेषं पूर्ववत्। अन्वाजेकृत्य।

अन्वाजे कृत्वा—'उपाजेऽन्वाजे'[७७४] (१.४.७३) से 'कृ' के योग में 'अन्वाजे' की गति संज्ञा वैकल्पिक है। यहाँ गति संज्ञा के अभाव के कारण 'अन्वाजे' का 'कृ' के साथ समास नहीं हुआ है। समास न होने के कारण 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से 'क्त्वा' को 'ल्यप्' आदेश भी नहीं हुआ है।

७७५. साक्षात्प्रभृतीनि च (१.४.७४)

कृञि वा गतिसंज्ञानि स्युः। 'च्व्यर्थ इति वाच्यम्' (वा० ११४२)। साक्षात्कृत्य, साक्षात् कृत्वा। लवणंकृत्य, लवणं कृत्वा। मान्तत्वं निपातनात्।

अनु०—कृञ् के योग में 'साक्षात्' आदि पदों की विकल्प से गति संज्ञा होती है। 'च्वि' के अर्थ में (गति संज्ञा होती है) ऐसा कहना चाहिए। साक्षात्कृत्य, साक्षात् कृत्वा—प्रत्यक्ष करके। लवणंकृत्य, लवणं कृत्वा—नमकीन करके। (लवणम् में) मान्तत्व निपातन से है।

व्याख्या—साक्षात् आदि शब्द आकृतिगण के अन्तर्गत हैं जिसमें निम्न शब्द हैं—साक्षात्, मिथ्या, चिन्ता, भद्रा, रोचन, आस्था, अमा, अद्धा, प्राजर्या, प्राजरुहा, बीजर्या, बीजरुहा, संसर्या, अर्थे, लवणम्, उष्णम्, शीतम्, उदकम्, आर्द्रम्, अग्नौ, वशे, विकसने, विहसने, प्रतपने, प्रादुस्, नमस्।

च्वि इति—'साक्षात्' आदि पदों की 'च्वि' अर्थ में ही 'कृ' के योग में गति संज्ञा होती है। मान्तत्वमिति—'लवणंकृत्य' इस समस्त प्रयोग में निपातन से 'लवणम्' के 'अम्' का लोप नहीं हुआ है।

रूपसिद्धिः—साक्षात्कृत्य

लौ० वि०—साक्षात् कृत्वा। अलौ० वि०—साक्षात् कृ क्त्वा।

'च्व्यर्थ इति वाच्यम्' (वा० ११४२) के बल पर 'साक्षात्०'[७७५] (१.४.७४) सूत्र से 'कृ' के योग में 'साक्षात्' की गति संज्ञा। 'कुगति०'[७६१] (२.२.१८) से समास। 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (साक्षात् कृ य)। 'ह्रस्वस्य पिति०'[२८५८] (६.१.७१) से तुक् आगम (साक्षात्कृत्य)।

साक्षात् कृत्वा—'साक्षात्०'[७७५] (१.४.७४) से 'कृ' के योग में 'साक्षात्' की गति संज्ञा वैकल्पिक है। यहां 'साक्षात्' की गति संज्ञा नहीं है। अतः गति संज्ञा न होने के कारण समास नहीं हुआ है और समासाभाव में 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् आदेश नहीं हुआ है।

लवणंकृत्य

लौ० वि०—लवणं कृत्वा। अलौ० वि०—लवणं कृ क्त्वा।

'साक्षात्०'[७७५] (१.४.७४) से 'कृ' के योग में 'लवणम्' की गति संज्ञा। 'कुगति०'[७६१] (२.२.१८) से समास। 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (लवणं कृ य)। 'ह्रस्वस्य पिति०'[२८५८] (६.१.७१) से तुक् (त्) आगम (लवणंकृत्य)। यहाँ 'लवणम्' में मान्तत्व निपातन से है।

लवणं कृत्वा—'साक्षात्०'[७७५] (१.४.७४) से 'कृ' के योग में 'साक्षात्' आदि शब्दों में गति संज्ञा वैकल्पिक है। यहाँ 'लवणम्' गति संज्ञक नहीं है अतः गति संज्ञा न होने के कारण समास नहीं हुआ है और समासाभाव में 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् आदेश नहीं हुआ है।

७७६. अनत्याधान उरसिमनसी (१.४.७५)

उरसिकृत्य, उरसि कृत्वा। अभ्युपगम्येत्यर्थः। मनसिकृत्य, मनसि कृत्वा। निश्चित्येत्यर्थः। अत्याधानमुपश्लेषणम्, तत्र न। उरसि कृत्वा पाणिं शेते।

अनु०—(उरसि, मनसि—इन दोनों अव्ययों की कृ धातु के योग में विकल्प से गति संज्ञा होती है जब संयोग न हो।) उरसिकृत्य, उरसि कृत्वा—स्वीकार करके। मनसिकृत्य, मनसि कृत्वा—निश्चय करके। जहाँ 'उरस्' के साथ किसी अंग का संयोग होता है वहाँ 'उरस्' की गति संज्ञा नहीं होती। जैसे—उरसि कृत्वा पाणिं शेते। (यहाँ 'पाणि' का संयोग होने के कारण 'उरसि' गतिसंज्ञक नहीं है अतः यहाँ समासाभाव है।)

रूपसिद्धिः—उरसिकृत्य

लौ० वि०—उरसि कृत्वा। अलौ० वि०—उरसि कृ क्त्वा।

'अनत्याधान०'[७७६] (१.४.७५) से 'उरसि' अव्यय की गति संज्ञा। 'कुगति०'[७६१] (२.२.१८) से समास। 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (उरसि कृ य)। शेषं पूर्ववत्। उरसिकृत्य।

उरसि कृत्वा—'अनत्याधान०'[७७६] (१.४.७५) से 'उरसि' अव्यय की गति संज्ञा वैकल्पिक है। यहाँ 'उरसि' गतिसंज्ञक नहीं है। अतः 'उरसि' का 'कृ' के साथ समास नहीं हुआ। समासाभाव में क्त्वा को ल्यप् आदेश भी नहीं हुआ है।

मनसिकृत्य

लौ० वि०—मनसि कृत्वा। अलौ० वि०—मनसि कृ क्त्वा।

'अनत्याधान'०[७७६] (१.४.७५) से 'मनसि' की गति संज्ञा। 'कुगति०'[७६१] (२.२.१८) से समास। 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (मनसि कृ य)। तुक्(त्) शेषं पूर्ववत्। मनसिकृत्य।

मनसि कृत्वा—'अनत्याधान०'[७७६] (१.४.७५) से 'मनसि' अव्यय की गति संज्ञा वैकल्पिक है। यहाँ 'मनसि' गति संज्ञक नहीं है। अतः 'मनसि' का 'कृ' के साथ समास नहीं हुआ। समासाभाव में क्त्वा को ल्यप् आदेश भी नहीं हुआ है।

७७७. मध्ये पदे निवचने च (१.४.७६)

एते कृञि वा गतिसंज्ञाः स्युरनत्याधाने। मध्येकृत्य, मध्ये कृत्वा। पदेकृत्य, पदे कृत्वा। निवचनेकृत्य, निवचने कृत्वा। वाचं नियम्येत्यर्थः।

अनु०—(मध्ये, पदे और निवचने पदों की 'कृ' के योग में गति संज्ञा विकल्प से होती है जब इनके साथ किसी अंग का संयोग न हो।) मध्येकृत्य, मध्ये कृत्वा—मध्य में करके। पदेकृत्य, पदे कृत्वा—पाँव पर रखकर। निवचनेकृत्य, निवचने कृत्वा—वाणी का नियमन करके अर्थात् मौन करके।

व्याख्या—मध्ये, पदे, निवचने की गति संज्ञा वैकल्पिक है। जब इन पदों के साथ किसी अंग का संयोग न हो तभी ये पद गतिसंज्ञक होते हैं, अन्यथा नहीं। 'हस्तिनः पदे कृत्वा शिरः शेते' (हाथी के पांव पर सिर रखकर सोता है।)—इस वाक्य में पद और शिरस् का संयोग है अतः 'कृ' के योग में 'पदे' की गति संज्ञा नहीं हुई, गति संज्ञा न होने से समास नहीं हुआ और समास न होने से क्त्वा को ल्यप् आदेश भी नहीं हुआ। मध्ये, पदे और निवचने शब्दों में एदन्तत्व निपातन से है।

रूपसिद्धिः—मध्येकृत्य

लौ० वि०—मध्ये कृत्वा। अलौ० वि०—मध्ये कृ क्त्वा।

'मध्ये पदे०'[७७७] (१.४.७६) से 'मध्ये' पद की 'कृ' के योग में गतिसंज्ञा। 'कुगति०'[७६१] (२.२.१८) से समास। 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (मध्ये कृ य)। तुक्(त) शेषं पूर्ववत्। मध्येकृत्य।

समासाभाव में—मध्ये कृत्वा।

पदेकृत्य

लौ० वि०—पदे कृत्वा । अलौ० वि०—पदे कृ क्त्वा ।

'मध्ये पदे०'[७७७] (१.४.७६) से 'पदे' की 'कृ' के योग में गति संज्ञा । 'कुगति०'[७६१] (२.२.१८) से समास । 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (पदे कृ य) । तुक्(त्) । शेषं पूर्ववत् । पदेकृत्य ।

समासाभाव में—पदे कृत्वा ।

निवचनेकृत्य

लौ० वि०—निवचने कृत्वा । अलौ० वि०—निवचने कृ क्त्वा ।

'मध्ये पदे०'[७७७] (१.४.७६) से 'निवचने' की 'कृ' के योग में गति संज्ञा । 'कुगति०'[७६१] (२.२.१८) से समास । 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (निवचने कृ य) । तुक्(त्) शेषं पूर्ववत् । निवचनेकृत्य ।

समासाभाव में—निवचने कृत्वा

७७८. नित्यं हस्ते पाणावुपयमने (१.४.७७)

कृञि । उपयमनं विवाहः । स्वीकारमात्रमित्यन्ये । हस्तेकृत्य । पाणौकृत्य ।

अनु०—(हस्ते और पाणौ इन दोनों निपात शब्दों की कृ धातु के योग में गति संज्ञा नित्य होती है जब विवाह अथवा उसकी स्वीकृति मात्र गम्य हो ।) उपयमन—विवाह । अन्य आचार्यों के मत में उपयमन का अर्थ है 'विवाह की स्वीकृति' । हस्तेकृत्य—विवाह करके । पाणौकृत्य—विवाह करके ।

व्याख्या—'हस्ते' और 'पाणौ' शब्दों में एदन्तत्व और औदन्तत्व क्रमशः निपातन से हैं । अतः 'हस्ते' और 'पाणौ' दोनों निपात शब्द हैं ।

नागेशभट्ट के अनुसार 'हस्ते' और 'पाणौ' दोनों सप्तम्यन्त प्रयोग हैं । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्'[९७२] (६.३.१४) से सप्तमी लोप का निषेध हुआ है ।

रूपसिद्धिः—हस्तेकृत्य

लौ० वि०—हस्ते कृत्वा । अलौ० वि०—हस्ते कृ क्त्वा ।

'नित्यं हस्ते०'[७७८] (१.४.७७) से 'हस्ते' निपात शब्द की 'कृ' के योग में गति संज्ञा । 'कुगति०'[७६१] (२.२.१८) से समास । 'समासेऽनञ्पूर्वे'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (हस्ते कृ य) । तुक्(त्) शेषं पूर्ववत् । हस्तेकृत्य ।

पाणौकृत्य

लौ० वि०—पाणौ कृत्वा । अलौ० वि०—पाणौ कृ क्त्वा ।

'नित्यं हस्ते०'[७७८] (१.४.७७) से 'पाणौ' निपात शब्द की 'कृ' के योग में गति संज्ञा । 'कुगति०'[७६१] (२.२.१८) से समास । 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप (य) आदेश (पाणौ कृ य) । तुक्(त्) शेषं पूर्ववत् । पाणौकृत्य ।

७७९. प्राध्वं बन्धने (१.४.७८)

प्राध्वम् इत्यव्ययम्। प्राध्वंकृत्य। बन्धनेनानुकूल्यं कृत्वेत्यर्थः। प्रार्थनादिना त्वानुकूल्यकरणे प्राध्वं कृत्वा।

अनु०—(जब बन्धन का भय दिखाकर आनुकूल्य प्राप्त किया जाता है तब कृ के योग में 'प्राध्वम्' इस अव्यय की गति संज्ञा होती है।) 'प्राध्वम्' अव्यय है।

प्राध्वंकृत्य का अर्थ है 'बन्धन आदि से अनुकूल करके'। 'प्रार्थना आदि से अनुकूल करके' इस अर्थ में—प्राध्वं कृत्वा।

व्याख्या—'प्राध्वम्' यह मान्त अव्यय आनुकूल्य अर्थ में प्रयुक्त होता है। जब बन्धन का भय दिखाकर आनुकूल्य प्राप्त किया जाता है तब कृ के योग में 'प्राध्वम्' इस अव्यय की गति संज्ञा होती है। किन्तु जब प्रार्थना आदि से आनुकूल्य प्राप्त होता है तब 'प्राध्वम्' की गति संज्ञा नहीं होती और गति संज्ञा न होने पर समास नहीं होता।

रूपसिद्धिः—प्राध्वंकृत्य

लौ० वि०—प्राध्वं कृत्वा। अलौ० वि०—प्राध्वं कृ क्त्वा।

'प्राध्वं बन्धने'[७७९] (१.४.७८) से 'प्राध्वम्' की गति संज्ञा। 'कुगति०'[७६१] (२.२.१८) से समास। 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (प्राध्वं कृ य)। तुक्(त्) शेषं पूर्ववत्। प्राध्वंकृत्य।

७८०. जीविकोपनिषदावौपम्ये (१.४.७९)

जीविकामिव कृत्वा। जीविकाकृत्य। उपनिषदमिव कृत्वा उपनिषत्कृत्य। औपम्ये किम् जीविकां कृत्वा। प्रादिग्रहणमगत्यर्थम्। सुपुरुषः। अत्र वार्त्तिकानि-'प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया' (वा० १३३५) प्रगत आचार्य प्राचार्यः। 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' (वा० १३३६)। अतिक्रान्तो मालामतिमालः। 'अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया' (वा० १३३७) अवक्रुष्टः कोकिलया अवकोकिलः। 'पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या' (वा० १३३८)। परिग्लानोऽध्ययनाय पर्यध्ययनः। 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' (वा० १३३९) निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः निष्कौशाम्बिः। 'कर्मप्रवचनीयानां प्रतिषेधः' (वा० १३४०) वृक्षं प्रति।

अनु०—(कृञ् के योग में जीविका और उपनिषद् शब्दों की गति संज्ञा होती है यदि तुलना गम्य हो।) जीविकामिव कृत्वा जीविकाकृत्य—जीविका की तरह करके। उपनिषदमिव कृत्वा उपनिषत्कृत्य—उपनिषद् की तरह करके। (सूत्र में) 'औपम्ये' क्यों कहा? जीविकां कृत्वा —जीविका करके (यहाँ समास न हो।) ('कुगतिप्रादयः' सूत्र में) गति से भिन्न प्रादि का ग्रहण हुआ है। सुपुरुषः—अच्छा आदमी। यहाँ वार्त्तिक हैं—'गत आदि अर्थ में वर्तमान प्र आदि का प्रथमान्त पद के साथ समास होता है।'

प्रगत आचार्यः प्राचार्यः—प्रतिष्ठित आचार्य। 'क्रान्त आदि अर्थ में वर्तमान अति आदि का द्वितीयान्त पद के साथ समास होता है।' अतिक्रान्तो मालामतिमालः—सुगन्ध में माला को अतिक्रमण करने वाला। 'क्रुष्ट आदि अर्थ में वर्तमान अव आदि का तृतीयान्त पद के साथ समास होता है।' अवक्रुष्टः कोकिलया अवकोकिलः—कोयल से कूजित हुआ।

'परि' आदि का चतुर्थ्यन्त समर्थ सुबन्त के साथ ग्लानि आदि अर्थ में समास होता है।' परिग्लानोऽध्ययनाय पर्यध्ययनः—अध्ययन से परिश्रान्त। 'निर्' आदि का पञ्चम्यन्त समर्थ सुबन्त के साथ निष्क्रान्त आदि अर्थ में समास होता है। निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः निष्कौशाम्बिः—कौशाम्बी से बाहर गया हुआ। 'प्र' आदि कर्मप्रवचनीयों का समास नहीं होता।' वृक्षं प्रति—वृक्ष की ओर।

व्याख्या—कृञ् के योग में जीविका और उपनिषद् शब्दों की गति संज्ञा होती है यदि तुलना गम्य हो। जैसे—जीविकाकृत्य। यहाँ तुलना वाचक 'इव' गम्य है—जीविकामिव कृत्वा। इसी प्रकार उपनिषत्कृत्य। यहाँ भी वाचक पद 'इव' गम्य है—उपनिषदमिव कृत्वा।

प्रादिग्रहणमिति। क्रिया के योग में 'प्र' आदि की गति संज्ञा होती है। वहाँ वे गतिसंज्ञक होकर समस्त होते हैं। किन्तु क्रिया का योग न होने पर भी प्र आदि को समस्त करना है, इसलिए 'कुगतिप्रादयः'[७६१] (२.२.१८) इस सूत्र में गति से पृथक् प्रादि का ग्रहण हुआ। सुपुरुषः। यह गतिभिन्न प्रादि समास का उदाहरण है। शोभनः पुरुषः—अच्छा आदमी। यहाँ 'सु' प्रादि है, क्योंकि क्रिया का योग न होने से इसकी गति संज्ञा नहीं हुई। यह केवल प्रादि है। इसका समर्थ सुबन्त 'पुरुषः' के साथ 'कुगतिप्रादयः'[७६१] (२.२.१८) से समास हुआ है।

कर्मप्रवचनीयानामिति। अर्थ विशेष में 'प्र' आदि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है, उस स्थिति में प्र आदि कर्मप्रवचनीयों का समास नहीं होता। जैसे—वृक्षं प्रति। यहाँ 'प्रति' कर्मप्रवचनीय है। उसके योग में 'वृक्षं' में द्वितीया विभक्ति हुई है। अतः यहाँ समास नहीं हुआ है।

रूपसिद्धिः—जीविकाकृत्य

लौ० वि०—जीविकामिव कृत्वा। अलौ० वि०—जीविका अम् कृ क्त्वा।

'जीविकोपनिषदा०'[७८०] (१.४.७९) से 'तुलना' गम्य होने पर कृञ् के योग में 'जीविका' की गति संज्ञा। 'कुगति०'[७६१] (२.२.१८) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (अम्) का लोप (जीविका कृ क्त्वा)। 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (जीविका कृ य)। 'ह्रस्वस्य पिति०'[२८५८] (६.१.७१) से तुक् (त्) आगम (जीविकाकृत्य)।

उपनिषत्कृत्य

लौ०वि० उपनिषदमिव कृत्वा। अलौ० वि०—उपनिषत् अम् कृ क्त्वा।

'जीविकोपनिषदा०'[७८०] (१.४.७९) से 'तुलना' गम्य होने पर कृञ् के योग में 'उपनिषत्' की गति संज्ञा। 'कुगति०'[७६१] (२.२.१८) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (अम्) का लोप (उपनिषत् कृ क्त्वा) 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश (उपनिषत् कृ य)। तुक्(त्) शेषं पूर्ववत्। उपनिषत्कृत्य।

सुपुरुषः

लौ० वि०—शोभनः पुरुषः। अलौ० वि०—सु पुरुष सु।

'कुगति०'[७६१] (२.२.१८) से प्रादि 'सु' का सुबन्त पद 'पुरुष' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (सु) का लोप (सु पुरुष)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५२] (१.२.४३) से 'सु' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'सु' का पूर्व प्रयोग (सु पुरुष)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (सुपुरुष स्)। शेषं पूर्ववत्। सुपुरुषः।

प्राचार्यः

लौ० वि०—प्रगत आचार्यः। अलौ० वि०—प्र आचार्य सु।

'प्रादयो गताद्यर्थे०' (वा० १३३५) से 'गत' अर्थ में वर्तमान 'प्र' का 'आचार्य' इस समर्थ सुबन्त पद के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (सु)का लोप(प्र आचार्य)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'प्र' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'प्र' का पूर्व प्रयोग (प्र आचार्य)। 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (प्राचार्य)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (प्राचार्य स्)। शेषं पूर्ववत्। प्राचार्यः।

अतिमालः

लौ० वि०—अतिक्रान्तो मालाम्। अलौ० वि०—अति माला अम्।

'अत्यादयः' (वा० १३३६) से 'क्रान्त' अर्थ में वर्तमान 'अति' का द्वितीयान्त पद 'माला' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (अम्) का लोप (अति माला)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'अति' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'अति' का पूर्व प्रयोग (अति माला)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस

न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (अति माला स्)। 'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४) से 'माला' की उपसर्जन संज्ञा। 'गोस्त्रियो०'[६५६] (१.२.४८) से 'माला' के 'आ' को ह्रस्व (अतिमाल स्)। शेषं पूर्ववत्। अतिमालः।

अवकोकिलः

लौ० वि०—अवकृष्टः कोकिलया। अलौ० वि०—अव कोकिला टा।

'अवादयः०' (वा० १३३७) से 'कृष्ट' अर्थ में वर्तमान 'अव' का तृतीयान्त 'कोकिला' पद के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (टा) का लोप (अव कोकिला)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'अव' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'अव' का पूर्व प्रयोग (अव कोकिला)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (अव कोकिला स्)। 'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४) से 'कोकिला' की उपसर्जन संज्ञा। 'गोस्त्रियो०'[६५६] (१.२.४८) से 'कोकिला' के 'आ' को ह्रस्व (अव कोकिल स्)। शेषं पूर्ववत्। अवकोकिलः।

पर्यध्ययनः

लौ० वि०—परिग्लानः अध्ययनाय। अलौ० वि०— परि अध्ययन ङे।

'पर्यादयो०' (वा० १३३८) से 'ग्लानि' अर्थ में वर्तमान "परि' का चतुर्थ्यन्त पद 'अध्ययन' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङे) का लोप (परि अध्ययन)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'परि' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'परि' का पूर्व प्रयोग (परि अध्ययन)। 'इको यणचि'[७७] (६.१.७७) से 'परि' के 'इ' को 'य्' (पर्यध्ययन)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२)से सु (स्) (पर्यध्ययन स्)। शेषं पूर्ववत्। पर्यध्ययनः।

निष्कौशाम्बिः

लौ० वि०—निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः। अलौ० वि०—निर् कौशाम्बी ङसि।

'निरादयः'० (वा० १३३९) से 'क्रान्त' अर्थ में वर्तमान 'निर्' का पञ्चम्यन्त पद 'कौशाम्बी' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (ङसि) का लोप (निर् कौशाम्बी)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'निर्' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'निर्' का पूर्व प्रयोग(निर् कौशाम्बी)। 'खरवसानयो०'[७६] (८.३.१५) से 'निर्' के 'र्' को विसर्ग (निः कौशाम्बी)। 'इदुदुपधस्य०'[१५५] (८.३.४१)

से विसर्ग को ष् (निष्कौशाम्बी)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (स्) (निष्कौशाम्बी स्)। 'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४) से 'कौशाम्बी' की उपसर्जन संज्ञा। 'गोस्त्रियो०'[६५६] (१.२.४८) से 'कौशाम्बी' के ईकार को ह्रस्व 'इ' (निष्कौशाम्बि स्)। शेषं पूर्ववत्। निष्कौशाम्बिः।

वृक्षं प्रति—यहाँ 'प्रति' प्रादि न होकर कर्मप्रवचनीय है उसके योग में 'वृक्ष' में द्वितीया विभक्ति हुई है। अतः यहाँ समास नहीं हुआ है।

७८१. तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् (३.१.९२)

सप्तम्यन्ते पदे 'कर्मणि—' (सू० २९१३) इत्यादौ वाच्यत्वेन स्थितं कुम्भादि, तद्वाचकं पदमुपपदसंज्ञं स्यात्। तस्मिंश्च सत्येव वक्ष्यमाणः प्रत्ययः स्यात्।

अनु०—कर्मणि०' इत्यादि सूत्रों में सप्तम्यन्त पद 'कर्मणि' के वाच्य रूप में जो कुम्भ आदि स्थित हैं, उनके वाचक पद की उपपद संज्ञा होती है और उपपद संज्ञा होने पर ही वक्ष्यमाण 'अण्' प्रत्यय होता है।

व्याख्या—कृत्प्रत्यय विधायक कुछ सूत्रों में कुछ पद सप्तम्यन्त हैं जैसे अण् विधायक 'कर्मण्यण्'[२९१३] (३.२.१) इस सूत्र में 'कर्मणि' पद सप्तम्यन्त है जो कि 'कुम्भं करोति इति कुम्भकारः' इस उदाहरण में 'कुम्भम्' को इङ्गित करता है। अतः कुम्भ पद की उपपद संज्ञा हुई। उपपद कुम्भ के कारण ही 'कुम्भ कृ' से अण् प्रत्यय हुआ है।

७८२. उपपदमतिङ् (२.२.१९)

उपपदं सुबन्तं समर्थेन नित्यं समस्यते। अतिङन्तश्चायं समासः कुम्भं करोतीति कुम्भकारः। इह कुम्भ अस् कार इत्यलौकिकं प्रक्रियावाक्यम्। अतिङ् किम्—मा भवान् भूत्। माङि लुङ् (सू० २२१९) इति सप्तमीनिर्देशान्मापङुपदम्। अतिङ् ग्रहणं ज्ञापयति सुपा इत्येतन्नेहानुवर्तत इति। पूर्वसूत्रेऽपि गतिग्रहणं पृथक्कृत्यातिङ् ग्रहणं तत्रापकृष्यते। 'सुपा' इति च निवृत्तम्। तथा च 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुबुत्पत्तेः' (प ७६) इति सिद्धम्। व्याघ्री। अश्वक्रीती। कच्छपी।

अनु०—उपपद सुबन्त का समर्थ के साथ नित्य समास होता है। यह समास तिङन्त के साथ नहीं होता।

कुम्भं करोतीति कुम्भकारः—कुम्हार।। यहाँ 'कुम्भ अस् कार' यह अलौकिक प्रक्रिया वाक्य है। 'अतिङ्' क्यों कहा—मा भवान् भूत् (यहाँ माङ् का 'भूत्' पद के साथ समास न हो।)।

'माङि लुङ्' (सू० २२१९) में 'माङि' सप्तम्यन्त पद होने के कारण माङ् उपपद है। (सूत्र में) अतिङ् ग्रहण से यह सिद्ध होता है कि यहाँ 'सुपा' का अधिकार नहीं रहा।

पूर्व सूत्र ('कुगतिप्रादयः') में भी गतिग्रहण को पृथक् करके 'अतिङ्' का इस सूत्र से अपकर्षण है, इससे वहाँ भी 'सुपा' इसकी निवृत्ति हो जाती है। तब 'गति, कारक और उपपद का कृदन्त पदों के साथ समास सुप् आने के पूर्व होता है।' व्याघ्री वाघिन। अश्वक्रीती—घोडे से खरीदी गई। कच्छपी—कछुई।

व्याख्या—अतिङ् किम् इति। 'उपपदमतिङ्'[७८२] (२.२.१९) सूत्र में 'अतिङ्' कहा है। इसका अर्थ है सुबन्त उपपद का तिङ् भिन्न के साथ समास होता है। अतएव 'मा भवान्भूत्' इस वाक्य में माङ् का तिङन्त भूत् पद के साथ समास नहीं हुआ है।

उक्त वाक्य में माङ् के योग में भू धातु से लुङ् का विधान होकर 'भूत्' प्रयोग बना है। यहाँ 'मा' उपपद है क्योंकि 'माङि लुङ्'[२२१९] (३.३.१७५) सूत्र में 'माङि' सप्तम्यन्त पद है और उसके द्वारा उदाहरण में 'मा' उपपद का ज्ञान होता है। 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' (३.१.९२)। भूत् तिङन्त पद है। यदि सूत्र में तिङ् भिन्न न कहते तो उपपद 'मा' का तिङन्त 'भूत्' के साथ समास हो जाता जो कि इष्ट नहीं है।

अतिङ्ग्रहणमिति। प्र०—'उपपदम्०'[७८२] (२.२.१९) सूत्र में 'सुपा' की अनुवृत्ति करके सुबन्त उपपद का सुबन्त पद के साथ नित्य समास हो जाएगा। तब 'उपपदम्०'[७८२] (२.२.१९) इस सूत्र में अतिङ् ग्रहण से क्या लाभ ?

उ०—'उपपदमतिङ्'[७८२] (२.२.१९) इस सूत्र में अतिङ् ग्रहण से सिद्ध होता है कि यहाँ 'सुपा' का अधिकार नहीं रहा। अतः 'सुपा' की अनुवृत्ति नहीं होती। तब सुबन्त उपपद का असुबन्त पद के साथ समास प्राप्त हुआ। सूत्र में 'अतिङ्' कहने से उसका निवारण हो जाता है। अतः अतिङ् ग्रहण व्यर्थ नहीं है।

पूर्वसूत्रे इति। 'उपपदमतिङ्'[७८२] (२.२.१९) इस सूत्र के पूर्व 'कुगतिप्रादयः'[७६१] (२.२.१८) इस सूत्र का योगविभाग करना होगा जो कि इस प्रकार होगा। (१) कुप्रादयः (२) गतिः। दूसरे विभाग 'गतिः' के साथ 'अतिङ्' का ग्रहण करना होगा और 'सुपा' की निवृत्ति होगी। दोनों विभागों का अर्थ इस प्रकार होगा—(१) कु और प्र आदि सुबन्तों का सुबन्त के साथ समास होता है। (२) सुबन्त गति का तिङ् भिन्न के साथ समास होता है। उक्त सूत्र की यह व्याख्या निम्न परिभाषा का आधार बनेगी।

गतिकारकेति। गति, कारक और उपपद का कृदन्त पदों के साथ समास सुप् आने के पूर्व होता है। तीनों के क्रमशः उदाहरण हैं—

गति का उदाहरण—व्याघ्री। कारक का उदाहरण—अश्वक्रीती। उपपद का उदाहरण—कच्छपी।

कुम्भकारः—यहाँ 'कुम्भं करोतीति' इस अर्थ में कर्मीभूत कुम्भ वाचक पद के उपपद रहते कृ धातु से 'कर्मण्यण्'[२९१३] (३.२.१) से अण् (अ) प्रत्यय (कुम्भ

कृ अण्) । 'अचो ञ्णिति'[२५४] (७.२.११५) से कृ के 'ऋ' को 'आर्' (कुम्भ क् आर् अ) । प्रथमा एकवचन में कुम्भकारः ।

रूपसिद्धिः—कुम्भकारः

लौ० वि०—कुम्भं करोति । अलौ० वि०—कुम्भ ङस् कार सु ।[1]

'उपपदमतिङ्'[७८२] (२.२.१९) से उपपद 'कुम्भ' का तिङ् भिन्न 'कार' के साथ समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् ङस् और सु प्रत्ययों का लोप (कुम्भ कार) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से उपपद 'कुम्भ' की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'कुम्भ' का पूर्व प्रयोग (कुम्भ कार) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (कुम्भ कार स्)। शेषं पूर्ववत् । कुम्भकारः ।

व्याघ्री—यहाँ 'व्याजिघ्रतीति'—(विशेष रूप से चारों ओर सूंघती है) इस विग्रह में वि आङ् पूर्वक 'घ्रा' धातु से 'आतश्चोपसर्गे'[२८९८] (३.१.१३६) से क (अ) प्रत्यय (वि आ घ्रा अ) । 'आतो लोप०'[२३७२] (६.४.६४) से घ्रा के 'आ' का लोप (वि आ घ्र् अ) । 'इको यणचि'[४७] (६.१.७७) से 'वि' के 'इ' को 'य्' (व्याघ्र) । इस अवस्था में 'गतिकारकोपपदानां०' (परिभाषा सूत्र ७६) से सुप् आने से पूर्व ही 'व्या' का 'घ्र' के साथ समास । 'जातेरस्त्री०'[५१८] (४.१.६३) से जातिवाचक 'व्याघ्र' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' (ई) प्रत्यय (व्याघ्र ई) । 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से व्याघ्र के अन्त्य अकार का लोप (व्याघ्री) । 'कृतद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (व्याघ्री सु) । 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप (व्याघ्री) ।

अश्वक्रीती

लौ० वि०—अश्वेन क्रीता । अलौ० वि०—अश्व टा क्रीत ।

'गतिकारकोपपदानां०' (प० सू० ७६) से सुबुत्पत्ति से पूर्व ही 'अश्व' का 'क्रीत' के साथ समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (टा) का लोप (अश्व क्रीत) । यहाँ जिसके पूर्व करण कारक है उस क्रीत शब्द के साथ 'क्रीतात् करणपूर्वात्'[५०६] (४.१.५०) से ङीष् (ई) प्रत्यय (अश्व क्रीत ई) । 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'क्रीत' के अन्त्य अकार का लोप

---

१. 'कुम्भ अम् कार सु' यह विग्रह अशुद्ध है क्योंकि 'कर्तृकर्मणो०'[६२३] (२.३.६५) सूत्र से कृदन्त 'कार' के योग में कुम्भ के साथ षष्ठी का विधान मिलता है अतः 'कुम्भ ङस् कार सु' यह विग्रह शुद्ध है ।

(अश्वक्रीती)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजस-मौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (अश्वक्रीती सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप—अश्वक्रीती।

कच्छपी (कच्छेन पिबति)—यहाँ 'सुपि स्थः'[२९१६] (३.२.४) इस सूत्र के 'सुपि' इस योग विभाग से सुबन्त कच्छ उपपद रहते पा धातु से 'क' (अ) प्रत्यय (कच्छ पा अ)। 'आतो लोप०'[२३७२] (६.४.६४) से 'पा' के 'आ' का लोप (कच्छप)। 'गतिकारकोपपदानां०' (प० सू० ७६) से उपपद 'कच्छ' का कृदन्त 'प' के साथ समास। 'जातेरस्त्री०'[५१८] (४.१.६३) से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् (ई) प्रत्यय (कच्छप ई)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से कच्छप के अन्त्य 'अ' का लोप (कच्छपी)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (कच्छपी सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप कच्छपी।

७८३. अमैवाव्ययेन (२.२.२०)

अमैव तुल्यविधानं यदुपपदं तदेवाव्ययेन सह समस्यते। स्वादुङ्कारम्। नेह–'कालसमयवेलासु तुमुन्' (सू० ३१७९)। कालः समयो वेला वा भोक्तुम्। अमेवेति किम्–अग्रे भोजम्—अग्रे भुक्त्वा। 'विभाषाऽग्रेप्रथमपूर्वेषु' (सू० ३३४५) इति क्त्वाणमुलौ। अमा चान्येन च तुल्यविधानमेतत्।

अनु०—जब उपपद संज्ञा का प्रयोजक सूत्र अम् (=णमुल्) का ही विधान करे तब उपपद का अव्यय के साथ समास होता है। स्वादुङ्कारम्—स्वादिष्ट बनाकर॥ कालः भोक्तुम्, समयो भोक्तुम्, वेला भोक्तुम्—(=भोजन करने का समय)। यहाँ समास नहीं होता है क्योंकि 'कालसमयवेलासु तुमुन्'[३१७९] उपपद संज्ञा का प्रयोजक होकर भी तुमुन् का विधान करता है, णमुल् (=अम्) का नहीं। (सूत्र में) 'अमैव' क्यों कहा?–अग्रे भोजम्—अग्रे भुक्त्वा–(=पहले भोजन कर लेने पर) यहाँ समास न हो। 'विभाषाऽग्रेप्रथमपूर्वेषु'[३३४५] से अग्रे उपपद रहते क्त्वा और णमुल् इन दोनों प्रत्ययों का विधान विकल्प से है। केवल अम् (=णमुल्) से ही विधान नहीं है, इससे समास नहीं हुआ।

व्याख्या—अमैवाव्ययेन। कृत् अव्यय के साथ उपपद समास नहीं होता किन्तु णमुल् (=अम्) के साथ हो जाता है यदि णमुल् विधायक सूत्र ही उपपद संज्ञा का प्रयोजक हो अर्थात् यदि वह सूत्र उपपद संज्ञा का णमुल् (अम्) के साथ ही विधान करता हो अन्य किसी प्रत्यय के साथ नहीं। नेहेति। 'कालसमयवेलासु तुमुन्'[३१७९] (३.३.१६७) सूत्र का अर्थ है—काल, समय और वेला शब्दों के उपपद रहते हुए धातु से तुमुन् प्रत्यय होता है। यहाँ 'कालसमयवेलासु' सप्तम्यन्त पद है। 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्'[७८१] (३.१.९२) इस नियम के अनुसार काल, समय, वेला, इन पदों की उपपद संज्ञा हुई। किन्तु 'कालसमयवेलासु०'[३१७९] (३.३.१६७) यह सूत्र उपपद संज्ञा का प्रयोजक होकर

भी तुमुन् (तुम्) का विधायक है, णमुल् (अम्) का नहीं। अतः 'कालः भोक्तुम्', 'समयो भोक्तुम्', 'वेला भोक्तुम्' इन वाक्यों में समास नहीं हुआ।

अमैवेति किम्। 'अमैवाव्ययेन'[७८३] (२.२.२०) सूत्र में कहा गया है कि जब उपपद संज्ञा का प्रयोजक सूत्र अम् (=णमुल) का ही विधान करे तब उपपद का अव्यय के साथ समास होता है। किन्तु जब वह सूत्र उपपद संज्ञा का प्रयोजक होते हुए अम् (=णमुल्) और साथ ही किसी अन्य प्रत्यय का भी विधान करता है तब वहाँ उपपद समास नहीं होता। जैसे–अग्रे भोजम्, अग्रे भुक्त्वा। यहाँ समास नहीं हुआ। क्योंकि यद्यपि 'विभाषाऽग्रेप्रथमपूर्वेषु'[३३४५] (३.४.२४) इस सूत्र में सप्तमीनिर्दिष्ट अग्रे, प्रथम, पूर्व शब्दों की उपपद संज्ञा हो जाती है तो भी इस सूत्र से इन शब्दों के उपपद रहते हुए धातु से केवल णमुल् (अम्) प्रत्यय ही नहीं, क्त्वा प्रत्यय भी होता है।

रूपसिद्धिः—स्वादुङ्कारम्

यहाँ नित्य समास हुआ है। 'स्वादुमि णमुल्'[३३४७] (३.४.२६) सूत्र से 'स्वादुं' उपपद रहते 'कृ' धातु से णमुल् (अम्) प्रत्यय (स्वादुं कृ अम्)। 'अचो ञ्णिति'[२५४] (७.२.११५) से कृ के 'ऋ' को 'आर्' (स्वादुं कारम्)। इस अवस्था में 'अमैवाव्ययेन'[७८३] (२.२.२०) से 'स्वादुं' का 'कारम्' के साथ समास होकर स्वादुङ्कारम् रूप बना है। स्वादु० के अनुस्वार को परसवर्ण ङ् द्र० 'अनुस्वारस्य ययि०'।

७८४. तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम् (२.२.२१)

'उपदंशस्तृतीयायाम्' (सू ३३६८) इत्यादीन्युपपदान्यमन्तेनाव्ययेन सह वा समस्यन्ते। मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते–मूलकोपदंशम्। उच्चैः कृत्वा, उच्चैःकारम्।

अनु०—उपदंशस्तृतीयायाम्' (सू० ३३६८) इत्यादि सूत्रों से गृहीत उपपदों का अमन्त अव्यय के साथ विकल्प से समास होता है। मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते–मूलकोपदंशम्–मूली काट काट कर। उच्चैःकारम्–ऊँचे स्वर से।

व्याख्या—'उपदंशस्तृतीयायाम्'[३३६८] (३.४.४७) इस सूत्र से लेकर 'अन्वच्यानुलोम्ये'[३३८६] (३.४.६४) इस सूत्र के अन्त तक गृहीत उपपदों का अमन्त अव्यय के साथ विकल्प से समास होता है। जैसे–मूलकोपदंशम्। यहाँ 'मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते' इस अर्थ में 'तृतीयाप्रभृती०'[७८४] (२.२.२१) इस सूत्र से वैकल्पिक समास हुआ है। 'मूलकेनोपदंशम्' यहाँ तृतीयान्त पद 'मूलकेन' 'उपदंशस्तृतीयायाम्'[३३६८] (३.४.४७) इस सूत्र में 'तृतीयायाम्' इस सप्तम्यन्त पद से निर्दिष्ट हुआ है। अतः 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्'[७८१] (३.१.९२) इस सूत्र से उसकी उपपद संज्ञा हुई है। इस प्रकार 'उपदंशस्तृतीयायाम्'[३३६८] (३.४.४७) यह सूत्र उपपद संज्ञा का प्रयोजक तो है ही किन्तु साथ में णमुल् (=अम्) का भी विधायक है। अतः 'अमैवाव्ययेन'[७८३] (२.२.२०) इस सूत्र से यहाँ नित्य उपपद समास प्राप्त था; 'तृतीयाप्रभृती०'[७८४] (२.२.२१) इससे बाधित होकर विकल्प से हुआ है।

उच्चैर्‌कारम् । 'उच्चैः कृ' के साथ क्त्वा प्रत्यय लगाने से उच्चैः कृत्वा और णमुल् (=अम्) प्रत्यय लगाने से उच्चैः कारम् रूप बनते हैं। यहाँ 'अव्ययेऽयथा०'[३३८१] (३.४.५९) इस सूत्र से उपपद का निर्देश होने के साथ क्त्वा एवं णमुल् प्रत्यय विकल्प से होते हैं। अतः यहाँ 'उच्चैःकारम्' इस प्रयोग में 'अमैवाव्ययेन'[७८३] (२.२.२०) इस सूत्र से नित्य उपपद समास प्राप्त नहीं था, 'तृतीयाप्रभृती०'[७८४] (२.२.२१) इस सूत्र से वैकल्पिक समास हुआ है।

७८५. क्त्वा च (२.२.२२)

तृतीयाप्रभृतीन्युपपदानि क्त्वान्तेन सह वा समस्यन्ते। उच्चैःकृत्य, उच्चैः कृत्वा। 'अव्ययेऽयथाभिप्रेत—' (सू० ३३८१) इति क्त्वा। तृतीयाप्रभृतीनीति किम्—अलं कृत्वा, खलु कृत्वा।

अनु०—तृतीया प्रभृति उपपदों का क्त्वान्त के साथ विकल्प से समास होता है। उच्चैर्‌कृत्य, उच्चैः कृत्वा—ऊँचा करके। 'अव्ययेऽयथा०' सूत्र से क्त्वा प्रत्यय होता है। (सूत्र में) 'तृतीयाप्रभृतीनि' क्यों कहा ? अलं कृत्वा (=बन्द करके), खलु कृत्वा (=निश्चय करके) (यहाँ समास न हो)।

व्याख्या—तृतीयाप्रभृति उपपदों का क्त्वान्त पदों के साथ विकल्प से समास होता है। जैसे—उच्चैःकृत्य, उच्चैः कृत्वा। जहाँ समास हुआ है वहाँ 'समासेऽनञ्पूर्वे०'[३३३२] (७.१.३७) से क्त्वा को ल्यप् होकर 'उच्चैःकृत्य' रूप बनता है। समास के अभाव में क्त्वा को ल्यप् नहीं होता। 'उच्चैः कृत्वा' रूप बनता है।

तृतीयाप्रभृतीनीति। 'तृतीयाप्रभृती०'[७८४] (२.२.२१) सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि 'उपदंशस्तृतीयायाम्'[३३६८] (३.४.४७) सूत्र से लेकर 'अन्वच्यानुलोम्ये'[३३८६] (३.४.६४) इस सूत्र के अन्त तक के सूत्रों से निर्दिष्ट उपपदों का अमन्त अव्यय के साथ विकल्प से समास होता है। इसका अर्थ है कि 'उपदंशस्तृतीयायाम्'[३३६८] (३.४.४७) सूत्र से पूर्व और 'अन्वच्या०'[३३८६] (३.४.६४) सूत्र के पश्चात् आने वाले सूत्रों से निर्दिष्ट उपपदों का क्त्वान्त अव्यय के साथ समास नहीं होता। इस प्रकार अलं कृत्वा, खलु कृत्वा इन प्रयोगों में समास नहीं हुआ। क्योंकि 'अलं' और 'खलु' के योग में कृ धातु से क्त्वा प्रत्यय एवं सप्तम्यन्त पद से उपपद संज्ञा का निर्देश जिस सूत्र ('अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः०'[३३१६] (३.४.१८)) से हुआ है वह सूत्र 'तृतीयाप्रभृती०'[७८४] (२.२.२१) इस सूत्र से पूर्ववर्ती है।

७८६. तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः (५.४.८६)

संख्याव्ययादेरङ्गुल्यन्तस्य तत्पुरुषस्य समासान्तोऽच् स्यात्। द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्वयङ्गुलं दारु। निर्गतमङ्गुलिभ्यो निरङ्गुलम्।

अनु०—संख्यावाचक और अव्यय जिसके आदि में हों और अङ्गुलि शब्द अन्त में हो, उस तत्पुरुष को समासान्त अच् प्रत्यय होता है। द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्वयङ्गुलं

दारु—दो अङ्गुल प्रमाण की लकड़ी। निर्गतमङ्गुलिभ्यो निरङ्गुलम्—अङ्गुलियों से बड़ी।

रूपसिद्धिः—द्वयङ्गुलम्

लौ० वि०—द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य। अलौ० वि०—द्वि औ अङ्गुलि औ।

'तद्धितार्थोत्तर०'[७२८] (२.१.५१) से तद्धितार्थ प्रमाण में 'द्वि' का 'अङ्गुलि' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों 'औ' प्रत्ययों का लोप (द्वि अङ्गुलि) 'संख्यापूर्वो द्विगुः'[७३०] (२.१.५२) से द्विगु संज्ञा। 'प्रमाणे द्वयसज्०'[१८३८] (५.२.३७) से मात्रच् प्रत्यय (द्वि अङ्गुलि मात्रच्)। 'द्विगोर्नित्यम्' (वा० ३१२९) से मात्रच् का लोप (द्वि अङ्गुलि)। 'इको यणचि'[४७] (६.१.७७) से 'इ' को 'य्' (द्वयङ्गुलि)। 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः०'[७८६] (५.४.८६) से समासान्त अच् (अ) प्रत्यय (द्वयङ्गुलि अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से इकार लोप (द्वयङ्गुल)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (द्वयङ्गुल सु)। 'अतोऽम्'[३०९] (७.१.२४) से सु को अम् (द्वयङ्गुल अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से 'अम्' के 'अ' को पूर्वरूप (द्वयङ्गुलम्)।

निरङ्गुलम्

लौ० वि०—निर्गतम् अङ्गुलिभ्यः। अलौ० वि०—निर् अङ्गुलि भ्यस्।

'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे०' (वा० १३३९) से निर् अव्यय का निर्गत अर्थ में 'अङ्गुलि' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (भ्यस्) का लोप (निर् अङ्गुलि)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'निर्' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'निर्' का पूर्व प्रयोग (निर् अङ्गुलि)। 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः०'[७८६] (५.४.८६) से समासान्त अच् (अ) प्रत्यय (निरङ्गुलि अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से इकार लोप (निरङ्गुल)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (निरङ्गुल सु)। शेषं पूर्ववत्। निरङ्गुलम्।

७८७. अहस्सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः (५.४.८७)

एभ्यो रात्रेरच्स्यात्, चात्संख्याव्ययादेः। 'अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम्' (वा० ३३५३) अहश्च रात्रिश्चाहोरात्रः। सर्वा रात्रिः सर्वरात्रः। पूर्वं रात्रेः पूर्वरात्रः। संख्यातरात्रः। पुण्यरात्रः। द्वयो रात्र्योः समाहारो द्विरात्रम्। अतिक्रान्तो रात्रिमतिरात्रः।

अनु०—अहः, सर्व, एकदेश, संख्यात और पुण्य इन शब्दों से और संख्या तथा

अव्यय से परे रात्रि शब्द से समासान्त अच् प्रत्यय हो तत्पुरुष में। (सूत्र में) 'अहः' का ग्रहण द्वन्द्व समास के लिए है। अहश्च रात्रिश्चाहोरात्रः—रात्रि और दिन। सर्वा रात्रिः सर्वरात्रः—सारी रात। पूर्वं रात्रेः पूर्वरात्रः— रात का पहला भाग। संख्यातरात्रः — गिनी हुई रात। पुण्यरात्रः—पवित्र रात।

द्विरात्रम्—दो रात। अतिक्रान्तो रात्रिमतिरात्रः—जिसने रात बिता दी हो।

रूपसिद्धिः—अहोरात्रः

लौ० वि०—अहश्च रात्रिश्च। अलौ० वि०—अहन् सु रात्रि सु।

'अहन्' का 'रात्रि' शब्द के साथ 'चार्थे द्वन्द्वः'[९०१] (२.२.२९) से द्वन्द्व समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (अहन् रात्रि)। 'रूपरात्रि०' (वा० ४८४७) से अहन् के 'न्' को 'रु' (अह रु रात्रि)। 'हशि च'[६९६] (६.१.११४) से 'रु' को 'उ' (अह उ रात्रि)। 'आद्गुणः'[६९] (६.१.८७) से गुण (अहो रात्रि)। 'अहःसर्वैक०'[७८७] (५.४.८७) से समासान्त अच् प्रत्यय (अहो रात्रि अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से इकार लोप (अहोरात्र)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (अहोरात्र सु)। 'स नपुंसकम्'[८२१] (२.४.१७) से प्राप्त नपुंसकत्व को बाधित करके 'रात्राह्नाहाः पुंसि'[८१४] (२.४.२९) से पुंल्लिङ्ग। शेषं पूर्ववत्। अहोरात्रः।

सर्वरात्रः

लौ० वि०—सर्वा रात्रिः। अलौ० वि०—सर्वा सु रात्रि सु।

'पूर्वकालैक०'[७२६] (२.१.४९) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (सर्वा रात्रि)। 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' (वा० १३७६) से पुंवद्भाव (सर्व रात्रि)। 'अहःसर्वैक०'[७८७] (५.४.८७) से समासान्त अच् (अ) प्रत्यय (सर्व रात्रि अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'रात्रि' के इकार का लोप (सर्व रात्र)। 'रात्राह्नाहाः पुंसि'[८१४] (२.४.२९) से पुंस्त्व। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (सर्वरात्र सु)। शेषं पूर्ववत्। सर्वरात्रः।

पूर्वरात्रः

लौ० वि०—पूर्वं रात्रेः। अलौ० वि०—पूर्व सु रात्रि ङस्।

'पूर्वापराधरो०'[७१२] (२.२.१) से एकदेशि समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् सु और ङस् प्रत्ययों का लोप (पूर्व रात्रि)। 'अहःसर्वैक०'[७८७] (५.४.८७) से समासान्त अच् (अ) प्रत्यय (पूर्व रात्रि अ)।

'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से रात्रि के इकार का लोप (पूर्व रात्रे)। 'रात्राह्नाहाः पुंसि'[८१४] (२.४.२९) से पुंस्त्व। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (पूर्वरात्र सु)। शेषं पूर्ववत्। पूर्वरात्रः।

संख्यातरात्रः

लौ० वि०—संख्याता रात्रिः। अलौ० वि०—संख्याता सु रात्रि सु।

'संख्याता रात्रिः' इस विग्रह में समानाधिकरण होने के कारण 'विशेषणं०'[७३६] (२.१.५७) से कर्मधारय समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१)से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (संख्याता रात्रि)। 'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) से 'संख्याता' को पुंवद्भाव (संख्यात रात्रि)। 'अहः-सर्वैकदेश०'[७८७] (५.४.८७) से अच् (अ) (संख्यात रात्रि अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से इकार लोप (संख्यात रात्र)। 'रात्राह्नाहाः पुंसि'[८१४] (२.४.२९) से पुंस्त्व। शेषं पूर्ववत्। संख्यातरात्रः।

पुण्यरात्रः

लौ० वि०—पुण्या रात्रिः। अलौ० वि०—पुण्या सु रात्रि सु।

'पुण्या रात्रिः' इस विग्रह में समानाधिकरण होने के कारण 'विशेषणं०'[७३६] (२.१.५७) से कर्मधारय समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१)से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप(पुण्या रात्रि)। 'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) से 'पुण्या' को पुंवद्भाव (पुण्य रात्रि)। 'अहःसर्वैक०'[७८७] (५.४.८७) से अच् (अ) (पुण्य रात्रि अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से इकार लोप (पुण्य रात्र)। 'रात्राह्नाहाः पुंसि'[८१४] (२.४.२९) से पुंस्त्व। शेषं पूर्ववत्। पुण्यरात्रः।

द्विरात्रम्

लौ० वि०—द्वयोः रात्र्योः समाहारः। अलौ० वि०—द्वि ओस् रात्रि ओस्।

'तद्धितार्थोत्तर०'[७२८] (२.१.५१) से 'द्वि' का 'रात्रि' शब्द के साथ समाहार द्विगु समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों ओस् प्रत्ययों का लोप (द्वि रात्रि)। 'अहःसर्वैक०'[७८७] (५.४.८७) से अच् (अ) (क्योंकि इस सूत्र में 'च' ग्रहण से संख्यादि और अव्ययादि का ग्रहण होता है।) (द्वि रात्रि अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से इकार लोप (द्वि रात्र)। 'रात्राह्नाहाः पुंसि'[८१४] (२.४.२९) से पुंल्लिङ्ग प्राप्त था किन्तु 'संख्यापूर्वं रात्रेः क्लीबम्' (वा० ८१४) से नपुंसक लिङ्ग। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (द्वि रात्र सु)। 'अतोऽम्'[३०९] (७.१.२४) से सु को अम् (द्वि रात्र अम्)। 'अमि पूर्वः'[११४] (६.१.१०७) से अम् के 'अ' का पूर्वरूप (द्विरात्रम्)।

अतिरात्रः

लौ० वि०—अतिक्रान्तो रात्रिम्। अलौ० वि०—अति सु रात्रि अम्।

'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे०' (वा० १३३७) से 'अति' का द्वितीयान्त पद 'रात्रि' के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् सु और अम् प्रत्ययों का लोप (अति रात्रि)। 'अहःसर्वैक०'[७८७] (५.४.८७) से अच् (अ) प्रत्यय (क्योंकि इस सूत्र में 'च' ग्रहण से संख्यादि और अव्ययादि दोनों का ग्रहण होता है।) (अति रात्रि अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से इकार लोप (अतिरात्र)। 'रात्राह्नाहाः पुंसि'[८१४] (२.४.२९) से पुंस्त्व। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (स्) (अतिरात्र स्)। शेषं पूर्ववत् अतिरात्रः।

७८८. राजाहःसखिभ्यष्टच् (५.४.९१)

एतदन्तात्तत्पुरुषाट्टच्स्यात्। परमराजः। अतिराजी। कृष्णसखः।

अनु०—राजन्, अहन् और सखि शब्द जब अन्त में हों तब उस तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय होता है। परमराजः—उत्तम राजा। अतिराजी—राजा से बढ़कर, या श्रेष्ठ रानी। कृष्णसखः—कृष्ण का मित्र।

रूपसिद्धिः—

परमराजः

लौ० वि०—परमश्चासौ राजा च। अलौ० वि०—परम सु राजन् सु।

'परमश्चासौ राजा च' इस विग्रह में समानाधिकरण होने के कारण 'विशेषणं०'[७३६] (२.१.५७) से कर्मधारय समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (परम राजन्)। 'राजाहः०'[७८८] (५.४.९१) से टच् (अ) प्रत्यय (परम राजन् अ)। 'नस्तद्धिते'[६७९] (६.४.१४४) से 'टि' (अन्) का लोप (परम राज् अ=परमराज)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (परमराज सु)। शेषं पूर्ववत्। परमराजः।

अतिराजी

लौ० वि०—अतिक्रान्ता राजानम्। अलौ० वि०—अति राजन् सु।

'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे०' (वा० १३३६) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् सु प्रत्यय का लोप (अति राजन्)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६४३] (१.२.४३) से 'अति' की उपसर्जनसंज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'अति' का पूर्व प्रयोग (अति राजन्)। 'राजाहः०'[७८८] (५.४.९१) से टच् (अ) प्रत्यय (अति राजन् अ)। 'नस्तद्धिते'[६७९] (६.४.१४४) से 'टि' (अन्) का लोप (अति राज)। स्त्रीलिङ्ग में 'टिड्ढाणञ्०'[१४७०] (४.१.१५) से ङीप् (ई) प्रत्यय (अतिराज ई)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से

अकार लोप (अतिराजी)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (अतिराजी सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[३५२] (६.१.६८) से सु लोप (अतिराजी)।

कृष्णसखः

लौ० वि०—कृष्णस्य सखा। अलौ० वि०—कृष्ण ङस् सखि सु।

'षष्ठी०'[७०२] (२.२.८) से षष्ठ्यन्त 'कृष्ण' शब्द का 'सखि' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् ङस् और सु प्रत्ययों का लोप (कृष्ण सखि)। 'राजाहः०'[७८८] (५.४.९१) से टच् (अ) प्रत्यय (कृष्णसखि अ)। 'यस्येति च'[१११] (६.४.१४८) से इकार लोप (कृष्णसख् अ)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (कृष्णसख सु)। शेषं पूर्ववत्। कृष्णसखः।

७८६. अह्नष्टखोरेव (६.४.१४५)

एतयोरेव परतोऽह्नष्टिलोपः स्यान्नान्यत्र। उत्तमाहः। द्वे अहनी भूतो द्वयहीनः क्रतुः। तद्धितार्थे द्विगुः। 'तमधीष्टः०' (सू० १७४४) इत्यधिकारे 'द्विगोर्वा' (सू० १७५०) इत्यनुवृत्तौ 'राज्यहःसंवत्सराच्च' (सू० १७५१) इति खः। लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया अनित्यत्वान्नेह—मद्राणां राज्ञी-मद्रराज्ञी।

अनु०—ट अथवा ख के परे रहते ही 'अहन्' की टि का लोप होता है, अन्यत्र नहीं। उत्तमाहः—उत्तम दिन। द्वे अहनी भूतो द्वयहीनः क्रतुः—दो दिन में सम्पन्न होने वाला यज्ञ। तद्धितार्थ में द्विगु समास का उदाहरण है। 'तमधीष्टः' (सू० ७४४) इस सूत्र के अधिकार में 'द्विगोर्वा' की अनुवृत्ति होने पर 'राज्यहस्संवत्सराच्च' (सू० १७५१) से 'ख' प्रत्यय होता है।

लिङ्गविशिष्ट परिभाषा के अनित्य होने के कारण टिलोप नहीं हुआ—मद्रराज्ञी रूप बनता है।

व्याख्या—लिङ्गविशिष्टेति। **प्रश्न**—'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इस परिभाषा के अनुसार 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्'[७८८] (५.४.९१) इस सूत्र में पठित 'राजन्' शब्द से स्त्रीप्रत्ययान्त राज्ञी का भी ग्रहण कर लेने से 'मद्रराज्ञी टच्' 'भस्याढे तद्धिते' (वा० ३९२८) से पुंवद्भाव। तब 'मद्रराजन् टच्' इस स्थिति में 'नस्तद्धिते'[६७९] (६.४.१४४) से टि लोप। अनन्तर 'टिड्ढाणञ्०'[१४७०] (४.१.१५) सूत्र से ङीप् (ई) करने पर प्रथमा एकवचन में मद्रराजी रूप होना चाहिये। **उत्तर**—'राजाहः०'[७८८] (५.४.९१) सूत्र में पठित राजन् शब्द से स्त्रीप्रत्ययान्त राजी शब्द का ग्रहण नहीं होता क्योंकि 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' यह परिभाषा समासान्त प्रकरण

में सर्वदा लागू नहीं होती ।[1] अतः राजाहस्सखिभ्यष्टच्' इस सूत्र में पठित राजन् शब्द का पुंल्लिंग में ही ग्रहण होता है, स्त्रीलिङ्ग में नहीं, अतः टच् प्रत्यय न होने पर पुंवद्भाव नहीं हुआ । पुंवद्भाव न होने पर टिलोप का प्रश्न ही नहीं उठता ।

समासान्त प्रकरण में लिङ्गविशिष्टपरिभाषा का नियम स्थिर नहीं है । इस कथन के समर्थन में 'मद्रराज्ञी' यह उदाहरण प्रस्तुत किया गया है ।

रूपसिद्धिः—उत्तमाहः

लौ० वि०—उत्तमं च तदहश्च । अलौ० वि०—उत्तम सु अहन् सु ।

'विशेषणं०'[७१६] (२.१.५७) से समास । 'कृत्तद्धित०'[१७१] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (उत्तम अहन्) । 'राजाहः'[७८८] (५.४.९१) से टच् (अ) प्रत्यय (उत्तम अहन् अ) । 'अह्नष्टखोरेव'[७८९] (६.४.१४५) से 'टि' (अन्) का लोप (उत्तम अह) । 'अकः सवर्णे०'[८१] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (उत्तमाह) । 'रात्राह्नाहाः०'[८१४] (२.४.२९) से पुंल्लिङ्ग । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्'०[१८१] (४.१.२) से सु (उत्तमाह सु) । शेषं पूर्ववत् । उत्तमाहः ।

द्व्यहीनः—

लौ० वि०—द्वे अहनी (भूतः) । अलौ० वि०—द्वि औ अहन् औ ।

'तद्धितार्थोत्तर०'[७२८] (२.१.५१) से समास । 'कृत्तद्धित०'[१७१] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों औ प्रत्ययों का लोप (द्वि अहन्) । 'इको यणचि'[४७] (६.१.७७) से 'इ' को 'य्' (द्वयहन्) । 'तमधीष्टः'[१७४४] (५.१.८०) इस सूत्र के अधिकार में 'राज्यहस्संवत्सराच्च'[१७५१] (५.१.८७) सूत्र से द्विगु समास में विकल्प से ख प्रत्यय (द्व्यहन् ख) । 'आयनेयी०'[४७५] (७.१.२) सूत्र से प्रत्ययादि ख को ईन् आदेश (द्वयहन् ईन् अ) । 'अह्नष्टखोरेव'[७८९] (६.४.१४५) सूत्र से 'टि' (=अन्) का लोप (द्वयहीन) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (द्वयहीन सु) । शेषं पूर्ववत् । द्वयहीनः ।

---

१. समासान्तविधि में लिङ्गविशिष्टपरिभाषा अनिवार्य रूप से प्रवृत्त नहीं होती । इस कथन का समर्थन 'शक्तिलाङ्गलाङ्कुश०' (वा० १९९२) इस वार्त्तिक में पठित घट, घटी शब्दों से हो जाता है । जब लिङ्गविशिष्टपरिभाषा के अनुसार घट शब्द से ही घटी का बोध हो सकता था तब घट के साथ घटी का ग्रहण इस बात का ज्ञापक हो जाता है कि समासान्तविधि में प्रातिपदिक शब्द सभी लिङ्गों को बोधित नहीं करता ।

७९०. अह्नोऽह्न एतेभ्यः (५.४.८८)

सर्वादिभ्यः परस्याहन्शब्दस्याह्नादेशः स्यात्समासान्ते परे।

अनु०—सर्व, एकदेश, संख्यात, पुण्य एवं संख्या-वाचक और अव्यय शब्दों से परे अहन् शब्द को अह्न आदेश होता है समासान्त परे रहते।

७९१. अह्नोऽदन्तात् (८.४.७)

अदन्तपूर्वपदस्थाद्रेफात्परस्याह्नादेशस्य नस्य णः स्यात्। सर्वाह्णः। पूर्वाह्णः संख्याताह्नः। द्वयोरह्नोर्भवः 'कालाट्ठञ्' (सू० १३८१) 'द्विगोर्लुगनपत्ये' (सू० १०८० इति ठञो लुक्, द्वयह्नः। 'स्त्रियामदन्तत्वाट्टाप्' द्वयह्ना, द्वयह्नप्रियः। अत्यह्नः।

अनु०—अकारान्त पूर्वपद में स्थित रेफ से परे अह्नादेश के 'न' को 'ण' होता है। सर्वाह्णः—पूरा दिन। पूर्वाह्णः—दिन का पहला भाग। संख्याताह्नः—गिना हुआ दिन।

'द्वयोरह्नोर्भवः' विग्रह में 'कालाट्ठञ्' (सू० १३८१) से अहन् शब्द से ठञ्। और 'द्विगोर्लुगनपत्ये' (सू० १०८०) से ठञ् का लोप होकर द्वयह्नः—दो दिन में होने वाला कार्य। अदन्त होने के कारण स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय होकर द्वयह्ना—दो दिन में होने वाली क्रिया। द्वयह्नप्रियः—जिसे दो दिन में होने वाला कार्य प्रिय हो। अत्यह्नः—एक दिन से अधिक।

रूपसिद्धिः—सर्वाह्णः

लौ० वि०—सर्वम् अहः। अलौ० वि०—सर्व सु अहन् सु।

'पूर्वकालैक०'[७२६] (२.१.४९) से समास। 'कृत्तद्धित०'[७०९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (सर्व अहन्)। 'राजाहः०'[७८८] (५.४.९१) से टच् (अ) प्रत्यय (सर्व अहन् अ)। 'अह्नोऽह्न०'[७९०] (५.४.८८) से सर्व शब्द से पूर्व 'अहन्' को 'अह्न'आदेश (सर्व अह्न् अ)। 'अकः सवर्णे०'[८१] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (सर्वाह्ण अ)। 'अह्नोऽदन्तात्'[७९१] (८.४.७) से अह्न के न् को ण् (सर्वाह्ण अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से सर्वाह्ण के अन्त्य अकार का लोप (सर्वाह्ण् अ)। रात्राह्नाहाः०'[८१४] (२.४.२९) से पुंल्लिङ्ग। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (सर्वाह्ण सु)। शेषं पूर्ववत्। सर्वाह्णः।

पूर्वाह्णः

लौ० वि—पूर्वम् अहः। अलौ० वि०—पूर्व सु अहन् सु।

'पूर्वापरा०'[७१२] (२.२.१) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१०९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (पूर्व अहन्)। 'राजाहः०'[७८८] (५.४.९१) से टच् (अ) (पूर्व अहन् अ)। 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः'[७९०]

(५.४.८८) से एकदेशि पूर्व शब्द पूर्व अहन् को अह्न आदेश (पूर्व अह्न अ)। 'अकः सवर्णे'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (पूर्वाह्न अ)। 'अह्नोऽदन्तात्'[७९१] (८.४.७) से अह्न के न् को ण् (पूर्वाह्ण अ)। 'यस्येति च'[१११] (६.४.१४८) से पूर्वाह्न के अन्त्य अकार का लोप (पूर्वाह्ण)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। स्वौजसमौट्०[८१] (४.१.२) से सु (पूर्वाह्ण सु)। शेषं पूर्ववत्। पूर्वाह्णः।

संख्याताह्नः

लौ० वि०—संख्यातम् अहः। अलौ० वि०—संख्यात सु अहन् सु।

'विशेषणं०'[७१६] (२.१.५७) से विशेषण समास। 'कृत्तद्धित०'[७७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (संख्यात अहन्)। 'राजाहः'[७८८] (५.४.९१) से टच् (अ) (संख्यात अहन् अ)। 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः'[७९०] (५.४.८८) से संख्यात पूर्व अहन् को अह्न आदेश (संख्यात अह्न अ)। 'अकः सवर्णे'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (संख्याताह्न अ) 'यस्येति च'[१११] (६.४.१४८) से संख्याताह्न के अन्त्य अकार का लोप (संख्याताह्न)। 'रात्राह्नाहाः०'[८१९] (२.४.२९) से पुंल्लिङ्ग। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१२) से सु (संख्याताह्न सु)। शेषं पूर्ववत्। संख्याताह्नः।

द्व्यह्नः

लौ० वि०—द्वयोरह्नोर्भवः। अलौ० वि०—द्वि ओस् अहन् ओस्।

'तद्धितार्थोत्तर०'[७५८] (२.१.५१) से समास। 'कृत्तद्धित०'[७७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों ओस् प्रत्ययों का लोप (द्वि अहन्)। 'संख्यापूर्वो द्विगुः'[७१०] (२.१.५२) से द्विगु संज्ञा। 'कालाट्ठञ्'[११८१] (४.३.११) से ठञ् (द्वि अहन् ठञ्)। 'द्विगोर्लुगनपत्ये'[१०८०] (४.१.८८) से ठञ् का लोप (द्वि अहन्)। 'राजाहः०'[७८८] (५.४.९१) से टच् (अ) (द्वि अहन् अ)। 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः'[७९०] (४.१८८) से संख्यापूर्व अहन् को अह्न आदेश (द्वि अह्न अ)। 'इको यणचि'[७७] (६.१.७७) से इ को य् (द्व्यह्न अ)। 'यस्येति च'[१११] (६.४.४८) से द्व्यह्न के अन्त्य अकार का लोप (द्व्यह्न)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (द्व्यह्न सु)। शेष पूर्ववत्। द्व्यह्नः।

द्व्यह्ना

स्त्रीलिङ्ग में द्व्यह्न[१] शब्द से 'अजाद्यतष्टाप्'[४५१] (४.१.४) से टाप् (आ) (द्व्यह्न आ)। 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (द्व्यह्ना)। 'एकदेशविकृतम-

१. द्व्यह्न की सिद्धि के लिए द्रष्टव्य ऊपर।

नन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (द्वयह्ना सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु का लोप (द्वयह्ना)।

द्वयह्नप्रियः

लौ० वि०—द्वे अहनी प्रिये यस्य। अलौ० वि०—द्वि औ अहन् औ प्रिय औ।

'तद्धितार्थोत्तर०'[७२८] (२.१.५१) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् तीनों औ प्रत्ययों का लोप (द्वि अहन् प्रिय)। 'राजाहः०'[७८८] (५.४.९१) से टच् (अ) (द्वि अहन् अ प्रिय)। 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः'[७९०] (५.४.८८) से संख्या पूर्व अहन् को अह्न आदेश (द्वि अह्न अ प्रिय)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से अह्न के अन्त्य अकार का लोप (द्वि अह्न अ प्रिय)।' 'इको यणचि'[७७] (६.१.७७) से द्वि के इ को य् (द्वयह्न प्रिय)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (द्वयह्न प्रिय सु)। शेषं पूर्ववत्। द्वयह्नप्रियः।

अत्यह्नः

लौ० वि०—अहरतिक्रान्तः। अलौ० वि०—अति सु अहन् सु।

'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे०' (वा० १३३६) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (अति अहन्)। 'राजाहः०'[७८८] (५.४.९१) से टच् (अ) (अति अहन् अ)। 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः'[७९०] (५.४.८८) से अव्यय पूर्व अहन् को अह्न आदेश (अति अह्न अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से अह्न के अन्त्य अकार का लोप (अति अह्न)। 'इको यणचि'[७७] (६. १. ७७) से इ को य् (अत्यह्न)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४. १. २) से सु (अत्यह्न सु)। शेषं पूर्ववत्। अत्यह्नः।

७९२. क्षुभ्नादिषु च (८. ४. ३९)

एषु णत्वं न स्यात्। दीर्घाह्नी प्रावृट्। एवं चैतदर्थमह्न इत्यदन्तानुकरणक्लेशो न कर्तव्यः। 'प्रातिपदिकान्त-' (सू० १०५५) इति णत्ववारणाय क्षुभ्नादिषु पाठस्यावश्यकत्वात्। 'अदन्तात्' इति तपरकरणान्नेह—परागतमहः पराह्णः।

अनु०—क्षुभ्नादि शब्दों में (निमित्त होने पर भी) न को ण नहीं होता। दीर्घाह्नी प्रावृट्—बड़े दिन वाली वर्षा ऋतु।

यहां णत्व न हो इस कारण (कुछ वैयाकरणों ने) 'अह्नोऽदन्तात्'[७९१] (८.४.७) में 'अह्नः' को अकारान्त प्रथमा विभक्ति का रूप माना है। (ऐसा मानने पर दीर्घाह्न् में अकारान्त न होने से णत्व प्राप्ति नहीं होती और णत्व प्राप्ति न होने पर णत्व निषेध के लिए 'दीर्घाह्न' का क्षुभ्नादि गण में पाठ व्यर्थ हो जाता है ऐसा कहा है किन्तु

(भट्टोजि कहते हैं कि) ऐसी क्लिष्ट कल्पना करना ठीक नहीं है क्योंकि (क्लिष्ट कल्पना करने पर भी) 'प्रातिपदिकान्त'[१०५५] (८.४.११) से वैकल्पिक णत्व प्राप्त ही है जिसके निवारणार्थ दीर्घाह्ल का क्षुभ्नादि गण में पाठ आवश्यक है।

पराह्णः (=परागतम् अहः) में पूर्व पद 'परा' आकारान्त है और 'अह्नोऽदन्तात्'[७९१] (८.४.७) तभी प्रवृत्त हो सकता है जब पूर्व पद अकारान्त हो। अतः 'पराह्णः' में 'न' को 'ण' प्राप्त नहीं होता।

व्याख्या—क्षुभ्नादि गण में निम्न शब्द आते हैं :—

क्षुभ्न, नृनमन, नन्दिन्, नन्दन, नगर। ये संज्ञा में उत्तर पद के रूप में प्रयुक्त होते हैं। जैसे हरिनन्दी, हरिनन्दनः गिरिनगरम्। नृत् का यङ् में प्रयोग होता है—नरीनृत्यते। नर्तन, गहन, नन्दन, निवेश, निवास, अग्नि, अनूप। ये उत्तर पद के रूप में प्रयुक्त होते हैं। जैसे—परिनर्तनं, परिगहनं, परिनन्दनं, शरनिवेशः, शरनिवासः, शराग्निः, दर्भानूपः। यह आकृतिगण है। अतः दीर्घाह्ली आदि पदों की भी इस गण में गणना हो जाती है।

एवं चैतदर्थमिति। 'दीर्घाह्ली' इस पद में 'अह्नोदन्तात्'[७९१] (८.४.७) इस सूत्र से प्राप्त णत्व विधान का 'क्षुभ्नादिषु च'[७९२] (८.४.३९) इस सूत्र से निषेध हुआ है। सत्यां प्राप्तौ निषेधः। प्राप्ति होने पर ही निषेध होता है। प्रस्तुत प्रयोग में 'अह्नोऽदन्तात्'[७९१] (८.४.७) से न् को ण् प्राप्त था, 'क्षुभ्नादिषु च'[७९२] (८.४.३९) से उसका निवारण किया गया है।

कुछ वैयाकरणों का मत है कि क्षुभ्नादि गण में 'दीर्घाह्ली' की गणना व्यर्थ है क्योंकि यहाँ 'अह्नोऽदन्तात्'[७९१] (८.४.७) इस सूत्र की प्राप्ति ही नहीं। इनके विचार में उक्त सूत्र में 'अह्न' पद प्रथमान्त है जिसका षष्ठी के अर्थ में प्रयोग हुआ है। इस मत में सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा—अकारान्त पूर्वपद में स्थित रेफ से परे अकारान्त अह्न के 'न्' को 'ण्' होता है। 'दीर्घाह्ली' में हलन्त अहन् शब्द है, अकारान्त अह्न नहीं। क्योंकि उक्त प्रयोग में 'अह्नोह्न एतेभ्यः'[७९०] (५.४.८८) से अहन् को अह्न आदेश नहीं होता है। अतः अकारान्त अह्न न होने से दीर्घाह्ली में 'अह्नोऽदन्तात्'[७९१] (८.४.७) इस सूत्र की प्राप्ति ही नहीं होती। इस प्रकार वहाँ न् को ण् प्राप्त ही नहीं। तब न् को ण् न हो इसलिए दीर्घाह्ली का क्षुभ्नादि गण में समावेश व्यर्थ हो जाता है।

भट्टोजि दीक्षित उक्त विचार से सहमत नहीं है। इनका कथन है कि क्षुभ्नादिगण में 'दीर्घाह्ली' का पाठ आवश्यक है क्योंकि दीर्घाह्ली में 'अह्नोऽदन्तात्' इस सूत्र की प्राप्ति को रोकने के लिए सूत्रस्थ 'अह्न' पद को अकारान्त प्रथमा विभक्ति का रूप मानना क्लिष्ट कल्पना है। अतः सूत्रस्थ 'अह्नः' पद को अहन् की षष्ठी का रूप मानना ही उचित होगा। ऐसा मानने पर 'दीर्घाह्ली' में न् को ण् प्राप्त हो जाता है और उसके निवारणार्थ क्षुभ्नादि गण में 'दीर्घाह्ली' का पाठ उचित है। तभी 'क्षुभ्नादिषु च'[७९२] (८.४.३९) इस सूत्र से णत्व का निषेध होगा।

भट्टोजि दीक्षित का कथन है कि वैयाकरणों की उक्त क्लिष्ट कल्पना को मानने पर भी समस्या का समाधान नहीं होता। क्योंकि 'प्रातिपदिकान्त०'[१०५५] (८.४.११) सूत्र से भी दीर्घाह्नी में वैकल्पिक णत्व प्राप्त है। हम उसका तभी निषेध कर सकते है यदि हम क्षुभ्नादि गण में 'दीर्घाह्नी' को रखते हैं।

अदन्तादिति तपरकरणान्नेह। 'अह्नोऽदन्तात्'[७९१] (८.४.७) सूत्र में 'अत्' से ह्रस्व अकार का ही ग्रहण होता है, दीर्घ का नहीं। अतः जहाँ पूर्व पद आकारान्त होगा वहाँ अह्न के न् को ण् नहीं होता। जैसे—पराह्णः। यहाँ 'परा' आकारान्त उपसर्ग पूर्वपद है अतः पूर्व पद में निमित्त रेफ के होने पर भी अह्न के न् को ण् नहीं हुआ।

रूपसिद्धिः—दीर्घाह्नी

लौ० वि०—दीर्घाणि अहानि यस्याम्। अलौ० वि०—दीर्घ जस् अहन् जस्।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) सूत्र से बहुव्रीहि समास। 'कृत्तद्धित०'[७७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों जस् प्रत्ययों का लोप (दीर्घ अहन्)। 'अकः सवर्णे०'[८९] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (दीर्घाहन्)। 'अन उपधालोपिनो०'[४६२] (४.१.२८) से ङीप् (ई) (दीर्घाहन् ई)। 'अल्लोपोऽनः'[२३४] (६.४.१३४) से 'अन्' के अकार का लोप (दीर्घाह्नी)। 'एकदेश-विकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (दीर्घाह्नी सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो'[२५२] (६.१.६८) से सु का लोप (दीर्घाह्नी)। यहाँ 'अह्नोऽदन्तात्'[७९१] (८.४.७) से न् को ण् प्राप्त हुआ था किंतु 'क्षुभ्नादिषु च'[७९२] (८.४.३९) से उसका निषेध हुआ है।

७९३. न संख्यादेः समाहारे (५.४.८९)

समाहारे वर्तमानस्य संख्यादेरह्नादेशो न स्यात्। 'संख्यादेः' इति स्पष्टार्थम्। द्वयोरह्नोः समाहारो द्व्यहः। त्र्यहः।

अनु०—समाहार में वर्तमान संख्यादि से परे अहन् को अह्न आदेश न हो। (सूत्र में) 'संख्यादेः' इस पद का समावेश स्पष्टीकरण मात्र है।

द्वयोरह्नोः समाहारो द्व्यहः—दो दिन। त्र्यहः—तीन दिन।

व्याख्या—संख्यादेरिति स्पष्टार्थम्। समाहार में संख्यादि से भिन्न तत्पुरुष का समास ही नहीं होता। अतः सूत्र में 'संख्यादेः' का ग्रहण अनावश्यक हो जाता है। 'न समाहारे' एतावन्मात्र कहने से ही कार्य सिद्ध हो सकता है तब सूत्र में 'संख्यादेः' इस पद का समावेश स्पष्टीकरण मात्र है।

रूपसिद्धिः—द्व्यहः

लौ० वि०—द्वयोरह्नोः समाहारः। अलौ० वि०—द्वि ओस् अहन् ओस्।

'तद्धितार्थोत्तर०'[७२८] (२.१.५१) से समाहार अर्थ में समास। 'कृत्तद्धित०'[७७९]

(१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों ओस् प्रत्ययों का लोप (द्वि अहन्)। 'राजाहः०'[७८८] (५.४.९१) से टच् (अ) (द्वि अहन् अ)। 'नस्तद्धिते'[६७९] (६.४.१४४) से 'टि' (अन्) का लोप (द्वि अह् अ)। 'इको यणचि'[७७] (६.१.७७) से इ को य् (द्वयह)। 'रात्राह्नाह्नां०'[८१४] (२.४.२९) से पुंल्लिङ्ग। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (द्वयह सु)। शेषं पूर्ववत्। द्वयहः।

यहाँ 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः'[७९०] (५.४.८८) से अहन् को अह्न आदेश प्राप्त था किन्तु 'न संख्यादेः०'[७९१] (५.४. ८९) से निषेध हुआ है।

त्र्यहः

लौ० वि०—त्रयाणामह्नां समाहारः। अलौ० वि०—त्रि आम् अहन् आम्।

'तद्धितार्थोत्तर०'[९२८] (२.१.५१) से समाहार अर्थ में द्विगु समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनो आम् प्रत्ययों का लोप (त्रि अहन्)। 'राजाहः०'[७८८] (५.४.९१) से टच् (अ) (त्रि अहन् अ)। 'नस्तद्धिते'[६७९] (६.४.१४४) से टि (अन्) का लोप (त्रि अह् अ)। 'इको यणचि'[७७] (६.१.७७) से इ को य्(त्र्यह)। 'रात्राह्नाह्नां०'[८१४] (२.४.२९) से पुंल्लिङ्ग। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (त्र्यह सु)। शेषं पूर्ववत्। त्र्यहः। यहाँ 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः'[७९०] (५.४.८८) सूत्र से अहन् को अह्न आदेश प्राप्त था, 'न संख्यादेः०'[७९१] (५.४.८९) से उसका निषेध हुआ है।

७९४. उत्तमैकाभ्यां च (५.४.९०)

आभ्यामह्नादेशो न। उत्तमशब्दोऽन्त्यार्थः पुण्यशब्दमाह। 'पुण्यैकाभ्याम्' इत्येव सूत्रयितुमुचितम्। पुण्याहम्। सुदिनाहम्। सुदिनशब्दः प्रशस्तवाची। एकाहः। 'उत्तमग्रहणमुपान्त्यस्यापि संग्रहार्थम्' इत्येके। संख्याताहः।

अनु०—उत्तम और एक शब्द से परवर्ती अहन् शब्द को अह्न आदेश न हो। 'उत्तम' का अर्थ 'अन्त्य' है और अन्त्य से 'पुण्य' अर्थ लेना है [द्र० 'अहःसर्वैक०'[७८७] (५.४.८७)]। (भट्टोजि का मत है कि) तब 'पुण्यैकाभ्यां च' ऐसा सूत्र पाठ उचित है। पुण्याहम्–पवित्र दिन। सुदिनाहम्–अच्छा दिन। सुदिन शब्द प्रशस्तवाची है। एकाहः–एक दिन। कुछ वैयाकरण कहते हैं कि 'उत्तम' का प्रयोग ही उचित है। (इनके मत में) 'अहःसर्वैक०'[७८७] (५.४.८७) में पुण्य के पूर्ववर्ती (=उपान्त्य) 'संख्यात' का भी ग्रहण कर सकते हैं। ऐसा करने से 'संख्याताहः' (गिना हुआ दिन) रूप भी बन जाता है।

व्याख्या—उत्तमशब्दोऽन्त्यार्थ इति। सूत्र में उत्तम का अर्थ 'अन्त्य' है जो कि

'अहःसर्वैकदेशसंख्यात०'[७८७] (५.४.८७) इस सूत्र में अंतिम पुण्य शब्द को संकेतित करता है। सरलता के लिए "पुण्यैकाभ्यां च" यह पाठ उचित होगा।

उत्तमग्रहणमिति। 'उत्तमैकाभ्यां च'[७९४] (५.४.९०) इस सूत्र में उत्तम शब्द अन्त्यपर्यायवाची है। अन्त्यार्थवाची उत्तम शब्द से 'अहस्सर्वैकदेश०'[७८७] (५.४.८७) इस सूत्र में स्थित पुण्य शब्द का संकेत होता है क्योंकि सूत्र में उसका अन्त्य स्थान है। किन्तु 'उत्तमैकाभ्यां च'[७९४] (५.४.९०) इस सूत्र में अन्त्यार्थवाची उत्तम शब्द के स्थान पर पुण्य शब्द का ही प्रयोग कर सकते थे। किन्तु ऐसा न करके अन्त्यवाची उत्तम शब्द का ही प्रयोग किया गया है। कुछ वैयाकरणों के अनुसार सूत्र में उत्तम शब्द का प्रयोग न केवल अन्त्य अर्थ को ही, उपान्त्य अर्थ को भी सूचित करता है। 'अहःसर्वैकदेश०'[७८७] (५.४.८७) इस सूत्र में अन्त्य 'पुण्य' शब्द से पूर्व उपान्त्य 'संख्यात' का ग्रहण हुआ है। अतः ऐसे प्रयोगों में जहाँ अहन् से पूर्व संख्यात का प्रयोग हुआ है वहाँ 'अह्नोऽह्न०'[७९०] (५.४.८८) इस सूत्र से प्राप्त अहन् को अह्न आदेश का 'उत्तमैकाभ्यां च'[७९४] (३.४.९०) इस सूत्र से निषेध हुआ है।

रूपसिद्धिः—पुण्याहम्

लौ० वि०—पुण्यम् अहः। अलौ० वि०—पुण्य सु अहन् सु।

'विशेषणं०'[७३६] (२.१.५७) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१६९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[५५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (पुण्य अहन्)। 'राजाहः०'[७८८] (५.४.९१) से टच् (अ) (पुण्य अहन् अ)। यहाँ 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः'[७९०] (५.४.८८) सूत्र से अहन् को अह्न आदेश प्राप्त था 'उत्तमैकाभ्याञ्च'[७९४] (५.४.९०) सूत्र से उसका निषेध किया गया है। अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (पुण्याहन् अ)। 'नस्तद्धिते'[६७९] (६.४.१४४) से टि (अन्) का लोप (पुण्याह् अ)। 'रात्राह्नाः०'[८१४] (२.४.२९) से पुंल्लिङ्ग प्राप्त था। 'पुण्यसुदिनाभ्यां च' (वा० १५५३) से नपुंसक लिङ्ग। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (पुण्याह सु)। 'अतोऽम्'[३०९] (७.१.२४) से सु को अम् (पुण्याह अम्)। 'अमि पूर्वः'[१९८] (६.१.१०७) से अम् के अ को पूर्वरूप (पुण्याहम्)।

सुदिनाहम्

लौ० वि०—सुदिनम् अहः। अलौ० वि०—सुदिन सु अहन् सु।

'विशेषणं'[७३६] (२.१.५७) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१६९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[५५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (सुदिन अहन्)। 'राजाहः०'[७८८] (५.४.९१) से टच् (अ) (सुदिन अहन् अ)। 'नस्तद्धिते'[६७९] (६.४.१४४) से टि (अन्) लोप (सुदिन अह)। 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (सुदिनाह)। 'रात्राह्नाः०'[८१४] (२.४.२९) से पुंल्लिङ्ग प्राप्त किन्तु 'पुण्यसुदिनाभ्यां च' (वा० १५५३) से नपुंसक लिङ्ग। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्'

इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (सुदिनाह सु)। शेषं पूर्ववत्। सुदिनाहम्।

एकाहः

लौ० वि०—एकम् अहः। अलौ० वि०—एक सु अहन् सु।

'पूर्वकालैक०'[७२९] (२.१.४९) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (एक अहन्)। 'राजाहः०'[७८८] (५.४.९१) से टच् (अ) (एक अहन् अ)। 'नस्तद्धिते०'[६७९] (६.४.१४४) से टि (अन्) का लोप (एक अह् अ)। 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (एकाह)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (एकाह सु)। शेषं पूर्ववत्। एकाहः। यहां 'अह्नोऽह्न०'[७९०] (५.४.८८) से अहन् को अह्न आदेश प्राप्त था किन्तु 'उत्तमैकाभ्यां च'[७९४] (५.४.९०) से निषेध हुआ है।

संख्याताहः

लौ० वि०—संख्यातम् अहः। अलौ० वि०—संख्यात सु अहन् सु।

'विशेषणं०'[७३१] (२.१.५७) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (संख्यात अहन्)। 'राजाहः०'[७८८] (५.४.९१) से टच् (अ) (संख्यात अहन् अ)। 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (संख्याताहन् अ)। 'नस्तद्धिते'[६७९] (६.४.१४४) से टि (अन्) का लोप (संख्याताह् अ)। 'रात्राह्नाह्०'[८१४] (२.४.२९) से पुंल्लिङ्ग। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (संख्याताह सु)। शेषं पूर्ववत्। संख्याताहः।

७९५. अग्राख्यायामुरसः (५.४.९३)

टच्स्यात्। अश्वानामुर इव अश्वोरसम्। मुख्योऽश्व इत्यर्थः।

अनु०—अग्र (मुख्य) इस अर्थ में प्रयुक्त उरस् शब्द से टच् प्रत्यय होता है। अश्वानामुर इव अश्वोरसम् मुख्य अश्व।

रूपसिद्धिः—अश्वोरसम्

लौ० वि०—अश्वानाम् उरः (इव)। अलौ० वि०—अश्व आम् उरस् सु।

'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) से षष्ठी समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् आम् और सु प्रत्ययों का लोप (अश्व उरस्)। 'अग्राख्यायाम्०'[७९५] (५.४.९३) से टच् (अ) (अश्व उरस् अ)। 'आद्गुणः'[६९] (६.१.८७) से गुण (अश्वोरस् अ)। 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः'[८१२] (२.४.२६) से नपुंसक लिङ्ग। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (अश्वोरस सु)। शेषं पूर्ववत्। अश्वोरसम्।

७९६. अनोश्मायस्सरसां जातिसंज्ञयोः (५.४.९४)

टच्स्याज्जातौ संज्ञायां च। उपानसम्, अमृताश्मः, कालायसम्, मण्डूकसरसम् इति जातिः। महानसम्, पिण्डाश्मः, लोहितायसम्, जलसरसम् इति संज्ञा

अनु०—अनस्, अश्मन्, अयस् और सरस् इन शब्दों से तत्पुरुष में समासान्त टच् प्रत्यय होता है जब जाति और संज्ञा का बोध कराना इष्ट हो। उपानसम्, अमृताश्मः, कालायसम्—लोहा, मण्डूकसरसम्—मेंढकों से भरा हुआ तालाब—ये जाति के उदाहरण हैं। महानसम्—रसोई घर, पिण्डाश्मः—लोहे का पत्थर लोहितायसम्—तांबा, जलसरसम्—ये संज्ञा के उदाहरण हैं।

७९७. ग्रामकौटाभ्यां च तक्ष्णः (५.४.९५)

ग्रामस्य तक्षा ग्रामतक्षः। साधारण इत्यर्थः। कुटचां भवः कौटः, स्वतन्त्रः। स चासौ तक्षा च कौटतक्षः।

अनु०—ग्राम व कौट शब्द से परे तक्षन् शब्द से टच् प्रत्यय होता है। ग्रामस्य तक्षा ग्रामतक्षः—गाँव का बढ़ई। कौटतक्षः = अपनी दुकान पर काम करने वाला बढ़ई।

रूपसिद्धि —

ग्रामतक्षः

लौ० वि०—ग्रामस्य तक्षा। अलौ० वि०—ग्राम ङस् तक्षन् सु।

'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) से षष्ठी तत्पुरुष समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् ङस् और सु प्रत्ययों का लोप (ग्राम तक्षन्)। 'ग्रामकौटाभ्यां०'[७९७] (५.४.९५) से टच् (अ) (ग्राम तक्षन् अ)। 'नस्तद्धिते'[६७१] (६.४.१४४) से टि (अन्) का लोप (ग्राम तक्ष् अ)। 'एकदेश-विकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (ग्रामतक्ष सु)। शेषं पूर्ववत्। ग्रामतक्षः।

कौटतक्षः

लौ० वि०—कौटश्चासौ तक्षा च। अलौ० वि०—कौट सु तक्षन् सु।

'विशेषणं०'[७३६] (२.१.५७) से विशेषण समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (कौट तक्षन्)। 'ग्रामकौटाभ्यां०'[७९७] (५.४.९५) से टच् (अ) (कौट तक्षन् अ)। 'नस्तद्धिते' (६.४.१४४) से टि (अन्) का लोप (कौट तक्ष् अ)। 'एकदेशविकृत-मनन्यवत्'[७१७] इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (कौट तक्ष सु)। शेषं पूर्ववत्। कौटतक्षः।

७९८. अतेः शुनः। (५.४.९६)

अतिश्वो वराहः। अतिश्वी सेवा।

अनु०—'अति' अव्यय से परवर्ती श्वन् शब्द से टच् प्रत्यय होता है। जैसे—अतिश्वः—कुत्ते से तेज भागने वाला। अतिश्वी—नीच सेवा।

रूपसिद्धिः—

अतिश्वः

लौ० वि०—श्वानम् अतिक्रान्तः। अलौ० वि०—अति सु श्वन् अम्। 'अत्यादयः०' (वा० १३३६) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[१५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् सु और अम् प्रत्ययों का लोप (अति श्वन्)। 'अतेः शुनः'[७९८] (५.४.९६) से टच् (अ) (अति श्वन् अ)। 'नस्तद्धिते'[६७१] (६.४.१४४) से टि (अन्) का लोप (अतिश्व अ)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्'०[१८३] (४.१.२) से सु (अतिश्व सु)। शेषं पूर्ववत्। अतिश्वः।

अतिश्वी—स्त्रीलिङ्ग में अतिश्व[1] शब्द से 'टिड्ढाणञ्०'[४७०] (४.१.१५) सूत्र से ङीप् (ई) प्रत्यय (अतिश्व ई)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से अकार लोप (अतिश्वी)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (अतिश्वी सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप (अतिश्वी)।

७९९. उपमानादप्राणिषु (५.४.९७)

अप्राणिविषयकोपमानवाचिनः शुनष्टच्स्यात्। आकर्षः श्वेवाकर्षश्वः। अप्राणिषु किम्—वानरः श्वेव वानरश्वा।

अनु०—अप्राणिविषयक उपमानवाचक श्वन् शब्द से टच् प्रत्यय होता है। आकर्षश्वः—धान्यादि कर्षण के लिए प्रयुक्त लकड़ी का कुत्ता। (सूत्र में) 'अप्राणिषु' क्यों कहा? (इसलिए कि) वानरश्वा—'कुत्ते की तरह बन्दर' यहाँ टच् का निषेध हो।

व्याख्या—अप्राणिषु किमिति। सूत्र में 'प्राणिभिन्न उपमानवाचक श्वन् से' ऐसा कहा गया है। किन्तु जहां उपमानवाचक श्वन् प्राणी होगा वहाँ उक्त सूत्र से टच् प्रत्यय नहीं होगा। जैसे वानरश्वा (बन्दर कुत्ते के समान) वानरः श्वा इव। यहाँ श्वा प्राणिवाचक उपमान है। अतः टच् नहीं हुआ।

रूपसिद्धिः—

आकर्षश्वः

लौ० वि०—आकर्षः श्वा इव। अलौ० वि०—आकर्ष सु श्वन् सु।

---

१. 'अतिश्व' की सिद्धि के लिए द्रष्टव्य ऊपर।

'उपमितं व्याघ्रादिभिः'[७३५] (२.१.५६) इस सूत्र से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (आकर्ष श्वन्)। 'उपमानादप्राणिषु'[७९९] (५.४.९७) से टच् (अ) (आकर्ष श्वन् अ)। 'नस्तद्धिते'[६७१] (६.४.१४४) से टि (अन्) का लोप (आकर्ष श्व् अ)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (आकर्षश्व सु)। शेषं पूर्ववत्। आकर्षश्वः।

८००. उत्तरमृगपूर्वाच्च सक्थ्नः (५.४.९८)

चादुपमानात्। उत्तरसक्थम्। मृगसक्थम्। पूर्वसक्थम्। फलकमिव सक्थि फलकसक्थम्।

अनु०—उत्तर, मृग, पूर्व और उपमान से परवर्ती सक्थि शब्द से टच् प्रत्यय होता है। उत्तरसक्थम्—टांग का ऊपरी भाग। मृगसक्थम्—हिरन की टांग। पूर्वसक्थम्—टांग का निचला भाग। फलकसक्थम्—पटरी के समान टांग।

रूपसिद्धिः—उत्तरसक्थम्

लौ० वि०—उत्तरं सक्थि। अलौ० वि०—उत्तर सु सक्थि सु।

'विशेषणं'[७३६] (२.१.५७) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (उत्तर सक्थि)। 'उत्तरमृग०'[८००] (५.४.९८) से टच् (अ) (उत्तर सक्थि अ)। 'यस्येति च'[६११] (६.४.१४८) से इकार लोप (उत्तर सक्थ् अ)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (उत्तर सक्थ सु)। 'अतोऽम्'[७०९] (७.१.२४) से सु को अम् (उत्तरसक्थ अम्)। 'अमि पूर्वः'[११४] (६.१.१०७) से अम् के अ को पूर्वरूप (उत्तरसक्थम्)।

मृगसक्थम्

लौ० वि०—मृगस्य सक्थि। अलौ० वि०—मृग ङस् सक्थि सु।

'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) से षष्ठी समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् ङस् और सु प्रत्ययों का लोप (मृग सक्थि अ)। 'यस्येति च'[६११] (६.४.१४८) से इकार लोप (मृगसक्थ)। शेषं पूर्ववत्। मृगसक्थम्।

पूर्वसक्थम्

लौ० वि०—पूर्वं सक्थि। अलौ० वि०—पूर्व सु सक्थि सु।

'पूर्वकालैक०'[७२५] (२.१.४९) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (पूर्व सक्थि)। 'उत्तरमृग०'[८००] (५.४.९८) से टच् (अ) (पूर्व सक्थि अ)। 'यस्येति च'[६११] (६.४.१४८) से इकार लोप (पूर्व सक्थ)। शेषं पूर्ववत्। पूर्वसक्थम्।

फलकसक्थम्

लौ० वि०—फलकमिव सक्थि। अलौ० वि०—फलक सु सक्थि सु।

'मयूरव्यंसकादयश्च'[७५४] (२.१.७२) से समास। 'कृत्तद्धित०'[७६९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (फलक सक्थि)। 'उत्तरमृग०'[८००] (५.४.९८) से टच् (अ) (फलक सक्थि अ)। 'यस्येति च'[११९] (६.४.१४८) से इकार लोप (फलकसक्थ)। शेषं पूर्ववत्। फलकसक्थम्।

८०१. नावो द्विगोः (५.४.९९)

नौशब्दान्ताद् द्विगोष्टच्स्यात् न तु तद्धितलुकि। द्वाभ्यां नौभ्यामागतो द्विनावरूप्यः। 'द्विगोर्लुगनपत्ये' (सू० १०८०) इत्यत्र अचि इत्यस्यापकर्षणाद्धलादेर्न लुक्। पञ्चनावप्रियः। द्विनावम्। त्रिनावम्। अतद्धितलुकीति किम्—पञ्चभिर्नौभिः क्रीतः पञ्चनौः।

अनु०—नौ शब्द जिसके अन्त में है उस द्विगु से टच् प्रत्यय होता है; तद्धित प्रत्यय के लोप होने पर नहीं होता। द्विनावरूप्यः—दो नौकाओं से आया हुआ मनुष्य। 'द्विगोर्लुगनपत्ये' (सू० १०८०) में 'अचि' की अनुवृत्ति होने के कारण हलादि तद्धित प्रत्यय होने पर उसका लोप नहीं होता। पञ्चनावप्रियः—जिसे पाँच नाव प्यारी हों। द्विनावम्—दो नौकाएँ। त्रिनावम्—तीन नौकाएँ।

(सूत्र में) 'अतद्धितलुकि' ऐसा क्यों कहा?—(इसलिए कि) पञ्चनौः—पाँच नौकाओं से खरीदा गया। (यहां टच् प्रत्यय का निषेध हो)।

व्याख्या—द्विगोर्लुगनपत्य इति। 'द्विनावरूप्यः' यहां 'द्विगोर्लुगनपत्ये'[८०] (४.१.८८) इस सूत्र से अनपत्यार्थक (अपत्यार्थक से भिन्न) रूप्य प्रत्यय का लोप प्राप्त था किन्तु 'द्विगोर्लुग०'[८०८] (४.१.८८) इस सूत्र में 'गोत्रेऽलुगचि'[८०१] (४.१.८९) इस सूत्र से 'अचि' की अनुवृत्ति होती है। इस अनुवृत्ति से अजादि तद्धित प्रत्यय होने पर ही उसका लोप होता है, हलादि तद्धित प्रत्यय होने पर नहीं। उक्त प्रयोग में 'रूप्य' हलादि प्रत्यय है अतः उसका लोप नहीं हुआ।

अतद्धितलुकीति किम्। 'नावो द्विगोः०'[८०१] (५.४.९९) इस सूत्र में 'अतद्धितलुकि' कहा है। इसका अर्थ है कि 'जहां तद्धित प्रत्यय का लोप नहीं होता' वहां नौ शब्दान्त द्विगु से टच् (अ) प्रत्यय होता है। किन्तु जहां तद्धित प्रत्यय का लोप हो जाता है वहां 'नावो द्विगोः'[८०१] (५.४.९९) इस सूत्र से टच् नहीं होता। जैसे—पञ्चनौः। पञ्चभिर्नौभिः क्रीतः यहां क्रीत अर्थ में ठक् प्रत्यय हुआ है। ठक् तद्धित प्रत्यय है। 'अध्यर्ध०'[११९३] (५.१.२८) सूत्र से ठक् का लोप हो जाता है इसलिए 'टच्' प्रत्यय नहीं हुआ।

रूपसिद्धिः—द्विनावरूप्यः

लौ० वि०—द्वाभ्यां नौभ्याम् आगतः। अलौ० वि०—द्वि भ्याम् नौ भ्याम्।

'द्वाभ्यां नौभ्याम् आगतः' इस अर्थ में 'हेतुमनुष्येभ्यो०'[१४६१] (४.३.८१) सूत्र से रूप्य प्रत्यय (द्वि भ्याम् नौ भ्याम् रूप्य)। 'तद्धितार्थोत्तर०'[७२८] (२.१.५१) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों भ्याम् प्रत्ययों का लोप (द्वि नौ रूप्य)। 'नावो द्विगोः'[८०१] (५.४.९९) से टच् (अ) (द्वि नौ अ रूप्य)। 'एचोऽय०'[६१] (६.१.७८) से 'औ' को 'आव्' (द्वि नाव् अ रूप्य)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (द्विनावरूप्य सु)। शेषं पूर्ववत्। द्विनावरूप्यः।

पञ्चनावप्रियः

लौ० वि०—पञ्च नावः प्रिया अस्य। अलौ० वि०—पञ्चन् जस् नौ जस् प्रिय जस्।

'तद्धितार्थोत्तर०'[७२८] (२.१.५१) से उत्तर पद परे रहते पञ्चन् का 'नौ' के साथ द्विगु समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् तीनों जस् प्रत्ययों का लोप (पञ्चन् नौ प्रिय)। 'नलोपः प्राति०'[२२६] (८.२.७) से पञ्चन् के 'न्' का लोप (पञ्चनौ प्रिय)। 'नावो द्विगोः'[८०१] (५.४.९९) से टच् (अ) (पञ्च नौ अ प्रिय)। 'एचोऽय०'[६१] (६.१.७८) से औ' को 'आव्' आदेश। (पञ्च नाव प्रिय)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (पञ्चनावप्रिय सु)। शेषं पूर्ववत्। पञ्चनावप्रियः।

द्विनावम्

लौ० वि०—द्वयोः नावोः समाहारः। अलौ० वि०—द्वि ओस् नौ ओस्।

'तद्धितार्थोत्तर०'[७२८] (२.१.५१) से समाहार अर्थ में द्विगु समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों ओस् प्रत्ययों का लोप (द्वि नौ)। 'नावो द्विगोः'[८०१] (५.४.९९) से टच् (अ) (द्वि नौ अ) 'एचोऽय०'[६१] (६.१.७८) से 'औ' को 'आव्' आदेश (द्वि नाव् अ)। 'एकदेश-विकृतमनन्यवत्' न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (द्वि नाव सु)। शेषं पूर्ववत्। द्विनावम्।

त्रिनावम्

लौ० वि०—तिसृणां नावां समाहारः। अलौ० वि०—त्रि आम् नौ आम्।

'तद्धितार्थोत्तर०'[७२८] (१.२.४६) से समाहार में द्विगु समास कृत्तद्धित० (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों आम् प्रत्ययों का लोप (त्रि नौ)। 'नावो द्विगोः'[८०१] (५.४.९९) से टच् (अ) (त्रि नौ अ)। 'एचोऽय०'[६१] (६.१.७८) से औ को 'आव्' आदेश (त्रि नाव् अ)। 'एकदेश-

विकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[८१] (४.१.२) से सु (त्रि नाव सु)। शेषं पूर्ववत्। त्रिनावम्।

८०२. अर्धाच्च (५.४.१००)

अर्धान्नावष्टच्स्यात्। नावोऽर्धम् अर्धनावम्। क्लीबत्वं लोकात्।

अनु०—अर्ध शब्द से परे जो नौ शब्द उससे टच् प्रत्यय होता है। नावोऽर्धम् अर्धनावम्—आधी नौका। अर्धनावम् में नपुंसकलिङ्ग व्यवहार में प्रयोग होता है।

व्याख्या—क्लीबत्वमिति। यहां 'अर्धनावम्' में 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः'[८१२] (२.४.२६) इस सूत्र से स्त्रीलिङ्ग प्राप्त था किन्तु व्यवहार में इसका नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग होता है।

रूपसिद्धिः—अर्धनावम्

लौ० वि—नावः अर्धम्। अलौ० वि०—नौ ङस् अर्ध सु।

'अर्धं नपुंसकम्'[७१३] (२.२.२) इस सूत्र से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७१] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् ङस् और सु प्रत्ययों का लोप (नौ अर्ध)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से अर्ध शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से 'अर्ध' शब्द का पूर्व प्रयोग (अर्ध नौ)। 'अर्धाच्च'[८०२] (५.४.१००) से टच् (अ) (अर्ध नौ अ)। 'एचोऽय०'[६१] (६.१.७८) से 'औ' को 'आव्' आदेश (अर्ध नाव् अ)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[८१३] (४.१.२) से सु (अर्ध नाव सु)। शेषं पूर्ववत्। अर्धनावम्। यहां 'परवल्लिङ्गं०'[८१२] (२.४.२६) इस सूत्र से स्त्रीलिङ्ग प्राप्त था किन्तु व्यवहार में इसका नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग होता है अतः यहां नपुंसकलिङ्ग हुआ है।

८०३. खार्याः प्राचाम् (५.४.१०१)

द्विगोरर्धाच्च, खार्याष्टज्वा स्यात्। द्विखारम्—द्विखारि। अर्धखारम्—अर्धखारि।

अनु—खारी शब्दान्त द्विगु से और अर्धपूर्वक खारी शब्दान्त तत्पुरुष से विकल्प से टच् होता है। द्विखारम्–दो दो खारी = ३२ द्रोण। द्विखारि–दो खारी = ३२ द्रोण। अर्धखारम्, अर्धखारि = आधी खारी = ८ द्रोण।

रूपसिद्धिः—द्विखारम्

लौ० वि०—द्वयोः खार्योः समाहारः। अलौ० वि०—द्वि ओस् खारी ओस्।

'तद्धितार्थोत्तर०'[७२८] (२.१.५१) से द्विगु समास। 'कृत्तद्धित०'[१७१] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों ओस् प्रत्ययों का लोप (द्वि खारी)। 'खार्याः प्राचाम्'[८०३] (५.४.१०१) से टच् (अ) (द्वि खारी

अ) । 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से ईकार लोप (द्वि खार् अ) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (द्वि खार सु) । 'स नपुंसकम्'[४३१] (२.४.१७) से नपुंसक । 'अतोऽम्'[३०९] (७.१.२४) से सु को अम् (द्वि खार अम्) । 'अमि पूर्वः'[१९४] (६.१.१०७) से अम् के अ को पूर्वरूप (द्विखारम्) ।

टजभावपक्ष में—**द्विखारि**

जहां टच् नहीं हुआ वहां 'ह्रस्वो नपुंसके०'[३१८] (१.२.४७) से 'ई' को ह्रस्व होने पर द्विखारि । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (द्विखारि सु) । 'स्वमोर्नपुंसकात्'[३१९] (७.१.२३) से सु लोप (द्विखारि) ।

अर्धखारम्

लौ० वि०—खार्या अर्धम् । अलौ० वि०—खारी ङस् अर्ध सु ।

'अर्धं नपुंसकम्'[७१३] (२.२.२) से समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् ङस् और सु प्रत्ययों का लोप (खारी अर्ध) । 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'अर्ध' शब्द की उपसर्जन संज्ञा । 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जन संज्ञक 'अर्ध' शब्द का पूर्व प्रयोग (अर्ध खारी) । 'खार्याः प्राचाम्'[८०३] (५.४.१०१) से टच् (अ) (अर्ध खारी अ) । 'यस्येति च'[३११] (६..४.१४८) से ईकार लोप (अर्ध खार् अ) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (अर्ध खार सु) । शेषं पूर्ववत् । अर्धखारम् ।

टजभावपक्ष में—**अर्धखारि**

जहां टच् नहीं हुआ वहां 'अर्धखारि' । यहाँ 'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४) इस सूत्र से खारी की उपसर्जन संज्ञा नहीं हुई क्योंकि 'एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम्' (वा०'[९६३]) से षष्ठ्यन्त (खारी) की उपसर्जन संज्ञा का निषेध हो जाता है। अतः 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य'[६५६] (१.२.४८) सूत्र से खारी की 'ई' को ह्रस्व प्राप्त नहीं होता। 'ह्रस्वो नपुंसके'[३१८] (१.२.४७) से ह्रस्व होने पर अर्धखारि ।

८०४. द्वित्रिभ्यामञ्जलेः (५.४.१०२)

टज्वा स्याद् द्विगौ । द्वयञ्जलम्, द्वयञ्जलि । अतद्धितलुकीत्येव । द्वाभ्यामञ्जलिभ्यां क्रीतो द्वयञ्जलिः ।

अनु०—द्विगु समास में द्वि अथवा त्रि शब्द के परवर्ती अञ्जलि शब्द से विकल्प से टच् होता है । द्वयञ्जलम्, द्वयञ्जलि—दो अञ्जलि ।

जहां तद्धित प्रत्यय का लोप नहीं होता वहीं टच् होता है । द्वाभ्यामञ्जलिभ्यां क्रीतो द्वयञ्जलिः— दो अञ्जलि प्रमाण ।

व्याख्या—अतद्धितलुकीति । 'द्वित्रिभ्यामञ्जलेः'[८०४] (५.४.१०२) सूत्र में अतद्धितलुकि' की अनुवृत्ति की गई है अर्थात् जहाँ तद्धित प्रत्यय का लोप नहीं होता वहीं टच् होता है। क्योंकि द्वाभ्यामञ्जलिभ्यां क्रीतः—'द्वयञ्जलिः' में क्रीत अर्थ में तद्धित प्रत्यय ठञ् हुआ है। इस ठञ् प्रत्यय का 'अध्यर्ध०'[१६९३] (५.१.२८) से लोप हो जाता है अतः 'द्वयञ्जलिः' में ठञ् प्रत्यय का लोप होने के कारण 'द्वित्रिभ्यामञ्जलेः'[८०४] (५.४.१०२) से टच् नहीं होता।

रूपसिद्धिः—द्वयञ्जलम्

लौ० वि०—द्वयोरञ्जल्योः समाहारः। अलौ० वि०—द्वि ओस् अञ्जलि ओस्।

'तद्धितार्थोत्तरपद०'[७२८] (२.१.५१) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों ओस् प्रत्ययों का लोप (द्वि अञ्जलि)। 'इको यणचि'[४०] (६.१.७७) से 'द्वि' के इ को य् (द्वयञ्जलि)। 'द्वित्रिभ्याम्०'[८०४] (५.४.१०२) से टच् (अ) (द्वयञ्जलि अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से इकार लोप (द्वयञ्जल् अ)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु। शेषं पूर्ववत्। द्वयञ्जलम्।

टजभावपक्ष में—**द्वयञ्जलि**

जहां टच् नहीं हुआ 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (द्वयञ्जलि सु)। 'स्वमोर्नपुंसकात्'[३१९] (७.१.२३) से सु लोप (द्वयञ्जलि)।

८०५. ब्रह्मणो जानपदाख्यायाम् (५.४.१०४)

ब्रह्मान्तात्तत्पुरुषाट्टच्स्यात्समासेन जानपदत्वमाख्यायते चेत्, सुराष्ट्रे ब्रह्मा सुराष्ट्रब्रह्मः।

अनु०—ब्रह्मन् शब्द जिसके अन्त में है उस तत्पुरुष से टच् होता है यदि उस समस्त शब्द से ब्रह्मा का किसी जनपद के साथ सम्बन्ध बोधित होता है। सुराष्ट्रे ब्रह्मा सुराष्ट्रब्रह्मः—सुराष्ट्र का ब्राह्मण।

रूपसिद्धिः—सुराष्ट्रब्रह्मः

लौ० वि०—सुराष्ट्रे ब्रह्मा। अलौ० वि०—सुराष्ट्र ङि ब्रह्मन् सु।

'सप्तमी शौण्डैः'[७१७] (२.१.४०) से सप्तमी' इस योगविभाग के आधार पर सप्तमी तत्पुरुष समास। 'कृत्तद्धित'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् ङि और सु प्रत्ययों का लोप (सुराष्ट्र ब्रह्मन्)। 'ब्रह्मणो०'[८०५] (५.४.१०४) से टच् (अ) (सुराष्ट्र ब्रह्मन् अ)। 'नस्तद्धिते'[६७९]

(६.४.१४४) से टि (अन्) का लोप (सुराष्ट्र ब्रह्म)। 'परवल्लिङ्गं०'[८१२] (२.४.२६) से पुंल्लिङ्ग। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (सुराष्ट्र ब्रह्म सु)। शेषं पूर्ववत्। सुराष्ट्रब्रह्मः।
कुछ व्याख्याकारों ने 'सुराष्ट्स्य ब्रह्मा' विग्रह किया है।

८०६. कुमहद्ब्रुवामन्यतरस्याम् (५.४.१०५)

आभ्यां ब्रह्मणो वा टच्स्यात्तत्पुरुषे। कुत्सितो ब्रह्मा कुब्रह्मः, कुब्रह्मा।

अनु०—तत्पुरुष समास में कु अथवा महत् शब्द के परवर्ती ब्रह्मन् शब्द से विकल्प से टच् होता है। कुत्सितो ब्रह्मा कुब्रह्मः—बुरा ब्राह्मण। कुब्रह्मा—निन्दनीय ब्राह्मण।

रूपसिद्धिः

कुब्रह्मः

लौ० वि०—कुत्सितो ब्रह्मा। अलौ० वि०— कु ब्रह्मन् सु।

'कुगतिप्रादयः'[७६१] (२.२.१८) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् सु प्रत्यय का लोप (कु ब्रह्मन्)। 'कुमहद्ब्रुवाम्०'[८०६] (५.४.१०५) से टच् (अ) (कु ब्रह्मन् अ)। 'नस्तद्धिते'[६७९] (६.४.१४४) से टि (अन्) का लोप (कु ब्रह्म)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (कुब्रह्म सु)। शेषं पूर्ववत्। कुब्रह्मः।

टजभावपक्ष में—**कुब्रह्मा।**

जहाँ टच् नहीं हुआ वहां 'कुब्रह्मन् सु' इस स्थिति में 'सर्वनामस्थाने चास०'[१३५०] (६.४.८) से उपधादीर्घ (कुब्रह्मान् सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[१२५१] (६.१.६८) से सु लोप (कुब्रह्मान्)। 'नलोपः प्राति०'[२३६] (८.२.७) से न् लोप (कुब्रह्मा)।

८०७. आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः (६.३.४६)

**महत आकारोऽन्तादेशः स्यात्समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीये च परे। महाब्रह्मः, महाब्रह्मा। महादेवः। महाजातीयः। समानाधिकरणे किम्—महतः सेवा महत्सेवा। लाक्षणिकं विहाय प्रतिपदोक्तः 'सन्महत्—' (सू० ७४०) इति समासो ग्रहीष्यत इति चेत्, महाबाहुः न स्यात्। तस्मात् 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्य—'(प० ११४) इति परिभाषा नेह प्रवर्तते, समानाधिकरणग्रहणसामर्थ्यात्। 'आत्' इति योगविभागादात्त्वम्, 'प्रागेकादशभ्यः–' (सू० १९९५) इति निर्देशाद्वा एकादश। महतीशब्दस्य 'पुंवत्कर्मधारय–' (सू० ७४६) इति पुंवद्भावे कृते आत्त्वम्, महाजातीया। महत आत्त्वे 'घासकरविशिष्टेषूपसंख्यानं पुंवद्भावश्च' (वा० ३९५०)। असमानाधिकरणार्थमिदम्। महतो महत्या वा घासो महाघासः। महाकरः। महाविशिष्टः। 'अष्टनः कपाले हविषि' (वा० ३९५१) अष्टाकपालः। 'गवि च युक्ते' (वा० ३९५२)। गोशब्दे परे युक्त इत्यर्थे गम्ये अष्टन आत्वं स्यादिति वक्तव्यमित्यर्थः। अष्टागवं शकटम्।

'अच्प्रत्यन्वव–' (सू० ९४३) इत्यत्र 'अच्' इति योगविभागाद्बहुव्रीहावप्यच् । अष्टानां गवां समाहारोऽष्टगवम्, तद्युक्तत्वाच्छकटमष्टागवमिति वा ।

अनु०—महत् शब्द को आकार अन्तादेश हो समानाधिकरण उत्तरपद और जातीय प्रत्यय परे रहते । महाब्रह्मः–प्रेतक्रिया करने वाला ब्राह्मण । महाब्रह्मा—प्रेतक्रिया करने वाला ब्राह्मण । महादेवः—श्रेष्ठ देव, शंकर । महाजातीयः—बड़ों के समान पुरुष । (सूत्र में) 'समानाधिकरणे' ऐसा क्यों कहा ? (इसलिए कि) महतः सेवा महत्सेवा–बड़ों की सेवा (यहाँ समानाधिकरण नहीं है अतः 'महत्' के 'त्' को 'आ' नहीं हुआ है । लाक्षणिक समास को छोड़कर 'सन्महत्०'[७४०] (२.१.६१) सूत्र से प्रतिपदोक्त समास का ग्रहण करते हैं, तो 'महाबाहुः' रूप सिद्ध नहीं होता । इसलिए सूत्र में 'समानाधिकरण' ग्रहण के सामर्थ्य से 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्' यह परिभाषा लागू नहीं होती । 'आत्' इस योगविभाग से अथवा 'प्रागेकादशभ्यः'०[१९५५] (५.३.४९) इस सूत्र के निर्देश से 'एकादश' में एक को आकारान्तादेश हो जाता है । महती शब्द को 'पुंवत्कर्मधारय' ०[७४६] (६.३.४२) से पुंवद्भाव करने पर आत्त्व होता है । महाजातीया—बड़ों के समान स्त्री । 'घास, कर, विशिष्ट—इन शब्दों के परे रहते महत् शब्द को आकारान्तादेश और महती को पुंवद्भाव होता है ।' प्रस्तुत वार्त्तिक असमानाधिकरण क्षेत्र में प्रवृत्त होता है ।

महतो महत्या वा घासो महाघासः—बड़े आदमी की घास । महाकरः—बड़े आदमी का हाथ । महाविशिष्टः—बहुत बड़ा । 'यदि समस्त शब्द हवि अर्थ का बोधक हो तब कपाल शब्द के परे रहते अष्टन् को आकारान्तादेश होता है ।' अष्टाकपालः—आठ सेकोरों में तैयार किया गया पुरोडाश, हवि । यदि समस्त पद 'युक्त' अर्थ का बोधक हो तब गो शब्द के परे रहते अष्टन् को आकारान्तादेश होता है । अष्टागवं शकटम्—आठ बैल वाली गाड़ी । 'अच्प्रत्यन्वव ०[९४३] (५.४.७५) इस सूत्र में 'अच्' इस योग विभाग से बहुव्रीहि समास में भी अच् प्रत्यय होता है । अष्टगवम्—आठ बैल । अष्टागवं शकटम्—आठ बैल वाली गाडी ।

व्याख्या—समानाधिकरणे किमिति । 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः'[८०७] (६.३.४६) इस सूत्र में कहा है कि समानाधिकरण एवं जातीय शब्द के परे रहते महत् के त् को 'आ' होता है । समानाधिकरण में महाब्रह्मः, महादेवः आदि उदाहरण दिये हैं । 'महांश्चासौ ब्रह्मा च' तथा 'महांश्चासौ देवश्च' इन विग्रहों में महान् ब्रह्मा तथा महान् देवः प्रथमा एकवचन के रूप हैं ।

यदि हम उक्त सूत्र से 'समानाधिकरण' पद को हटा देते हैं तब व्यधिकरण में भी अर्थात् जहाँ समस्यमान पदों की विभक्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं वहां भी महत् के त् को आकार हो जाएगा जो कि इष्ट नहीं है । जैसे 'महतः सेवा' इस विग्रह में 'महतः' षष्ठ्यन्त और 'सेवा' प्रथमान्त पद है । दोनों पदों की कारक विभक्तियाँ भिन्न होने पर 'महत्' के त् को 'आ' नहीं हुआ । अतः 'महत्सेवा' रूप होता है । यहां षष्ठी तत्पुरुष समास है ।

लाक्षणिकं विहायेति । 'षष्ठी'७०२ (२.२.८) इस सूत्र से विहित समास 'लाक्षणिक' होता है। जहाँ समस्यमान पद विशेषतया उच्चारित नहीं होता और जहाँ समास विधायक सूत्र सामान्यतया प्रवृत्त होता है उस समास को 'लाक्षणिक' कहते हैं। जैसे 'षष्ठी' ७०२ (२.२.८) यह सूत्र समस्यमान पद का निर्देश नहीं करता किन्तु सामान्य रूप से प्रवृत्त होता है। दूसरी ओर कुछ ऐसे समासविधायक सूत्र भी हैं जो समस्यमान पद का निर्देश करते हैं। जैसे 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः०'७४० (२.१.६१) इस सूत्र में समस्यमान पदों का नामनिर्देश हुआ है। क्योंकि पदों का नामनिर्देश करके समास हुआ है अतः इस समास को प्रतिपदोक्त समास कहते हैं।

महतः सेवा महत्सेवा। यहाँ 'षष्ठी'७०२ (२.२.८) से लाक्षणिक समास हुआ है। 'आन्महतः०'८०७ (६.३.४६) इस सूत्र से महत् के त् को वहीं आकार आदेश होता है जहाँ 'सन्महत्' ०७४० (२.१.६१) से प्रतिपद समास होगा। अतः 'महत्सेवा' में जहाँ लाक्षणिक समास हुआ है 'आन्महतः०'८०७ (६.३.४६) इस सूत्र की प्राप्ति ही सम्भव नहीं। तब प्राप्ति को रोकने के लिए सूत्र में 'समानाधिकरण' शब्द का समावेश व्यर्थ हो जाता है। इस दशा में 'आन्महतो जातीये च' एतावन्मात्र सूत्र ही उचित होगा।

अब क्योंकि पाणिनि ने 'आन्महतः०'८०७ (६.३.४६) इस सूत्र में 'समानाधिकरण' का समावेश किया है इससे ज्ञापित होता है कि इस प्रकरण में 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्' यह परिभाषा लागू नहीं होती। इसका अर्थ यह होगा कि 'आन्महतः०'८०७ (६.३.४६) इस सूत्र से विधीयमान महत् को आकारान्तादेश 'लाक्षणिक' तथा 'प्रतिपदोक्त' इन दोनों समासों में प्राप्त हो सकता है। अतः 'महतः सेवा महत्सेवा' यहाँ 'षष्ठी'७०२ (२.२.८) द्वारा विधीयमान लाक्षणिक समास में भी 'आन्महतः०'८०७ (६.३.४६) इससे महत् को आकारान्तादेश प्राप्त था जिसका सूत्र में 'समानाधिकरण' पद का समावेश करके निषेध किया गया है।

इस प्रकार 'आन्महतः'०८०७ (६.३.४६) सूत्र में समानाधिकरण पद का समावेश ज्ञापित करता है कि यहाँ लक्षणप्रतिपदोक्तयोः यह परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती।

उक्त कथन का समर्थन साहित्य में प्रचलित 'महाबाहुः' शब्द से भी हो जाता है। महान्तौ बाहू यस्य सः इस विग्रह में बहुव्रीहि समास हुआ है। 'अनेकमन्यपदार्थे'८३० (२.२.२४) इस सूत्र से विहित समास लाक्षणिक होगा क्योंकि इस सूत्र में समस्यमान पद का निर्देश नहीं है। इस स्थिति में यदि हम 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्' इस परिभाषा को लागू करते हैं तब 'आन्महतः'०८०७ (६.३.४६) इस सूत्र से महत् को आकारान्तादेश नहीं होगा क्योंकि परिभाषा के अनुसार वह 'सन्महत्०'७४०(२.१.६१) सूत्र से विधीयमान प्रतिपदोक्त समास के क्षेत्र में ही प्रवृत्त हो सकेगा, 'अनेकमन्यपदार्थे'८३० (२.२.२४) इस सूत्र से विधीयमान लाक्षणिक समास के क्षेत्र में नहीं। इस दशा में महान्तौ बाहू यस्य इस विग्रह में महद् बाहुः रूप होना चाहिए। किन्तु साहित्य में 'महाबाहुः' रूप मिलता है। इससे भी स्पष्ट है कि उक्त परिभाषा समास क्षेत्र में प्रवृत्त

नहीं होती। अतः लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त दोनों प्रकार के समासों में 'आन्महतः'०[८०७] (६.३.४६) इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

आत् इति। 'आन्महतः'०[८०७] (६.३.४६) इस सूत्र का योगविभाग किया जाता है। (१) आत् (२) महतः समानाधिकरणजातीययोः। आत्—इस विभाग से 'एकादश' में एक को आकारान्तादेश हो जाता है।

किन्तु सूत्र का उक्त योग विभाग भाष्य में नहीं मिलता। तब हम 'प्रागेकादशभ्यः' इस सूत्र के निर्देश से एकादश में 'आत्त्व' का समाधान कर सकते हैं। क्योंकि पाणिनि ने 'एकादश' पद का प्रयोग किया है, इसी आधार पर एकादश के आत्त्व की साधुता सिद्ध हो जाती है।

महतीशब्दस्येति। 'महती' को पुंवद्भाव करने पर ही 'आन्महतः'०[८०७] (६.३.४६) यह सूत्र प्रवृत्त हो सकता है क्योंकि 'आन्महतः'०[८०७] (६.३.४६) इस सूत्र में स्थित प्रातिपदिक महत् शब्द से स्त्री वाचक 'महती' पद का बोध नहीं हो सकता। पहले कहा गया है कि इस प्रकरण में 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती। अतः 'महाजातीया' पद की रचना के लिए पहले 'महती' को 'महत्' (पुंवद्भाव) करना होगा।

रूपसिद्धिः

महाब्रह्मः

लौ०वि०—महाँश्चासौ ब्रह्मा च।

अलौ० वि०—महत् सु ब्रह्मन् सु।

'सन्महत्०'[७४०] (२.१.६१) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (महत् ब्रह्मन्)। 'आन्महतः०'[८०७] (६.३.४६) से महत् के 'त्' को 'आ' (मह आ ब्रह्मन्)। 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (महा ब्रह्मन्)। 'कुमहद्०'[८०६] (५.४.१०५) से टच् (अ) (महा ब्रह्मन् अ)। 'नस्तद्धिते'[६७९] (६.४.१४४) से टि (अन्) का लोप (महा ब्रह्म् अ)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (महाब्रह्म सु)। शेषं पूर्ववत्। महाब्रह्मः।

टजभावपक्ष में—**महाब्रह्मा**

जहाँ टच् नहीं हुआ वहां 'महाब्रह्मन् सु' इस स्थिति में 'सर्वनामस्थाने चासं०'[२५०] (६.४.८) से उपधादीर्घ (महाब्रह्मान् सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[७५२] (६.१.६८) से सु लोप (महाब्रह्मान्)। 'नलोपः प्राति०'[३३९] (८.२.७) से न् लोप (महाब्रह्मा)।

महादेवः

लौ० वि०—महांश्चासौ देवश्च। अलौ० वि०—महत् सु देव सु।

'सन्महत्०'[७४०] (२.१.६१) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (महत् देव)।

'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'महत्' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'महत्' का पूर्व प्रयोग (महत् देव)। 'आन्महतः०'[८०७] (६.३.४६) से महत् के त् को आ (मह आ देव)। 'अकः सवर्णे०'[८७५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (महा देव)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (महादेव सु)। शेषं पूर्ववत्। महादेवः।

महाजातीयः

लौ० वि०—महांश्चासौ जातीयश्च। अलौ० वि०—महत् सु जातीय सु।

'प्रकारवचने जातीयर्'[२०२४] (५.३.६९) से जातीयर् प्रत्यय (महत् जातीयर्)। 'सन्महत्०'[७४०] (२.१.६१) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिकसंज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (महत् जातीय)। 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से 'महत्' की उपसर्जन संज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से उपसर्जनसंज्ञक 'महत्' का पूर्व प्रयोग (महत् जातीय)। 'आन्महतः०'[८०७] (६.३.४६) से महत् के त् को आ (मह आ जातीय)। 'अकः सवर्णे०'[८७५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (महा जातीय)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (महा जातीय सु)। शेषं पूर्ववत्। महाजातीयः।'

एकादश

लौ० वि०—एकश्च दश च। अलौ० वि०—एक सु दशन् सु।

'चार्थे द्वन्द्वः'[९०१] (२.२.२९) से द्वन्द्व समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् लोप। 'आन्महतः०'[८०७] (६.३.४६) सूत्र के योग-विभाग से एक को आकारान्तादेश अथवा 'प्रागेकादशभ्यः'०[१९९५] (५.३.४९) सूत्र के निर्देश से आकारान्तादेश (एकादशन्)। शेषं पूर्ववत्। एकादश।

महाजातीया—'महत्याः प्रकार इव प्रकारो यस्याः' इस विग्रह में महती शब्द से 'प्रकारवचने जातीयर्'[२०२४] (५.३.६९) सूत्र से स्वार्थ में जातीयर् प्रत्यय (महती जातीय)। 'पुंवत् कर्मधारय०'[६४६] (६.३.४२) से महती को महत् (महत् जातीय)। 'आन्महतः'०[८०७] (६.३.४६) से महत् को आकारान्तादेश (मह आ जातीय) सवर्णदीर्घ (महा जातीय)। 'अजाद्यतष्टाप्'[४५४] (४.१.४) से टाप् (आ) (महाजातीय आ)। 'अकः सवर्णे०'[८७५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (महाजातीया)। शेषं पूर्ववत्। महाजातीया।

महाघासः—महतो घासः। अथवा महत्या घासः।

महाकरः—महतः करः। अथवा महत्याः करः।

महाविशिष्टः—महतो विशिष्टः। अथवा महत्या विशिष्टः।

उक्त तीनों समस्त पदों में स्त्रीवाचक महती पद को पुंवद्भाव होने के अनन्तर ही आकारान्तादेश होता है।

अष्टाकपाल :

लौ० वि०—अष्टसु कपालेषु संस्कृतः । अलौ० वि०—अष्टन् सुप् कपाल सुप् ।

'संस्कृतं भक्षाः'[१२१७] (४.२.१६) से अण् (अष्टन् कपाल अण्) । 'तद्धितार्थोत्तर'०[७२८] (२.१.५१) से द्विगु समास । 'द्विगोर्लुगनपत्ये'[१०८०] (४.१.८८) से अण् का लोप (अष्टन् कपाल) । 'अष्टनः कपाले०' (वा० ३९५१) से अष्टन् को आकारान्तादेश (अष्ट आ कपाल) (अष्टाकपाल) । सवर्णदीर्घ । शेषं पूर्ववत् । अष्टाकपालः ।

अष्टागवम्

लौ० वि०—अष्टौ गावो यस्य । अलौ० वि०—अष्टन् औ गो औ ।

'शषो बहुव्रीहिः'[८२९] (२.२.२३) से बहुव्रीहि समास । 'अच् प्रत्यन्व०'[९४३] (५.४.७५) सूत्र में अच् के योग विभाग से अच् (अष्टन् गो अच्) । 'गवि च युक्ते' (वा० ३९५२) से अष्टन् को आकारान्तादेश (अष्ट आ गो अ) । 'अकः सवर्णे०'[५५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (अष्टा गो अ) । 'एचोऽय०'[६१] (६.१.७८) से अवादेश (अष्टागव) । शेषं पूर्ववत् । अष्टागवम् । अथवा 'अष्टानां गवां समाहारः' इस विग्रह में 'तद्धितार्थोत्तर'०[७२८] (२.१.५१) से समाहार द्विगु रूप तत्पुरुष समास । 'गोरतद्धित०'[७२९] (५.४.९२) से टच् । अवादेश । अष्टगव । 'गवि च युक्ते' (वा० ३९५२) से आकारान्तादेश होकर नपुंसकलिङ्ग के प्रथमा एकवचन में अष्टागवम् ।

८०८. द्वयष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः (६.३.४७)

आत् स्यात् । द्वौ च दश च द्वादश, द्व्यधिका दश इति वा । द्वाविंशतिः । अष्टादश । अष्टाविंशतिः । 'अबहुव्रीह्यशीत्योः किम्—द्विव्राः । द्व्यशीतिः । 'प्राक्शतादिति वक्तव्यम्' (वा० ३९५३) नेह—द्विशतम् । द्विसहस्रम् ।

अनु०—द्वि और अष्टन् शब्द को आकार अन्तादेश होता है संख्या अर्थ में किन्तु बहुव्रीहि समास में और अशीति शब्द परे रहते नहीं होता । द्वादश—बारह अथवा दो अधिक दस । द्वाविंशतिः—बाईस । अष्टादश—अट्ठारह । अष्टाविंशतिः—अट्ठाईस । (सूत्र में) 'अबहुव्रीह्यशीत्योः' ऐसा क्यों कहा ? द्विव्राः—दो या तीन । द्व्यशीतिः—बयासी । (यहाँ द्वि शब्द को आकार अन्तादेश न हो) । सूत्र में 'प्राक्शतात्' ऐसा कहना चाहिए । द्विशतम्—एक सौ दो । द्विसहस्रम्—एक हजार दो । यहाँ द्वि को आकार अन्तादेश नहीं होता ।

व्याख्या—अबहुव्रीह्यशीत्योः किमिति । 'द्व्यष्टनः'०[८०८] (६.३.४७) सूत्र में कहा गया है कि संख्यावाचक शब्द के परे रहते द्वि और अष्टन् शब्द को आकार अन्तादेश होता है किन्तु बहुव्रीहि समास में अथवा अशीति शब्द के परे रहते नहीं होता । द्विव्राः यहाँ 'द्वौ वा त्रयो वा' इस विग्रह में 'संख्याव्यय०'[८४३] (२.२.२५) सूत्र से बहुव्रीहि

समास हुआ है। अतः यहाँ 'द्वयष्टनः०'[८०८] (६.३.४७) से द्वि को आकारान्तादेश नहीं होता।

इसी प्रकार द्वौ चाशीतिश्च अथवा द्वयधिका अशीतिः इस विग्रह में 'द्वयष्टनः०'[८०८] (६.३.४७) सूत्र से द्वि शब्द को आकारान्तादेश नहीं हुआ क्योंकि यहाँ द्वि शब्द के परे अशीति शब्द पड़ा है। प्राक्शतादिति। 'द्वयष्टनः०'[८०८] (६.३.४७) सूत्र में कहा गया है कि संख्यावाचक शब्द के परे रहते द्वि और अष्टन् को आकारान्तादेश होता है। यह संख्या सौ के बीच की होनी चाहिए। सौ अथवा सौ से अधिक होने पर द्वि और अष्टन् को आकारान्तादेश नहीं होता। जैसे—'द्वौ च शतं च' इस समाहार द्वन्द्व में अथवा द्वयधिकं शतम् इस मध्यमपदलोपि कर्मधारय समास में 'द्विशतम्' रूप बनेगा। इसी प्रकार द्वौ च सहस्रं च इस समाहार द्वन्द्व में अथवा द्वयधिकं सहस्रं इस मध्यमपदलोपि कर्मधारय में 'द्विसहस्रम्'।

रूपसिद्धिः

द्वादश

लौ० वि०—द्वौ च दश च अथवा द्वयधिका दश। अलौ० वि०—द्वि औ दशन् सु।

'द्वौ च दश च' इस विग्रह में 'चार्थे द्वन्द्वः'[९०१] (२.२.२९) से द्वि और दशन् का द्वन्द्व समास। 'द्वयधिका दश' इस विग्रह में 'शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोप-स्योपसंख्यानम्' (वा० १३१०) से अथवा 'सिद्धं तु अधिकान्ता०' वार्त्तिक से समास और अधिक शब्द का लोप। 'कृत्तद्धित'०[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु'०[६५०] (२.४.७१) से सुप् (औ और सु प्रत्ययों) का लोप (द्वि दशन्)। 'द्वयष्टनः'०[८०८] (६.३.४७) से द्वि को आकार अन्तादेश (द्वा दशन्)। 'एकदेशविकृत-मनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (द्वादशन् सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप (द्वा दशन्)। 'नलोपः०'[२२६] (८.२.७) से न् लोप (द्वादश)।

द्वाविंशतिः

लौ० वि०—द्वौ च विंशतिश्च। अलौ० वि०—द्वि औ विंशति सु।

'चार्थे द्वन्द्वः'[९०१] (२.२.२९) से समाहार द्वन्द्व समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (औ और सु) का लोप (द्वि विंशति)। 'द्वयष्टनः०'[८०८] (६.३.४७) से द्वि को आकार अन्तादेश (द्वा विंशति)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२.) से सु (द्वा विंशति सु)। शेषं पूर्ववत्। द्वाविंशतिः।

अष्टादश

लौ०वि०—अष्टौ च दश च। अलौ० वि०—अष्टन् औ दशन् सु।

'चार्थे द्वन्द्वः'[१०१] (२.२.२९) से द्वन्द्व समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (औ और सु) का लोप (अष्टन् दशन्)। 'ट्वचष्टनः०'[८०८] (६.३.४७) से अष्टन् को आकार अन्तादेश (अष्ट आ दशन्)। 'अकः सवर्णे'[८१] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (अष्टादशन्)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (अष्टादशन् सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[७५२] (६.१.६८) से सु लोप (अष्टादशन्)। 'नलोपः०'[२२६] (८.२.७) से न् लोप (अष्टादश)।

अष्टाविंशतिः

लौ० वि०—अष्टौ च विंशतिश्च। अलौ० वि०—अष्टन् सु विंशति सु।

'चार्थे द्वन्द्वः'[१०१] (२.२.२९) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (अष्टन् विंशति)। 'ट्वचष्टनः०'[८०८] (६.३.४७) से अष्टन् को आकारान्तादेश (अष्ट आ विंशति)। 'अकः सवर्णे०'[८१] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (अष्टा विंशति)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (अष्टा विंशति सु) शेषं पूर्ववत्। अष्टाविंशतिः।

८०९. त्रेस्त्रयः (६.३.४८)

त्रिशब्दस्य त्रयस् स्यात् पूर्वविषये। त्रयोदश। त्रयोविंशतिः। बहुव्रीहौ तु त्रिदंश त्रिदशाः। सुजर्थे बहुव्रीहिः। अशीतौ त्र्यशीतिः। प्राक्शतादित्येव, त्रिशतम्। त्रिसहस्रम्।

अनु०—सौ के बीच का संख्या वाचक पद यदि परे हो तो त्रि को त्रयस् आदेश होता है। त्रयोदश—तेरह। त्रयोविंशतिः—तेईस। बहुव्रीहि समास में—त्रिदंश, त्रिदशाः—तीन से गुणित दस।

अशीति शब्द परे रहते—त्र्यशीतिः—तिरासी। शत एवं शतपूर्ववर्ती संख्या के वाचकपद होने पर ही (त्रि को त्रयस् आदेश होता है)। इसीलिए त्रिशतम्—एक सौ तीन। त्रिसहस्रम्—एक हजार तीन। इन शब्दों में त्रि को त्रयस् आदेश नहीं हुआ।

व्याख्या—बहुव्रीहौ त्विति। बहुव्रीहि समास में त्रि को त्रयस् आदेश नहीं होता तीन से गुणित दश=तीस इस अर्थ में त्रिदशाः। 'बहुव्रीहौ संख्येये०'[८५१] (५.४.७३) से त्रिदशन् शब्द से डच् प्रत्यय होकर प्रथमा बहुवचन में त्रिदशाः रूप सिद्ध होता है। यहाँ बहुव्रीहि समास में त्रि को त्रयस् आदेश नहीं होता। इसी प्रकार त्र्यशीतिः। त्रयश्च अशीतिश्च इस समाहार द्वन्द्व में अथवा त्र्यधिकाऽशीतिः इस मध्यमपदलोपि समास में अशीति शब्द परे रहते त्रि शब्द को त्रयस् आदेश नहीं हुआ।

प्राक्छतादिति। 'त्रेस्त्रयः'[८०९] (६.३.४८) इस सूत्र के साथ भी 'प्राक्शतादिति **वक्तव्यम्**' (वा० ३९५३) इस वार्त्तिक का सम्बन्ध जोड़ना चाहिए। अतएव शत एवं

शतपरवर्ती संख्या के त्रिशतम्, त्रिसहस्रम् इन प्रयोगों में 'त्रि' को 'त्रयस्' अन्तादेश नहीं हुआ है।

रूपसिद्धिः—त्रयोदश

लौ० वि—त्रयश्च दश च अथवा त्र्यधिका दश। अलौ० वि०—त्रि जस् दशन् जस्।

'चार्थे द्वन्द्वः'[१०१] (२.२.२९) से समास। 'त्र्यधिका दश' इस विग्रह में 'शाकपार्थिवादीनां सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्' (वा० १३१०) से अथवा 'सिद्धं त्वधिकान्ता०' वार्त्तिक से समास और अधिक शब्द का लोप। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों जस् प्रत्ययों) का लोप (त्रि दशन्)। 'त्रेस्त्रयः'[८०९] (६.३.४८) से त्रि को त्रयस् आदेश (त्रयस् दशन्)। 'ससजुषो रुः'[१६२] (८.२.६६) से स् को रु (त्रय रु दशन्)। 'हशि च'[१६६] (६.१.१४४) से 'रु' को 'उ' (त्रय उ दशन्)। 'आद्गुणः'[६९] (६.१.८७)से गुण (त्रयोदशन्)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (त्रयोदशन् सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप (त्रयोदशन्)। 'नलोपः०'[२२६] (८.२.७)से न् लोप (त्रयोदश)।

त्रयोविंशतिः

लौ० वि०—त्रयश्च विंशतिश्च अथवा त्र्यधिका विंशतिः। अलौ० वि०—त्रि जस् विंशति सु।

'चार्थे द्वन्द्वः ०'[१०१] (२.२.२९) से समास। 'त्र्यधिका विंशतिः' इस विग्रह में 'शाकपार्थिवादीनां सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्' (वा० १३१०) से अथवा 'सिद्धं त्वधिकान्ता' वार्त्तिक से समास और अधिक शब्द का लोप। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (जस् और सु प्रत्ययों) का लोप (त्रि विंशति)। 'त्रेस्त्रयः'[८०९] (६.३.४८) से त्रि को त्रयस् आदेश (त्रयस् विंशति)। 'ससजुषो रुः'[१६२] (८.२.६६) से स् को रु (त्रय रु विंशति)। 'हशि च'[१६६] (६.१.११४) से रु को उ (त्रय उ विंशति)। 'आद्गुणः'[६९] (६.१.८७) से गुण (त्रयो विंशति)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८३] (४.१.२) से सु (त्रयोविंशति सु)। शेषं पूर्ववत्। त्रयोविंशतिः।

८१०. विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम् (६.३.४९)

द्व्यष्टनोस्त्रेश्च प्रागुक्तं वा स्यात् चत्वारिंशदादौ परे। द्विचत्वारिंशत्, द्वाचत्वारिंशत्। अष्टचत्वारिंशत् अष्टाचत्वारिंशत्। त्रिचत्वारिंशत् त्रयश्चत्वारिंशत। एवं पञ्चाशत्षष्टिसप्ततिनवतिषु।

अनु०—द्वि और अष्टन् को आकारान्तादेश और त्रि को त्रयस् आदेश विकल्प से होता है यदि उत्तरपद में चत्वारिंशत् अथवा उसके बाद की संख्या हो। (जैसे–) द्विचत्वारिंशत् द्वाचत्वारिंशत्—बयालीस। अष्टचत्वारिंशत्, अष्टाचत्वारिंशत्—अड़तालीस। त्रिचत्वारिंशत्, त्रयश्चत्वारिंशत्—तैंतालीस। इसी प्रकार पञ्चाशत् षष्टि सप्तति, नवति शब्दों के परे रहते द्वि और अष्टन् को आकारान्तादेश और त्रि को त्रयस् आदेश विकल्प से होता है।

८११. एकादिश्चैकस्य चादुक् (६.३.७६)

एकादिर्नञ्प्रकृत्या स्यादेकस्य चादुगागमश्च। नञो विंशत्या सह समासे कृते एकशब्देन सह 'तृतीया' इति योगविभागात्समासः। अनुनासिकविकल्पः। एकेन न विंशतिः एकान्नविंशतिः—एकादनविंशतिः। एकोनविंशतिरित्यर्थः। 'षष उत्वं दतृदशधासूत्तर-पदादेष्टुत्वं च धासु वेति वाच्यम्' (वा० ४००१—४००२)। षोडन्, षोडश, षड्धा, षोढा।

अनु०—एक शब्द के पश्चात् यदि नञ् आता है तब एक को अदुक् अथवा आदुक् आगम होता है। नञ् का विंशति के साथ समास करने पर (नविंशति का) एक शब्द के साथ 'तृतीया' इस योगविभाग से समास हुआ है। ('यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' सूत्र से) विकल्प से अनुनासिक का विधान है। एकान्नविंशतिः, एकादनविंशतिः एकोनविंशतिः—उन्नीस।

दतृ व दशन् शब्द यदि उत्तरपद में हो अथवा धा प्रत्यय परे हो तब षष् शब्द को उत्व होता है और उत्तरखण्ड के दतृ व दशन् शब्द के एवं धा प्रत्यय के आदि दकार व धकार को टुत्व (ड् व ढ्) होता है। किन्तु धकार को जो ढकार होता है वह विकल्प से होता है। षोडन्—जिसके छः दांत हों। षोडश—सोलह। षड्धा—छः प्रकार का या छः प्रकार से। षोढा—छः प्रकार का या छः प्रकार से।

व्याख्या—नञ इति। नञ् का विंशति के साथ नञ् समास होने पर नविंशतिः रूप बनता है। इस 'नविंशति' का एक शब्द के साथ समास 'तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन'[६६२] (२.१.३०) इस सूत्र में 'तृतीया' पद के योग विभाग से हुआ है।

रूपसिद्धिः—एकान्नविंशतिः।

लौ० वि०—एकेन नविंशतिः। अलौ० वि०—एक टा न विंशति सु।

'नञ्'[७५६] (२.२.६) से 'नञ्' का 'विंशति' के साथ समास (न विंशतिः = नविंशतिः)। 'तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन'[६६२] (२.१.३०) सूत्र में 'तृतीया' इस पद के योगविभाग से तृतीयान्त एक शब्द का विंशति पद के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[७०९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (टा और सु) का लोप (एक नविंशति)। इस स्थिति में 'नलोपो नञः'[७५७] (६.३.७३) इस सूत्र से न का

लोप प्राप्त था किन्तु 'एकादिश्चैकस्य चादुक्'[८११] (६.३.७६) से लोप का निषेध एवं एक को आदुक् (आत्) का आगम (एक आत्नविंशति)। 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (एकात् नविंशति)। 'झलां जशोऽन्ते'[८४] (८.२.३९) से त् को द् (एकाद् नविंशति)। 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा'[११६] (८.४.४५) से द् को वैकल्पिक न् (एकान्नविंशति)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिकसंज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (एकान्नविंशति सु)। शेषं पूर्ववत्। एकान्नविंशतिः।

षोडन्

लौ०वि०—षट् दन्ता यस्य। अलौ०वि०—षष् जस् दन्त जस्।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों जस् प्रत्ययों) का लोप (षष् दन्त)। 'वयसि दन्तस्य दतृ'[८८०] (५.४.१४१) से दन्त को दतृ आदेश (षष् दत्)। 'षष उत्त्वं०' (वा० ४००१–४००२) से अन्त्य ष् को उत्व (ष उ दत्)। 'आद्गुणः'[९९] (६.१.८७) से गुण (षोदत्)। 'षष उत्त्वं०' (वा० ४००१–४००२) से द् को ड् (षोडत्)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (षोडत् सु)। 'उगिदचाम्०'[३६१] (७.१.७०) से नुम् (न्) (षोडन् त् सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप (षोडन् त्)। 'संयोगान्तस्य०'[५४] (८.२.२३) से त् का लोप (षोडन्)।

षोडश

लौ०वि०—षट् च दश च। अलौ० वि०—षष् जस् दशन् जस्।

'चार्थे द्वन्द्वः'[९०१] (२.२.२९) से द्वन्द्व समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों जस् प्रत्ययों) का लोप (षष् दशन्)। 'षष उत्त्वं०' (वा० ४००१–४००२) से अन्त्य ष् को उत्व (ष उ दशन्)। 'आद्गुणः'[९९] (६.१.८७) से गुण (षोदशन्)। 'षष उत्त्वं०' (वा० ४००१–४००२) से द् को ड् (षोडशन्)। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। 'स्वौजसमौट्०'[१८१] (४.१.२) से सु (षोडशन् सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप (षोडशन्)। 'नलोपः'[२२६] (८.२.७) से न् लोप (षोडश)।

षड्धा, षोढा

'संख्याया विधार्थे०'[११८८] (५.३.४२) से षष् से धा प्रत्यय (षष् धा)। 'षष् उत्त्वं०' (वा० ४००१–४००२) से जहाँ 'ष्' को 'उ' नहीं हुआ वहाँ ध् को ढ् भी नहीं होता। 'झलां जशो०'[८४] (८.२.३९) से ष् को ड् होकर षड्धा। किन्तु जहाँ 'षष उत्वं०' (वा० ४००१–४००२) से 'ष्' को 'उ' होता है वहाँ इसी वार्त्तिक से ध् को ढ् भी हो जाता है। षोढा।

८१२. परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः (२.४.२६)

एतयोः परपदस्येव लिङ्गं स्यात् । कुक्कुटमयूर्याविमे । मयूरीकुक्कुटाविमौ । अर्धपिप्पली । 'द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः' (वा० १५४५) पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः पुरोडाशः । प्राप्तो जीविकां प्राप्तजीविकः । आपन्नजीविकः अलं कुमार्यै अलंकुमारिः । अत एव ज्ञापकात्समासः । निष्कौशाम्बिः ।

अनु०—द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में पर (अन्तिम) शब्द के समान लिङ्ग होता है । कुक्कुटमयूर्याविमे—ये मुर्गा और मोरनी हैं । मयूरीकुक्कुटाविमौ—ये मोरनी और मुर्गा हैं । अर्धपिप्पली—पीपर का आधा भाग ।

'द्विगु समास, प्राप्त, आपन्न और अलंपूर्वक समास तथा गति (प्रादि) समास में पर (अन्तिम) शब्द के समान लिङ्ग न हो ।' पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः—पांच सकोरों में पकाया गया पुरोडाश (हवि) । प्राप्तो जीविकां प्राप्तजीविकः—जीविका को प्राप्त । आपन्नजीविकः—जीविका को प्राप्त । अलं कुमार्यै अलंकुमारिः—कुमारी के लिए उपयुक्त वर । (अलंपूर्वक समास में परवल्लिङ्ग का निषेध) सिद्ध करता है कि अलं का समास होता है । निष्कौशाम्बिः—कौशाम्बी (कोसम) से बाहर गया हुआ ।

व्याख्या—'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः'[८१२] (२.४.२६) सूत्र परवल्लिङ्ग का विधान करता है ।

समस्त पद के लिङ्ग के विषय में सन्देह हो सकता है कि पूर्वपद के अनुसार लिङ्ग हो अथवा उत्तरपद के अनुसार । इस सन्देह की निवृत्ति के लिए परवल्लिङ्ग का विधान है ।

कुक्कुटमयूर्यौ (इमे) । कुक्कुटश्च मयूरी च । यहाँ द्वन्द्व समास है, परवर्ती पद मयूरी है । उसी के समान समस्त पद से भी स्त्रीलिङ्ग हुआ है ।

'इमे' इस सर्वनाम का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग को स्पष्ट करने के लिए किया गया है । अन्यथा "कुक्कुटमयूर्यौ" कहने मात्र से यह सिद्ध नहीं होता कि यह स्त्रीलिङ्ग है, क्योंकि यह समस्त पद पुंल्लिङ्ग हो तब भी इसी प्रकार रूप बनता । इसलिए स्त्रीलिङ्ग सर्वनाम पद 'इमे' का प्रयोग करना सफल है । मयूरीकुक्कुटौ (इमौ) । यहाँ अन्त्य पद कुक्कुट पुंल्लिङ्ग है । द्वन्द्व समास होने से समस्त पद पुंल्लिङ्ग हुआ है । 'इमौ' इस सर्वनाम का प्रयोग स्पष्टता के लिए किया गया है ।

अर्धपिप्पली । अर्धं पिप्पल्याः । यहाँ 'अर्धं नपुंसकम्'[७१३] (२.२.२) सूत्र से तत्पुरुष समास होने पर समस्त पद 'परवल्लिङ्गं०'[८१२] (२.४.२६) सूत्र से अन्तिम पद पिप्पली के समान स्त्रीलिङ्ग हुआ ।

'द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः' (वा० १५४५) से 'परवल्लिङ्गं०'[८१२] (२.४.२६) इस सूत्र से प्राप्त परवल्लिङ्गता का निषेध किया गया

है। पञ्चकपालः। पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः। यहाँ 'तद्धितार्थोत्तर०'[७२८] (२.१.५१) से तद्धितार्थ में द्विगु समास हुआ है। अन्तिम पद कपाल नपुंसक लिङ्ग है। अतः 'परवल्लिङ्गं०'[८१२] (२.४.२६) इस सूत्र से समस्त पद को नपुंसक लिङ्ग में होना चाहिए था। किन्तु 'द्विगुप्राप्ता०' (वा० १५४५) इस वार्त्तिक से उसका निषेध हुआ है। प्राप्तजीविकः। प्राप्तो जीविकाम्। यहाँ 'प्राप्तापन्ने च द्वितीयया'[७१५] (२.२.४) से तत्पुरुष समास हुआ। विग्रह में नियतविभक्तिक होने से जीविका शब्द की 'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४) सूत्र से उपसर्जन संज्ञा हुई। 'गोस्त्रियो०'[६५६] (१.२.४८) से जीविका को ह्रस्व अन्तादेश। 'परवल्लिङ्गं०'[८१२] (२.४.२६) से अन्तिम पद जीविका के समान समस्त पद से स्त्रीलिङ्ग प्राप्त था। 'द्विगुप्राप्ता०' (वा० १५४५) वार्त्तिक से उसका निषेध हुआ है।

आपन्नजीविकः। आपन्नो जीविकाम्। यहाँ भी 'परवल्लिङ्गं०'[८१२] (२.४.२६) से अन्तिम पद जीविका के लिङ्गानुसार समस्त पद को स्त्रीलिङ्ग प्राप्त था। उसका निषेध 'द्विगुप्राप्ता०' (वा० १५४५) वार्त्तिक से हुआ है। अलंकुमारिः। अलंकुमार्यै। यहाँ अन्तिम पद कुमारी स्त्रीलिङ्ग है। यहाँ भी 'परवल्लिङ्गं०'[८१२] (२.४.२६) से समस्त पद को स्त्रीलिङ्ग प्राप्त था। 'द्विगुप्राप्ता०' (वा० १५४५) से निषेध हुआ है।

अतएवेति। अलंपूर्वक समास में परशब्द के लिङ्ग का निषेध करना ही सिद्ध करता है कि अलं का समास होता है। अतः इसी प्रमाण से 'अलंकुमारिः' में समास हुआ है।

निष्कौशाम्बिः। 'द्विगुप्राप्ता०' (वा० १५४५) इस वार्त्तिक में 'गति' की भी परवल्लिङ्गता का निषेध किया गया है। यहाँ गति से प्रादि का अभिप्राय है। "निष्कौशाम्बिः" यह प्रादि समास का उदाहरण है।

उक्त उदाहरण में भी अन्तिम पद कौशाम्बीः स्त्रीलिङ्ग है। 'परवल्लिङ्गं०'[८१२] (२.४.२६) इस सूत्र के अनुसार समस्त पद भी स्त्रीवाचक होना चाहिए था। किन्तु 'द्विगुप्राप्ता०' (वा० १५४५) वार्त्तिक से निषेध होने पर विशेष्य के अनुसार पुंल्लिङ्ग हुआ है।

८१३. पूर्ववदश्ववडवौ (२.४.२७)

द्विवचनमतन्त्रम्। अश्ववडवौ। अश्ववडवान्। अश्ववडवैः।

अनु०—अश्व और वडवा इन दो पदों के समास में जो लिङ्ग पूर्वपद का होता है वही समस्त पद का होगा। अश्ववडवौ—घोड़ा और घोड़ी। अश्ववडवान्—घोड़ा और घोड़ियों को। अश्ववडवैः—घोड़ा और घोड़ियों से।

व्याख्या—'पूर्ववदश्ववडवौ'[८१३] (२.४.२७) यह सूत्र 'परवल्लिङ्गं०'[८१२] (२.४.२६) इस सूत्र से प्राप्त द्वन्द्व समास में परवल्लिङ्गता को बाधित करके पूर्ववल्लिङ्गता का विधान करता है।

अश्ववडवौ । अश्वश्च वडवा च । इस विग्रह में द्वन्द्व समास हुआ । 'परवल्लिङ्ग०'[८१३] (२.४.२६) इस सूत्र से स्त्रीवाचक वडवा के अनुसार समस्त पद का लिङ्ग भी स्त्रीलिङ्ग होना चाहिए था । किन्तु 'पूर्ववदश्ववडवौ'[८१२] (२.४.२७) इस सूत्र से पुंवाचक पूर्वपद 'अश्व' के समान हुआ है ।

द्विवचनमतन्त्रम् । 'पूर्ववदश्ववडवौ'[८१२] (२.४.२७) इस सूत्र में 'अश्ववडवौ' द्विवचनान्त प्रयोग है । किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि द्विवचन में ही यह सूत्र प्रवृत्त होता है । 'अश्ववडवान्' और 'अश्ववडवैः' आदि बहुवचनान्त प्रयोगों में भी हम पूर्ववल्लिङ्गता के नियम को प्रयुक्त हुआ पाते हैं ।

८१४. रात्राह्नाहाः पुंसि (२.४.२९)

एतदन्तौ द्वन्द्वतत्पुरुषौ पुंस्येव । अनन्तरत्वात्परवल्लिङ्गतापवादोऽप्ययं परत्वात्समाहारनपुंसकतां बाधते । अहोरात्रः । रात्रेः पूर्वभागः पूर्वरात्रः । पूर्वाह्णः । द्व्यहः । 'संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम्' (लि १३१) । द्विरात्रम्, त्रिरात्रम्, गणरात्रम् ।

अनु०—रात्र, अह्न व अहशब्दान्त द्वन्द्व और तत्पुरुष समास पुंल्लिङ्ग में ही हों । अनन्तरत्व के कारण परवल्लिङ्गता का अपवाद होने पर भी यह सूत्र परत्व के कारण समाहार में नपुंसक लिङ्ग का बाधक होता है ।

अहोरात्रः—दिन और रात । **पूर्वरात्रः**—रात का पहला भाग । **पूर्वाह्णः**—दिन का पहला भाग । **द्व्यहः**—दो दिन ।

'संख्यापूर्वक रात्र शब्द नपुंसकलिङ्ग हो' । द्विरात्रम्—दो रातें । त्रिरात्रम्—तीन रातें । गणरात्रम्—बहुत सी रातें ।

रूपसिद्धिः

अहोरात्रः—अहश्च रात्रिश्च, तयोः समाहारः । यहाँ समाहार द्वन्द्व में 'जातिरप्राणिनाम्'[११०] (२.४.६) इस सूत्र से एकवद्भाव हुआ । 'स नपुंसकम्'[८११] (२.४.१७) से नपुंसक होना था उसे बाधित करके 'रात्राह्नाहाः'०[८१४] (२.४.२९) सूत्र से पुंल्लिङ्ग हुआ है । **पूर्वरात्रः**—रात्रेः पूर्वभागः—यहाँ रात्रि अन्त वाले पूर्वरात्रः समस्त पद में 'रात्राह्नाहाः'०[८१४] (२.४.२९) से पुंल्लिङ्ग हुआ है ।

पूर्वाह्णः[१]—अह्नः पूर्वम् । **द्व्यहः**—द्वयोरह्नोः समाहारः—यहाँ अहन् अन्त वाले पूर्वाह्णः और द्व्यहः पदों में 'रात्राह्नाहाः'०[८१४] (२.४.२९) से पुंल्लिङ्ग हुआ है ।

द्विरात्रम्, त्रिरात्रम्—यहाँ 'रात्राह्नाहाः'०[८१४] (२.४.२९) से पुंल्लिग प्राप्त था । किन्तु 'संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम्' (लि० १३१) से संख्यापूर्व द्विरात्रम् और त्रिरात्रम् पदों में नपुंसकलिङ्ग हुआ है ।

गणरात्रम्—यहाँ गण शब्द संख्या वाचक है । 'बहुगणवतुडति संख्या'[२५८] (१.१.२३) इस सूत्र से गण शब्द की संख्या संज्ञा होती है । यहाँ 'रात्राह्नाहाः'०[८१४] (२.४.२९) से पुंल्लिङ्ग प्राप्त था किन्तु 'संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम्' (लि० १३१) से नपुंसकलिङ्ग हुआ है ।

८१५ अपथं नपुंसकम् (२.४.३०)

तत्पुरुष इत्येव । अन्यत्र तु—अपथो देशः । कृतसमासान्तनिर्देशान्नेह—अपन्थाः ।

अनु०—तत्पुरुष समास में समासान्त अपथ शब्द नपुंसक हो (जैसे—अपथम्—बुरा मार्ग)। तत्पुरुष से भिन्न समास में तो जैसे—अपथो देशः—बिना सड़क का देश। कृत समासान्त निर्देश के कारण अपन्थाः (बिना मार्ग का), इस स्थान में नपुंसकत्व नहीं हुआ।

व्याख्या—'अपथम्' यह नञ् तत्पुरुष नपुंसकलिङ्ग में होता है। बहुव्रीहि में विशेष्य के अनुसार लिङ्ग होता है। जैसे अपथो देशः।

अपथम्। यहाँ 'परवल्लिङ्गं'[८१३] (२.४.२६) से पुंल्लिङ्ग प्राप्त था किन्तु 'अपथं नपुंसकम्'[८१५] (२.४.३०) से नपुंसक हुआ है।

अपथः। अविद्यमानः पन्थाः यस्य सः (बहुव्रीहि)। यहाँ विशेष्य पद 'देश' पुंल्लिङ्ग में है, अतः 'अपथः' यह विशेषण पद भी पुंल्लिङ्ग में है।

अपन्थाः। न पन्थाः। 'पथो विभाषा'[९५७] (५.४.७२) सूत्र से नञ् तत्पुरुष में पथिन् शब्द से समासान्त 'अ' विकल्प से होता है। जहाँ समासान्त 'अ' नहीं हुआ वहाँ अपन्थाः। 'अपथं नपुंसकम्'[८१५] (२.४.३०) से समासान्त अपथ को ही नपुंसक लिङ्ग का विधान किया गया है।

रूपसिद्धिः

अपथम्

लौ० वि०—न पन्थाः। अलौ० वि०—नञ् पथिन् सु।

'नञ्'[७५६] (२.२.६) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। 'नलोपो नञः'[७५७] (६.३.७३) से 'न्' का लोप (अपथिन्)। 'ऋक्पूः'[९९०] (५.४.७४) से 'अ' प्रत्यय (अपथिन् अ)। टि लोप (अपथ् अ)। नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में अपथम्।

८१६. अर्धर्चाः पुंसि च (२.४.३१)

अर्धर्चादयः शब्दाः पुंसि क्लीबे च स्युः। अर्धर्चः, अर्धर्चम्। ध्वजः, ध्वजम्। एवं तीर्थशरीरमण्डपीयूषदेहाङ्कुशकलशेत्यादि।

अनु०—अर्धर्च आदि शब्द पुंल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग दोनों में होते हैं। अर्धर्चः, अर्धर्चम्—मंत्र का आधा। ध्वजः, ध्वजम्—झंडा। इसी प्रकार तीर्थ, शरीर, मण्ड, पीयूष, देह, अंकुश, कलश आदि शब्द भी पुंल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग दोनों में होते हैं।

८१७. जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम् (१.२.५८)

एकोऽप्यर्थो वा बहुत्ववद्भवति। ब्राह्मणाः पूज्याः—ब्राह्मणः पूज्यः।

अनु०—जब ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जाति रूप अर्थ विवक्षित हो, तब एकत्व में भी

वैकल्पिक बहुवचन होता है। (जैसे—) ब्राह्मणाः पूज्याः—ब्राह्मण पूजनीय हैं। ब्राह्मणः पूज्यः—ब्राह्मण पूजनीय है।

८१८. अस्मदो द्वयोश्च (१.२.५९)

एकत्वे द्वित्वे च विवक्षितेऽस्मदो बहुवचनं वा स्यात्। वयं ब्रूमः। पक्षे, अहं ब्रवीमि, आवां ब्रूव इति वा। 'सविशेषणस्य प्रतिषेधः' (वा० ७२१)। पटुरहं ब्रवीमि।

अनु०—जब एकत्व अथवा द्वित्व संख्या का निर्देश करना हो तब अस्मद् शब्द को विकल्प से बहुवचन होता है। (जैसे—) 'अहं ब्रवीमि'—मैं कहता हूँ इस अर्थ में वयं ब्रूमः—हम कहते हैं। आवां ब्रूवः—हम दो कहते हैं। इस अर्थ में भी वयं ब्रूमः—हम कहते हैं। पक्ष में अहं ब्रवीमि—मैं कहता हूँ और आवां ब्रूवः—हम दोनों कहते हैं—ये वाक्य भी होंगे।

'यदि अस्मद् शब्द का कोई विशेषण है तब जो वचन विशेषण का होगा वही वचन विशेष्य अस्मद् का होगा।' जैसे—पटुरहं ब्रवीमि—मैं पटु कहता हूँ।

८१९. फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे (१.२.६०)

द्वित्वे बहुत्वप्रयुक्तं कार्यं वा स्यात्। पूर्वे फल्गुन्यौ, पूर्वाः फल्गुन्यः। पूर्वे प्रोष्ठपदे—पूर्वाः प्रोष्ठपदाः। नक्षत्रे किम्— फल्गुन्यौ माणविके।

अनु०—फल्गुनी और प्रोष्ठपदा दो नक्षत्र हैं।

प्रत्येक दो नक्षत्रों का समूह है। अतः प्रत्येक का द्विवचनान्त और बहुवचनान्त प्रयोग होता है। जैसे—(द्विवचन में) पूर्वे फल्गुन्यौ—पूर्वा फाल्गुनी और उत्तरा फाल्गुनी। (बहुवचन में) पूर्वाः फल्गुन्यः—पूर्वा फाल्गुनी और उत्तरा फाल्गुनी। (द्विवचन में) पूर्वे प्रोष्ठपदे—पूर्व भाद्रपद और उत्तर भाद्रपद। (बहुवचन में) पूर्वाः प्रोष्ठपदाः—पूर्व भाद्रपद और उत्तर भाद्रपद। (सूत्र में) 'नक्षत्रे' क्यों कहा? फल्गुन्यौ माणविके—पूर्वा फाल्गुनी में उत्पन्न बालिकायें (यहाँ बहुवचन में प्रयोग न हो)।

व्याख्या—'फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे'[८११] (१.२.६०) सूत्र से वैकल्पिक बहुवचनान्त प्रयोग तभी सम्भव है जब फल्गुनी और प्रोष्ठपदा से नक्षत्र का ही बोध होता हो। किन्तु जब फल्गुनी अथवा प्रोष्ठपदा नक्षत्र का संकेत नहीं करते तब इनका वैकल्पिक बहुवचनान्त प्रयोग नहीं होता। जैसे—"पूर्वे फल्गुन्यौ माणविके" इस वाक्य में 'फल्गुनी' दो फल्गुनी नक्षत्रों में उत्पन्न छात्राओं की संज्ञा है। यहाँ 'फल्गुन्यौ' नित्य द्विवचनान्त प्रयोग होगा। 'फल्गुन्यौ" का विशेषण 'पूर्वे' भी स्त्रीलिङ्ग में प्रथमा द्विवचनान्त प्रयोग है।

८२०. तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्व बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम् (१.२.६३)

बहुत्वं द्वित्ववद्भवति। तिष्यश्च पुनर्वसू च तिष्यपुनर्वसू। तिष्येति किम्—विशाखानुराधाः। नक्षत्रेति किम्—तिष्यपुनर्वसवो माणवकाः।

अनु०—तिष्य एक नक्षत्र है। पुनर्वसु दो नक्षत्र हैं। इनका समास बहुवचनान्त न होकर द्विवचनान्त होता है। तिष्यश्च पुनर्वसू च तिष्यपुनर्वसू—तिष्य और पुनर्वसु। (सूत्र में) 'तिष्य' ऐसा क्यों कहा ? विशाखानुराधाः—विशाखा और अनुराधा—यहाँ विशाखा दो नक्षत्र हैं और अनुराधा तीन नक्षत्र हैं इनका द्वन्द्व बहुवचनान्त ही होगा, द्विवचनान्त नहीं। 'नक्षत्रे' ऐसा क्यों कहा ? तिष्यपुनर्वसवो माणवकाः (तिष्य और पुनर्वसु नाम के बालक)—यहाँ तिष्य और पुनर्वसु छात्रों की संज्ञा है अतः यहाँ द्विवचनान्त द्वन्द्व समास नहीं हुआ।

८२१. स नपुंसकम् (२.४.१७)

समाहारे द्विगुर्द्वन्द्वश्च नपुंसकं स्यात्। परवल्लिङ्गापवादः। पञ्चगवम्। दन्तोष्ठम्। 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' (वा० १५५६)। पञ्चमूली। 'आबन्तो वा' (वा० १५५७) पञ्चखट्वम्, पञ्चखट्वी। 'अनो नलोपश्च, वा च द्विगुः स्त्रियाम्' (वा० १५५८) पञ्चतक्षी, पञ्चतक्षम्। 'पात्राद्यन्तस्य न' (वा० १५५९)। पञ्चपात्रम्। त्रिभुवनम्, चतुर्युगम्। 'पुण्यसुदिनाभ्यामह्नः क्लीबतेष्टा' (वा० १५५३) पुण्याहम्। सुदिनाहम्। 'पथः संख्याव्ययादेः' (वा० १५५४)। संख्याव्ययादेः परः कृतसमासान्तः पथशब्दः क्लीबमित्यर्थः, त्रयाणां पन्थास्त्रिपथम्। विरूपः पन्था विपथम्। कृतसमासान्त-निर्देशान्नेह सुपन्थाः, अतिपन्थाः। 'सामान्ये नपुंसकम्' (वा० ५०४३) मृदु पचति। प्रातः कमनीयम्।

अनु०—समाहार अर्थ में द्विगु और द्वन्द्व नपुंसकलिङ्ग में होते हैं। यह सूत्र 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' सूत्र का अपवाद है। जैसे पञ्चगवम्—पाँच गायें। दन्तोष्ठम्—दांत और ओठ।

'अकारान्त उत्तरपद रहते द्विगु समास स्त्रीलिङ्ग में होता है।' जैसे—पञ्चमूली—पाँच जड़ें।

'आबन्त शब्दों से स्त्रीलिङ्ग विकल्प से होता है।' जैसे—पञ्चखट्वम्, पञ्चखट्वी—पाँच पलँग।

'अन्नन्त द्विगु स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से होता है और अन् के न का लोप होता है।' जैसे—पञ्चतक्षी, पञ्चतक्षम्—पाँच बढ़ई।

'पात्र आदि शब्दों में समाप्त समाहार द्विगु स्त्रीलिङ्ग में नहीं होता।' जैसे—पञ्चपात्रम्—पाँच बर्तन। त्रिभुवनम्—तीनों लोक। चतुर्युगम्—चारों युग।

'पुण्य और सुदिन शब्दों से परे जो अहन् शब्द तदन्त तत्पुरुष नपुंसकलिङ्ग में होता है।' जैसे—पुण्याहम्—शुभ दिन। सुदिनाहम्—सुन्दर दिन।

'संख्या अथवा अव्यय पूर्व समासान्त पथ शब्द नपुंसकलिङ्ग में होता है।' जैसे—त्रयाणां पन्थास्त्रिपथम्—तीन मार्ग। विरूपः पन्था विपथम्—बुरा मार्ग।

'जहाँ समासान्त पथ का प्रयोग नहीं है वहां नपुंसकलिङ्ग नहीं होता है।' जैसे—सुपन्थाः—सुन्दर मार्ग। अतिपन्थाः—सुन्दर मार्ग।

'जहाँ लिङ्ग अनियत हो वहाँ नपुंसकलिङ्ग होता है।' जैसे—मृदु पचति—कोमल पकाता है। प्रातः कमनीयम्—प्रातः काल सुन्दर है। [अंग्रेजी में 'गुड मार्निंग' कहते हैं]

८२२. तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः (२.४.१९)

अधिकारोऽयम्।

अनु०—यह अधिकार सूत्र है। नञ् तथा कर्मधारय समासों से भिन्न तत्पुरुष समास से निम्न कार्य होते हैं।

८२३. संज्ञायां कन्थोशीनरेषु (२.४.२०)

कन्थान्तस्तत्पुरुषः क्लीबं स्यात्, सा चेदुशीनरदेशोत्पन्नायाः कन्थायाः संज्ञा। सुशमस्यापत्यानि सौशमयः, तेषां कन्था सौशमिकन्थम्। संज्ञायां किम्—वीरणकन्था। उशीनरेषु किम्—दाक्षिकन्था।

अनु०—कन्थान्त तत्पुरुष नपुंसक लिङ्ग में होता है यदि वह कन्था उशीनर देश कन्था को संकेतित करती हो। जैसे—सौशमिकन्थम्—सुशमनामक व्यक्ति के पुत्र की कथरी। (सूत्र में) 'संज्ञायाम्' ऐसा क्यों कहा? वीरणकन्था (यहाँ समस्त पद किसी नाम विशेष को बोधित नहीं करता। अतः उक्त सूत्र से यहां नपुंसकलिङ्ग नहीं हुआ है।) 'उशीनरेषु' ऐसा क्यों कहा? दाक्षिकन्था—दक्ष के वंशज की कथरी। (यह उशीनर देश की कन्था की संज्ञा नहीं है, अतः नपुंसकलिङ्ग नहीं हुआ है।)

व्याख्या—संज्ञायां किमिति। ऊपर कहा गया है कि कन्थान्त तत्पुरुष को तभी नपुंसकलिङ्ग होता है जब समस्त पद उशीनर देश की कन्था का बोधक हो। उक्त उदाहरण 'सौशमिकन्थम्' उशीनर देश की कन्था का नाम है। किन्तु जहां समस्त पद उशीनर देश की कन्था को संकेतित नहीं करता वहां उक्त सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। जैसे—वीरणकन्था। यद्यपि यह कन्था उशीनर देश की है तो भी वह इस नाम से ख्यात नहीं है। समस्त पद किसी नाम विशेष को बोधित नहीं करता। अतः उक्त सूत्र से यहां नपुंसकलिङ्ग नहीं हुआ है।

उशीनरेषु किमिति। 'संज्ञायां०'[८२३] (२.४.२०) सूत्र में यह भी कहा गया है कि कन्था उशीनर देश की हो। यदि वह उशीनर देश की नहीं है तब वह नाम विशेष को संकेतित करने पर भी स्त्रीवाचक ही रहेगी। वहाँ उक्त सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा। जैसे—दाक्षिकन्था। यह कन्था विशेष की संज्ञा तो अवश्य है किन्तु उशीनर देश की कन्था की संज्ञा नहीं है।

८२४. उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम् (२.४.२१)

उपज्ञान्तः उपक्रमान्तश्च तत्पुरुषो नपुंसकं स्यात्, तयोरुपज्ञायमानोपक्रम्यमाणयोरादिः प्राथम्यं चेदाख्यातुमिष्यते। पाणिनेरुपज्ञा पाणिन्युपज्ञं ग्रन्थः। नन्दोपक्रमं द्रोणः।

अनु०—उपज्ञा और उपक्रम शब्द जिसके अन्त में आते हैं वह तत्पुरुष नपुंसकलिङ्ग में होता है यदि उस अवलोक्यमान वस्तु और आरभ्यमाण कर्म का प्राथम्य विवक्षित हो। जैसे—पाणिन्युपज्ञम्—पाणिनि से सर्वप्रथम प्रचलित किया गया ग्रन्थ। नन्दोपक्रमं द्रोणः—सर्वप्रथम नन्द के शासनकाल में प्रचलित किया गया माप।

व्याख्या—अवलोक्यमान वस्तु और आरभ्यमाण कर्म का प्राथम्य विवक्षित होने पर ही उपज्ञा और उपक्रम शब्दान्त तत्पुरुष नपुंसकलिङ्ग में होता है। यदि सूत्र से 'पहली बार' (प्राथम्य) इस वाक्यांश को हटा देते हैं तब उपज्ञ और उपक्रम शब्दों का विशेष्य के अनुसार लिङ्ग होगा। देवदत्तोपज्ञा अष्टाध्यायी। इसी प्रकार देवदत्तोपक्रमो यागः—देवदत्त ने जिस यज्ञ को आरम्भ किया है वह यज्ञ उसने पहले भी किया होगा।

८२५. छाया बाहुल्ये (२.४.२२)

छायान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकं स्यात्पूर्वपदार्थबाहुल्ये—इक्षूणां छाया इक्षुच्छायम्। 'विभाषा सेना' (सू० ८२८) इति विकल्पस्यायमपवादः। 'इक्षुच्छायानिषादिन्यः' इति तु 'आ समन्तान्निषादिन्यः' इत्याङ्श्लेषो बोध्यः।

अनु०—छाया शब्द जिसके अन्त में आता है वह तत्पुरुष नपुंसकलिङ्ग में होता है यदि पूर्व पद बहुवचन में हो। जैसे—इक्षूणां छाया इक्षुच्छायम्—ईख की छाया। 'विभाषा सेना०' (सू० ८२८) से प्राप्त विकल्प का यह सूत्र ('छाया बाहुल्ये') अपवाद है। 'इक्षुच्छायानिषादिन्यः' इत्यादि स्थल में 'आ समन्तात् निषादिन्यः' ऐसा आङ् का प्रश्लेष जानना चाहिए।

व्याख्या—छाया शब्दान्त तत्पुरुष नपुंसकलिङ्ग में होता है यदि पूर्वपद बहुवचन में हो। जैसे—इक्षूणां छाया इक्षुच्छायम्। 'विभाषा सेना०'[८२८] (२.४.२५) इस सूत्र में छाया शब्दान्त तत्पुरुष से वैकल्पिक नपुंसकलिङ्ग प्राप्त था किन्तु जहाँ पूर्वपद बहुवचन में हो वहाँ 'छाया बाहुल्ये'[८२५] (२.४.२२) इस सूत्र से नित्य नपुंसक हो जाता है। अतः 'इक्षूणां छाया इक्षुच्छायम्' इस छाया शब्दान्त तत्पुरुष से नित्य नपुंसक हुआ है।

कालिदास ने रघुवंश में बहुवचनपूर्व छायान्त तत्पुरुष का स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग किया है। जैसे—'इक्षुच्छायानिषादिन्यः'। यह प्रयोग 'छाया बाहुल्ये' इस सूत्र के विरुद्ध है। भट्टोजिदीक्षित के अनुसार इसका समाधान यह है। 'इक्षुच्छायानिषादिन्यः' इस समस्त पद का विग्रह "इक्षूणां छाया इक्षुच्छायम्, इक्षुच्छाये आ (समन्तात्) निषादिनीति इक्षुच्छायानिषादिनी, ताः इक्षुच्छायानिषादिन्यः" इस प्रकार होगा। इस मत में 'इक्षुच्छायानिषादिन्यः' इस समस्त पद में इक्षुच्छाय नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है।

८२६. सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा (२.४.२३)

राजपर्यायपूर्वोऽमनुष्यपूर्वश्च सभान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकं स्यात् । इनसभम् । ईश्वरसभम् । 'पर्यायस्यैवेष्यते'(वा० ५१६) नेह—राजसभा, चन्द्रगुप्तसभा । अमनुष्य-शब्दो रूढ्या रक्षःपिशाचादीनाह । रक्षस्सभम् पिशाचसभम् ।

अनु०—जिसका पूर्वपद राजपर्याय एवं मनुष्यभिन्न वाची हो और अन्त्य पद सभा हो वह तत्पुरुष नपुंसकलिङ्ग में आता है । जैसे—इनसभम्—राजा की सभा । ईश्वरसभम्—राजा की सभा ।

'जहां पूर्वपद 'राजा' शब्द का पर्यायवाची शब्द हो, वहीं सभा शब्दान्त तत्पुरुष नपुंसकलिङ्ग में आता है । इसीलिए राजसभा—राजा की सभा, चन्द्रगुप्तसभा—चन्द्रगुप्त की सभा । यहाँ नपुंसकलिङ्ग नहीं हुआ है क्योंकि इन समस्त पदों में पूर्वपद राजा का पर्यायवाची नहीं है ।

'अमनुष्यपूर्वा' इस पद से समास के पूर्वपद में मनुष्यभिन्न रक्षस्, पिशाच आदि का बोध होता है । जैसे—रक्षस्सभम्—राक्षसों की सभा । पिशाचसभम्—पिशाचों की सभा ।

८२७. अशाला च (२.४.२४)

संघातार्था या सभा तदन्तस्तत्पुरुषः क्लीबं स्यात् । स्त्रीसभम् । स्त्रीसङ्घात इत्यर्थः । अशाला किम्–धर्मसभा । धर्मशालेत्यर्थः ।

अनु०—समूहवाची सभा शब्द जहाँ अन्त में हो वह तत्पुरुष नपुंसकलिङ्ग में होता है । जैसे—स्त्रीसभम् (स्त्रीणां सभा) स्त्रियों की सभा । यहाँ स्त्रीसमूह यह अर्थ है । (सूत्र में) 'अशाला' ऐसा क्यों कहा ? धर्मसभा, धर्मशाला—यहाँ 'सभा' का समूह अर्थ नहीं है । अतः यहाँ नपुंसकलिङ्ग नहीं हुआ है ।

व्याख्या—अशालेति । सभा शब्द के दो अर्थ हैं (१) शाला और (२) समूह । जहाँ शाला अर्थ में सभा शब्द का प्रयोग हुआ हो वहाँ नपुंसकलिङ्ग नहीं होता । जैसे—धर्मसभा । यहाँ शाला के अर्थ में 'सभा' का प्रयोग हुआ है । धर्मसभा का अर्थ धर्मशाला है । अतः नपुंसकलिङ्ग नहीं हुआ ।

८२८. विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम् (२.४.२५)

एतदन्तस्तत्पुरुषः क्लीबं वा स्यात् । ब्राह्मणसेनम्, ब्राह्मणसेना । यवसुरम्, यवसुरा । कुड्यच्छायम्, कुड्यच्छाया । गोशालम्, गोशाला । श्वनिशम्, श्वनिशा । 'तत्पुरुषो-ऽनञ्कर्मधारयः' (सू० ८२८) इत्यनुवृत्तेर्नेह । दृढसेनो राजा । असेना । परमसेना ।

अनु०—सेना, सुरा, छाया, शाला, निशा इन शब्दों में से कोई भी शब्द जिसके अन्त में हो वह तत्पुरुष नपुंसकलिङ्ग में विकल्प से होता है । जैसे—ब्राह्मणसेनम्,

ब्राह्मणसेना—ब्राह्मणों की सेना। यवसुरम्, यवसुरा—जौ की शराब। कुड्यच्छायम्, कुड्यच्छाया—दिवाल की छाया। गोशालम्, गोशाला—गोशाला। श्वनिशम्, श्वनिशा—कुत्तों की रात। 'तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः' (सू० ८२२) इस सूत्र की अनुवृत्ति होने पर जहाँ नञ् तत्पुरुष है अथवा तत्पुरुष का भेद कर्मधारय है वहाँ 'विभाषा सेनासुरा०' (सू० ८२८) यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। जैसे—दृढसेनो राजा—बलवती सेना वाला राजा। असेना—जो सेना न हो। परमसेना—उत्तम सेना।

व्याख्या—तत्पुरुष इति। 'विभाषा सेनासुरा०' [८२८] (२.४.२५) इस सूत्र से नञ् और कर्मधारय समासों से भिन्न तत्पुरुष विकल्प से नपुंसकलिङ्ग में होता है। इसका अर्थ है कि जहाँ तत्पुरुष समास नहीं है, अथवा नञ् तत्पुरुष है अथवा तत्पुरुष का भेद कर्मधारय है वहाँ 'विभाषा सेनासुरा०'[८२८] (२.४.२५) यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। जैसे दृढसेनः (राजा)। दृढा सेना यस्य सः (बहुव्रीहिसमास)। क्योंकि 'विभाषा सेना०'[८२८] (२.४.२५) यह सूत्र तत्पुरुष में ही प्रवृत्त होता है अन्य किसी समास में नहीं, अतः बहुव्रीहि समास के उक्त उदाहरण में वैकल्पिक नपुंसकलिङ्ग नहीं हुआ है। नपुंसकलिङ्ग में 'दृढसेनम्' रूप नहीं होगा। असेना—न सेना। यहाँ 'नञ्'[७५६] (२.२.६) इस सूत्र से नञ् तत्पुरुष समास हुआ है। नञ् तत्पुरुष में 'विभाषा सेना०'[८२८] (२.४.२५) यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। अतः 'असेना' में वैकल्पिक नपुंसकलिङ्ग नहीं हुआ है।

परमसेना—परमा चासौ सेना च। यहाँ समानाधिकरण में कर्मधारय समास हुआ है। यद्यपि कर्मधारय तत्पुरुष का ही भेद है तो भी 'विभाषा सेनासुरा०'[८२८] (२.४.२५) यह सूत्र तत्पुरुष के भेद कर्मधारय में प्रवृत्त नहीं होता। अतः 'परमसेना' में वैकल्पिक नपुंसकलिङ्ग नहीं हुआ है।

॥ इति तत्पुरुषसमासप्रकरणम् ॥

बहुव्रीहिसमासप्रकरणम्

८२९ शेषो बहुव्रीहिः (२.२.२३)

अधिकारोऽयम्। 'द्वितीया श्रिता०—' (सू० ६८६) इत्यादिना यस्य त्रिकस्य विशिष्य समासो नोक्तः स शेषः प्रथमान्तमित्यर्थः।

अनु०—यह अधिकार सूत्र है। 'द्वितीया श्रिता०' (सू० ६८६) इस सूत्र से विशेष करके जिस त्रिक का समास नहीं कहा हो, वह शेष अर्थात् प्रथमान्त है।

व्याख्या—शेष समास को बहुव्रीहि कहते हैं। 'शेषो बहुव्रीहिः'[८२९] (२.२.२३) अधिकार सूत्र है इसका अधिकार 'चार्थे द्वन्द्वः'[९०१] (२.२.२९) इस सूत्र के पूर्व तक है। 'शेषो बहुव्रीहिः'[८२९] (२.२.२३) इस सूत्र से लेकर 'चार्थे द्वन्द्वः'[९०१] (२.२.२९) इस सूत्र के पूर्व तक जो समास होते हैं उनकी बहुव्रीहि संज्ञा होती है।

द्वितीया श्रितेत्यादिनेति। समासशास्त्र में 'द्वितीया श्रितातीत०'[६८६] (२.१.२४), 'तृतीया तत्कृतार्थेन०'[६९३] (२.१.३०), 'चतुर्थी तदर्थार्थ०'[६९८] (२.१.३६), 'पञ्चमी भयेन'[६९९] (२.१.३७), 'षष्ठी'[७०२] (२.२.८), 'सप्तमी शौण्डै:'[७१७] (२.१.४०) इन सूत्रों से विभक्तियों का नाम लेकर तत्पुरुष समास हुआ है। शेष प्रथमा विभक्ति है जिसका समासशास्त्र में नाम नहीं लिया गया। अतः प्रथमान्त का समास बहुव्रीहि होता है।

तत्पुरुष में विग्रहावस्था में दो पद होते हैं जैसे राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः। बहुव्रीहि में विग्रहावस्था में तीन पद होते हैं। जैसे—प्राप्तमुदकं यं (बहु०) सः—प्राप्तोदकः।

८३० अनेकमन्यपदार्थे (२.२.२४)

अनेकं प्रथमान्तमन्यपदार्थे वर्तमानं वा समस्यते स बहुव्रीहिः। अप्रथमाविभक्त्यर्थे बहुव्रीहिरिति समानाधिकरणानामिति च फलितम्। प्राप्तमुदकं यं स प्राप्तोदको ग्रामः। ऊढरथोऽनड्वान्। उपहृतपशू रुद्रः। उद्धृतौदना स्थाली। पीताम्बरो हरिः। वीरपुरुषको ग्रामः। प्रथमार्थे तु न। वृष्टे देवे गतः। व्यधिकरणानामपि न। पञ्चभिर्भुक्तमस्य।' 'प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' (वा० १३६०) प्रपतितपर्णः प्रपर्णः 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' (वा० १३६१) अविद्यमानपुत्रः अपुत्रः। 'अव्ययानां च' उच्चैर्मुखः 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च'। सप्तम्यन्तम् उपमानं च पूर्वपदं यस्य तस्य पदान्तरेण समासे उत्तरपदलोपश्च भवतीत्यर्थः। कण्ठेस्थः कालो यस्य स कण्ठेकालः। उष्ट्रमुखमिव मुखं यस्य स उष्ट्रमुखः। 'संघातविकारषष्ठ्याश्चोत्तरपदलोपश्च'। केशानां संघातश्चूडा यस्य स केशचूडः, सुवर्णस्य विकारः अलङ्कारो यस्य स सुवर्णालङ्कारः। 'अस्तिक्षीरादयश्च'। अस्तीति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम्। अस्तिक्षीरा गौः।

अनु०—अन्य पद के अर्थ में वर्तमान अनेक प्रथमान्तों का समास होता है विकल्प से और उसे बहुव्रीहि कहते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि बहुव्रीहि समास प्रथमा विभक्ति के अर्थ में नहीं होता और समानाधिकरणों का होता है। प्राप्तमुदकं यं सः प्राप्तोदको ग्रामः—जिस गांव में जल पहुँच गया हो। ऊढरथोऽनड्वान्—जिस बैल ने रथ खीचा हो। उपहृतपशू रुद्रः—जिस रुद्र को पशु दिया गया हो। उद्धृतौदना स्थाली—जिस पतीली से भात निकाला गया हो। पीताम्बरो हरिः—जिसका वस्त्र पीला हो। वीरपुरुषको ग्रामः—जिस गाँव में वीर मनुष्य हों।

प्रथमा के अर्थ में बहुव्रीहि समास नहीं होता। अतः 'वृष्टे देवे गतः' (वर्षा हो जाने पर गया) इस वाक्य में समास नहीं हुआ। व्यधिकरण पदों का भी समास नहीं होता। जैसे—पञ्चभिर्भुक्तमस्य—पाँच के साथ इसका भोजन हुआ।

'प्र आदि से परे जो धातु से बना हुआ शब्द है तदन्त का उत्तर पद के साथ समास होता है और 'प्र' आदि के उत्तरपद का लोप भी विकल्प से होता है।' प्रपतितपर्णः प्रपर्णः—जिससे पत्ते गिर चुके हों।

'नञ् से परे विद्यमानता अर्थ के वाचक जो पद हों तदन्त का उत्तर पद के साथ समास होता है तथा नञ् के उत्तरवर्ती पद का विकल्प से लोप भी हो जाता है।' अविद्यमानपुत्रः अपुत्रः—जिसके पुत्र न हों।

'अव्यय पदों का भी उत्तर पद के साथ बहुव्रीहि समास होता है।' जैसे—उच्चैर्मुखः ऊँचा मुख किए हुए।

'सप्तम्यन्त अथवा उपमानवाचक पूर्व पद का उत्तर पद के साथ समास होता है एवं पूर्व पद के उत्तरवर्ती पद का लोप हो जाता है।' (जैसे—) कण्ठेस्थः कालो यस्य स कण्ठेकालः—जिसके कण्ठ में काल हो। उष्ट्रमुखमिव मुखं यस्य स उष्ट्रमुखः—ऊँट के समान जिसका मुख हो।

'सङ्घातपदान्त अथवा विकारपदान्त षष्ठ्यन्त पद का उत्तर पद के साथ समास होता है। एवं संघात और विकार पदों का लोप हो जाता है।' केशानां सङ्घातश्चूडा यस्य स केशचूडः। सुवर्णस्य विकारः अलङ्कारो यस्य स सुवर्णालङ्कारः।

अस्तिक्षीरा आदि पद भी बहुव्रीहि हैं। 'अस्ति' यह विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय है। अस्तिक्षीरा गौः—दूध देने वाली गाय।

व्याख्या—अन्य पद के अर्थ में वर्तमान अनेक प्रथमान्तों का समास होता है विकल्प से और उसे बहुव्रीहि कहते हैं। अन्य पदार्थ प्रथमा विभक्ति को छोड़कर द्वितीयादि किसी एक विभक्ति से कहा जाता है। प्रथमान्तों का बहुव्रीहि समास होता है ऐसा कहने से बहुव्रीहि प्रायः समानाधिकरण पदों का ही होता है ऐसा समझना चाहिए। जैसे ऊढरथः—ऊढो रथो येन सः। यहाँ 'ऊढः रथः' प्रथमान्त पद हैं और दोनों का अधिकरण समान है। यह समास अनेक प्रथमान्तों का तो होता है किन्तु प्रथमा विभक्ति के अर्थ में नहीं होता क्योंकि यह अन्य पद के अर्थ में होता है। प्रथमा-विभक्ति समास के भीतर रहती है वह अन्य पद नहीं।

प्रथमार्थे तु न इति। प्रथमा के अर्थ में बहुव्रीहि समास नहीं होता। अतः 'वृष्टे देवे गतः" इस वाक्य में समास नहीं हुआ।

व्यधिकरणानामपि न इति। यदि समस्यमान पदों की विभक्तियां भिन्न-भिन्न हैं तो भी समास नहीं होता। जैसे—पञ्चभिर्भुक्तमस्य। यहाँ 'पञ्चभिः' और 'भुक्तम्' इन दोनों पदों की विभक्तियां समान नहीं हैं, अतः समास नहीं हुआ।

रूपसिद्धिः

प्राप्तोदकः—लौ० वि०—प्राप्तम् उदकं यम्। अलौ० वि०—प्राप्त सु उदक सु।

यहाँ 'यम्' पद द्वारा सूचित द्वितीया विभक्ति के अर्थ में प्राप्त और उदक इन प्रथमान्त पदों का 'अनेकमन्यपदार्थे'[१८०] (२.२.२४) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (सु, सु) का लोप

(प्राप्त उदक) । 'आद्गुणः'[६९] (६.१.८७) से गुण (प्राप्तोदक) । शेषं पूर्ववत् । प्राप्तोदकः ।

ऊढरथः

लौ० वि०—ऊढो रथो येन । अलौ० वि०—ऊढ सु रथ सु ।

यहां तृतीया विभक्ति के अर्थ में ऊढ और रथ इन प्रथमान्त पदों का समास हुआ है । शेषं पूर्ववत् । ऊढरथः ।

उपहृतपशुः

लौ० वि०—उपहृतः पशुर्यस्मै । अलौ० वि०—उपहृत सु पशु सु ।

यहां चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में उपहृत और पशु इन प्रथमान्त पदों का समास हुआ है । शेषं पूर्ववत् । उपहृतपशुः ।

उद्धृतौदना

लौ० वि०—उद्धृत ओदनो यस्याः । अलौ० वि०—उद्धृत सु ओदन सु ।

यहां पञ्चमी विभक्ति के अर्थ में उद्धृत और ओदन इन प्रथमान्त पदों का समास हुआ है । शेषं पूर्ववत् । उद्धृतौदना ।

पीताम्बरः

लौ० वि०—पीतानि अम्बराणि यस्य । अलौ० वि०—पीत जस् अम्बर जस् ।

यहाँ षष्ठी विभक्ति के अर्थ में पीत और अम्बर इन प्रथमान्त पदों का समास हुआ है । शेषं पूर्ववत् । पीताम्बरः ।

वीरपुरुषकः

लौ० वि०—वीराः पुरुषा यस्मिन् । अलौ० वि०—वीर जस् पुरुष जस् ।

यहां सप्तमी विभक्ति के अर्थ में वीर और पुरुष इन प्रथमान्त पदों का समास हुआ है । वीरपुरुष इस स्थिति में 'शेषाद्विभाषा'[९१] (५.४.१५४) इस सूत्र से कप् प्रत्यय समासान्त होकर 'वीरपुरुषकः' बना है ।

प्रपर्णः, प्रपतितपर्णः

लौ० वि०—प्रपतितानि पर्णानि यस्मात् । अलौ० वि०—प्रपतित जस् पर्ण जस् ।

'प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' (वा० १३६०) से 'प्र' से परे पत् धातु से सिद्ध पतित शब्द है तदन्त प्रपतित शब्द का उत्तरपद पर्ण के साथ समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (जस्, जस्) का लोप (प्रपतित पर्ण) । 'प्रादिभ्यो धातुजस्य०' (वा० १३६०) से प्रपतित के उत्तरपद पतित का वैकल्पिक लोप (प्रपर्ण) । शेषं पूर्ववत् । प्रपर्णः ।

जहां प्रपतित के उत्तरपद पतित का वैकल्पिक लोप नहीं हुआ वहाँ प्रपतितपर्णः रूप सिद्ध हुआ ।

अपुत्रः, अविद्यमानपुत्रः

लौ० वि०—अविद्यमानः पुत्रो यस्य सः । अलौ० वि०—न विद्यमान सु पुत्र सु ।

'नञोऽस्त्यर्थानां०' (वा० १३६१) से नञ् से परे विद्यमानता अर्थ के वाचक पद का उत्तरपद 'पुत्र' के साथ समास । 'कृत्तद्धित०'[२७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (सु, सु) का लोप (न विद्यमान पुत्र) । 'नञोऽस्त्यर्थानां०' (वा० १३६१) से न के परवर्ती विद्यमान का वैकल्पिक लोप (न पुत्र) । 'नलोपो नञः'[७५७] (६.३.७३) से 'न्' का लोप (अपुत्र) । शेषं पूर्ववत् । अपुत्रः ।

जहाँ 'नञ्' के परवर्ती 'विद्यमान' का वैकल्पिक लोप नहीं हुआ वहाँ 'अविद्यमानपुत्रः' रूप सिद्ध हुआ ।

उच्चैर्मुखः—उच्चैर्मुखं यस्य सः । यहाँ 'उच्चैः' अधिकरण शक्ति प्रधान अव्यय है, अतः इसे सप्तम्यन्त माना जाएगा । सप्तम्यन्त 'उच्चैः' का प्रथमान्त मुख के साथ समानाधिकरण न होने से 'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) से समास प्राप्त नहीं था, अतः 'अव्ययानां च' इससे समास का विधान हुआ है । समास होने पर शेष कार्य पूर्ववत् । उच्चैर्मुखः ।

कण्ठेकालः

लौ० वि०—कण्ठे कालो यस्य सः । अलौ० वि०—कण्ठ ङि काल सु ।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) से समास । 'कृत्तद्धित०'[२७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् ङि और सु प्रत्ययों का लोप प्राप्त किन्तु 'अमूर्धमस्तकात्'[९७०] (६.३.१२) से ङि लोप का निषेध (कण्ठ ङि काल) । गुण । शेषं पूर्ववत् । कण्ठेकालः । यहाँ 'कण्ठेस्थः कालो यस्य सः' इस विग्रह में 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च' से 'कण्ठे' से परे 'स्थ' पद का लोप हुआ है ।

उष्ट्रमुखः—उष्ट्रमुखमिव मुखं यस्य सः । यहाँ पूर्वपद उष्ट्र के परे उपमान वाचक मुख पद है उसका 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च' से लोप हुआ है ।

केशचूडः—केशानां संघातः चूडा यस्य सः । यहाँ षष्ठचन्त 'केशानाम्' से परे संघात शब्द है उसका 'सङ्घातविकारषष्ठ्याश्चोत्तरपदलोपश्च' से लोप हुआ है ।

सुवर्णालङ्कारः—सुवर्णस्य विकारः अलङ्कारो यस्य सः । यहाँ षष्ठचन्त 'सुवर्णस्य' इस पद से परे विकार शब्द का प्रयोग हुआ है । उसका 'सङ्घातविकारषष्ठ्याश्चोत्तरपद-लोपश्च' से लोप हुआ है ।

८३१. स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणी-प्रियादिषु (६.३.३४)

भाषितपुंस्कादनूङ् ऊङोऽभावोऽस्यामिति बहुव्रीहिः । निपातनात्पञ्चम्या अलुक् षष्ठ्याश्च लुक् । तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्ते यदुक्तपुंस्कं तस्मात्पर ऊङोऽभावो यत्र तथाभूतस्य

स्त्रीवाचकस्य शब्दस्य पुंवाचकस्येव रूपं स्यात्समानाधिकरणे स्त्रीलिङ्गे उत्तरपदे न तु पूरण्यां प्रियादौ च परतः। 'गोस्त्रियो:–' (सू० ६५६) इति ह्रस्वः। चित्रा गावो यस्येति लौकिकविग्रहे 'चित्रा अस् गो अस्' इत्यलौकिकविग्रहे चित्रगुः। रूपवद्भार्यः। चित्रा जरती गौर्यस्येति विग्रहे अनेकोक्तेर्बहूनामपि बहुव्रीहिः। अत्र केचित्—चित्राजरतीगुः, जरतीचित्रागुर्वा। एवं दीर्घातन्वीजङ्घः, तन्वीदीर्घाजङ्घः। त्रिपदे बहुव्रीहौ प्रथमं न पुंवत्। उत्तरपदस्य मध्यमेन व्यवधानात्। द्वितीयमपि न पुंवत् पूर्वपदत्वाभावात्। उत्तरपदशब्दो हि समासस्य चरमावयवे रूढः। पूर्वपदशब्दस्तु प्रथमावयवे रूढ इति वदन्ति। वस्तुतस्तु नेह पूर्वपदमाक्षिप्यते। 'आनङ् ऋतः—,(सू० ९२१) इत्यत्र यथा। तेनोपान्त्यस्य पुंवदेव। चित्राजरद्गुः इत्यादि। अत एव 'चित्राजरत्यौ गावौ यस्येति द्वन्द्वगर्भेऽपि चित्राजरद्गुः' इति भाष्यम्। कर्मधारयपूर्वपदे तु द्वयोरपि पुंवत्। जरच्चित्रगुः। कर्मधारयोत्तरपदे तु चित्रजरद्गवीकः। स्त्रियाः किम्—ग्रामणि कुलं दृष्टिरस्य ग्रामणिदृष्टिः। भाषितपुंस्कात् किम्—गङ्गाभार्यः। अनूङ् किम्—वामोरूभार्यः। समानाधिकरणे किम्—कल्याण्या माता कल्याणीमाता। स्त्रियां किम्—कल्याणी प्रधानं यस्य सः कल्याणीप्रधानः।

अनु०—'भाषितपुंस्कादनूङ ऊङोऽभावोऽस्याम्' ऐसा बहुव्रीहि है।

(भाषितपुंस्काद् अनूङः इन दो पदों के समास में पूर्वपद की) पञ्चमी विभक्ति का निपातन से लोप नहीं हुआ जब कि (उत्तरपद 'अनूङः' में) षष्ठी विभक्ति का निपातन से लोप हुआ है।

जिस शब्द के प्रयोग का कारण अर्थात् उसका अर्थ पुंल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में तुल्य हो और जो शब्द स्त्रीलिङ्ग और पुंल्लिङ्ग दोनों में प्रयुक्त होता हो तथा जिसके परे ऊङ् प्रत्यय न हो ऐसे स्त्रीवाचक शब्द का पुंवाचक के समान रूप हो, समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद परे रहते, यदि पूरणी संख्या और प्रिया आदि शब्द परे न रहते हों।

'गोस्त्रियोः०' (सू० ६५६) इस सूत्र से ह्रस्व का विधान है। 'चित्रा गावो यस्य' इस लौकिक विग्रह और 'चित्रा अस् गो अस्' इस अलौकिक विग्रह के होने पर चित्रगुः रूप बनता है। चित्रगुः—जिसकी गायें चितकबरी हों। रूपवद्भार्यः—जिसकी पत्नी सुन्दर हो। चित्रा जरती गौर्यस्य, इस विग्रह में 'अनेक' कहने से बहुत शब्दों का भी बहुव्रीहि समास होता है। इस विषय में कुछ चित्राजरतीगुः, जरतीचित्रागुः रूप भी सिद्ध हुए मानते हैं। इसी प्रकार दीर्घातन्वीजङ्घः और तन्वीदीर्घाजङ्घः। त्रिपद बहुव्रीहि में उत्तरपद का मध्यम पद से व्यवधान होने के कारण पहला पद पुंवत् नहीं होता और पूर्वपदत्वाभाव के कारण दूसरा पद भी पुंवत् नहीं होता क्योंकि उत्तरपद शब्द समास के चरमावयव में रूढ है और पूर्वपद शब्द समास के प्रथमावयव में रूढ है। वास्तव में जैसे 'आनङ् ऋतः' (सू०९२१) इस सूत्र में पूर्वपद का आक्षेप नहीं हुआ है, वैसे यहाँ भी पूर्वपद का आक्षेप नहीं है, इस कारण उपान्त्य को ही पुंवद्भाव होगा। जैसे—चित्राजरद्गुः इत्यादि। इसी कारण 'चित्राजरत्यौ गावौ यस्य' इस द्वन्द्वगर्भ बहुव्रीहि में भी चित्राजरद्गुः, यह पद भाष्याभिमत है। कर्मधारय पूर्वपद में तो दोनों को भी

पुंवद्भाव होगा। जैसे—जरच्चित्रगुः। कर्मधारयोत्तरपद में—चित्रजरद्गवीकः। सूत्र में 'स्त्रियाः' ऐसा क्यों कहा?—ग्रामणिदृष्टिः (यहाँ स्त्रीलिङ्ग न होने पर पुंवद्भाव न हो)। 'भाषितपुंस्कात्' ऐसा क्यों कहा?—गङ्गाभार्यः (यहाँ भाषितपुंस्क न होने पर पुंवद्भाव न हो)। 'अनूङ्' ऐसा क्यों कहा?—वामोरूभार्यः (यहाँ ऊङ्युक्त होने पर पुंवद्भाव न हो)। 'समानाधिकरण' ऐसा क्यों कहा?—कल्याण्या माता कल्याणीमाता (समानाधिकरण न होने पर पुंवद्भाव न हो)। 'स्त्रियाम्' ऐसा क्यों कहा?—कल्याणीप्रधानः (यहाँ स्त्रीलिङ्ग न होने पर पुंवद्भाव न हो)।

व्याख्या—'स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु'[८११] (६.३.३४) सूत्र में 'भाषितपुंस्कादनूङ्' यह समस्त षष्ठ्यन्त एकपद है जो कि सूत्र स्थित 'स्त्रियाः' इस षष्ठ्यन्त पद का विशेषण है। षष्ठी का निपातन से लोप होकर 'भाषितपुंस्कादनूङ्' रह गया है।

भाषितपुंस्काद् अनूङः इन दो पदों के समास में पूर्वपद की पञ्चमी विभक्ति का निपातन से लोप नहीं हुआ जब कि उत्तरपद 'अनूङ्' में षष्ठी विभक्ति का निपातन से लोप हुआ है।

जिस शब्द के प्रयोग का कारण, अर्थात् उसका अर्थ पुंल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में तुल्य हो और जो शब्द स्त्रीलिङ्ग और पुंल्लिङ्ग दोनों में प्रयुक्त होता हो तथा जिसके परे ऊङ् प्रत्यय न हो ऐसे स्त्रीवाचक शब्द का पुंवाचक के समान रूप हो, समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद परे रहते, यदि पूरणी संख्या और प्रिया आदि शब्द परे न रहते हों।

सूत्र में 'भाषितपुंस्क' शब्द का प्रयोग किया गया है। भाषितपुंस्क उस शब्द को कहते हैं जिसका लिङ्ग नियत न हो तथा जिसका अर्थ सभी लिङ्गों में समान रहे। जैसे 'चित्रगुः' में चित्रा शब्द।

अत्र केचिदिति। त्रिपद बहुव्रीहि में, जहाँ प्रथम दोनों पद विशेषण हैं पर्याय से उनका पूर्व प्रयोग होता है। अतः चित्राजरतीगुः, जरतीचित्रागुः दो रूप बनते हैं। क्योंकि "सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ"[८९८] (२.२.३५) इस सूत्र में विशेषण पद प्रथमान्त निर्दिष्ट हुआ है अतः 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[९५३] (१.२.४३) से दोनों विशेषणों की उपसर्जन संज्ञा होती है और उपसर्जन संज्ञा होने पर उनका पूर्व प्रयोग होता है। इसी प्रकार दीर्घातन्वीजङ्घः, तन्वीदीर्घाजङ्घः दो रूप होते हैं।

कुछ आचार्यों के मत में त्रिपद बहुव्रीहि के उक्त उदाहरणों में 'स्त्रियाः पुंवद्०'[८११] (६.३.३४) इस सूत्र से भाषितपुंस्क पूर्वपद को पुंवद्भाव इसलिए नहीं हुआ क्योंकि पूर्वपद और उत्तरपद में मध्यम पद का व्यवधान है। भाषितपुंस्क मध्यम पद को इसलिए पुंवद्भाव नहीं हुआ क्योंकि वह पूर्वपद नहीं है। समासशास्त्र में समास के अन्त्य अवयव को उत्तरपद और पूर्व अवयव को पूर्वपद कहा गया है। वास्तव में जैसे

'होतृपोतृनेष्टोद्गातारः' इस द्वन्द्व समास में उत्तर पद परे रहते उसके पूर्वपद 'नेष्टृ' को 'आनङृतो द्वन्द्वे'[६३१] (६.३.२५) इस सूत्र से आनङ् हुआ है यद्यपि समस्यमान पदों में 'नेष्टृ' पूर्वावयव नहीं है। वैसे ही उक्त उदाहरणों में उत्तर पद के समीपवर्ती पद को पुंवद्भाव हो जाता है यद्यपि वह पद समस्यमान पदों में प्रथम नहीं है। इस प्रकार चित्राजरद्गुः और जरतीचित्रगुः रूप बनते हैं। अतएव भाष्य में 'पट्वीमृदुभार्यः' यह प्रयोग मिलता है जहाँ उत्तरपद भार्या के पूर्ववर्ती मृद्वी पद को पुंवद्भाव हुआ है।

स्त्रियाः किमिति। 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) इस सूत्र में कहा गया है कि स्त्रीवाचक पूर्व पद को पुंवद्भाव होता है। यदि सूत्र में ऐसा न कहते तब जहाँ पूर्वपद स्त्रीलिङ्ग में नहीं है वहाँ भी पुंवद्भाव हो जाता जो कि इष्ट नहीं है। जैसे—ग्रामणिदृष्टिः। यहाँ ग्रामणि दृष्टिरस्य इस विग्रह वाक्य में ग्रामणी को नपुंसकलिङ्ग में 'ह्रस्वो नपुंसके०'[३१८] (१.२.४७) इस सूत्र से ह्रस्व होकर 'ग्रामणि' हुआ है। यदि सूत्र में 'स्त्रियाः' पद न होता तब नपुंसकलिङ्गवाची ग्रामणि शब्द को पुंवद्भाव होने पर 'ह्रस्वो नपुंसके०'[३१८] (१.२.४७) यह सूत्र प्रवृत्त न होता और 'ग्रामणीदृष्टिः' ऐसा प्रयोग बनता। ऐसे प्रयोगों में पुंवद्भाव न हो इसलिए 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) इस सूत्र में 'स्त्रियाः' इस पद का ग्रहण सार्थक है। भाषितपुंस्कादिति। उक्त सूत्र में 'भाषितपुंस्कात्' इसलिए कहा गया है कि जहाँ नित्य स्त्रीलिङ्ग हो वहाँ पुंवद्भाव नहीं हो। जैसे—गङ्गाभार्यः। गङ्गा भार्या यस्य (बहु०) सः। यहाँ गङ्गा शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग है, भाषितपुंस्क नहीं है। अतः गङ्गा शब्द को पुंवद्भाव नहीं हुआ है। यदि सूत्र में 'भाषितपुंस्कात्' का प्रयोग न करते तब 'गङ्गाभार्यः' इस पद में 'गङ्गा' पद को पुंवद्भाव हो जाता। अनूङ् किमिति। सूत्र में कहा है कि भाषितपुंस्क के अनन्तर ऊङन्त पद नहीं होना चाहिए। जहाँ ऊङन्त पद होता है वहाँ पुंवद्भाव नहीं होता। जैसे—वामोरूभार्यः। वामौ ऊरू यस्याः (बहु०) सा वामोरूः। वामोरूः भार्या यस्य (बहु०) सः। वामोरू ऊङन्त पद है। यह स्त्रीवाचक ऊङ् प्रत्यय से बना है। यदि 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) इस सूत्र में 'अनूङ्' का समावेश न करते तब 'वामोरूभार्यः' में पुंवद्भाव होने से ऊङ् की निवृत्ति हो जाती। 'वामोरूभार्यः' में ह्रस्व उकारान्त 'वामोरु' पद हो जाता।

समानाधिकरणे किमिति। उक्त सूत्र में यदि हम 'समानाधिकरण' का प्रयोग नहीं करते तब जहाँ विग्रह में समानाधिकरण नहीं है वहाँ भी पुंवद्भाव हो जायेगा। जैसे—कल्याणीमाता। कल्याण्या माता। यहाँ 'कल्याण्याः' षष्ठ्यन्त पद है और 'माता' प्रथमान्त पद है। भिन्नविभक्तिक होने से यहाँ 'कल्याणी' पद को पुंवद्भाव नहीं हुआ।

स्त्रियां किमिति। सूत्र में 'स्त्रियाम्' पद का प्रयोग इसलिए किया गया है कि उत्तरपद में स्त्रीवाचक शब्द होना चाहिए। जहाँ उत्तरपद में स्त्रीवाचक पद नहीं है वहाँ स्त्रीवाचक पूर्वपद को पुंवद्भाव नहीं होता। जैसे—कल्याणीप्रधानः। कल्याणी प्रधानं यस्य (बहु०) सः। यहाँ उत्तरपद प्रधान नपुंसकवाचक शब्द है, अतः

'कल्याणी' में पुंवद्भाव नहीं हुआ।

पूरण्यां त्विति। सूत्र में 'अपूरणीप्रियादिषु' कहा है। इसका अर्थ है कि जहाँ पूरणी प्रत्ययान्त और प्रिय शब्द परे हों वहाँ स्त्रीवाचक पूर्वपद को पुंवद्भाव नहीं होता। जैसे—कल्याणीपञ्चमाः (रात्रयः)। कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः।

रूपसिद्धिः

चित्रगुः—लौ० वि०—चित्रा गावो यस्य सः। अलौ० वि०—चित्रा जस् गो जस्।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों जस् प्रत्ययों का लोप (चित्रा गो)। 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) से स्त्रीवाचक चित्रा पद को पुंवद्भाव (चित्र गो)। 'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४) से विग्रह में नियतविभक्तिक होने के कारण गो शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'गोस्त्रियोः०'[६५६] (१.२.४८) से उत्तरपद गो को ह्रस्व उकार (चित्रगु)। शेषं पूर्ववत्। चित्रगुः।

रूपवद्भार्यः

लौ० वि०—रूपवती भार्या यस्य सः। अलौ० वि०—रूपवती सु भार्या सु।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (रूपवती भार्या)। 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) से रूपवती को पुंवद्भाव (रूपवत् भार्या)। 'झलां जशो०'[८] (८.२.३९) से त् को द् (रूपवद् भार्या)। 'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४) से भार्या शब्द की उपसर्जन संज्ञा। 'गोस्त्रियोः०'[६५६] (१.२.४८) से भार्या को ह्रस्व (रूपवद्भार्यः)। शेषं पूर्ववत्। रूपवद्भार्यः।

चित्राजरतीगुः

लौ० वि०—चित्रा जरती गौर्यस्य सः। अलौ० वि०—चित्रा सु जरती सु गो सु।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् तीनों सु प्रत्ययों का लोप (चित्रा जरती गो)। 'गोस्त्रियोः०'[६५६] (१.२.४८) से गो को ह्रस्व (चित्राजरती गु)। शेषं पूर्ववत्। चित्राजरतीगुः।

चित्राजरतीगुः—यह त्रिपद बहुव्रीहि है। यहां प्रथम दोनों पद चित्रा और जरती विशेषण हैं। पर्याय से इनका पूर्व प्रयोग होता है। क्योंकि 'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ'[८९८] (२.२.३५) इस सूत्र में विशेषण पद प्रथमान्त निर्दिष्ट हुआ है अतः 'प्रथमानिर्दिष्टं'[६५३] (१.२.४३) से दोनों विशेषणों की उपसर्जन संज्ञा होती है और उपसर्जन संज्ञा होने पर दोनों का पर्याय से पूर्व प्रयोग है। अतः चित्राजरतीगुः और जरतीचित्रागुः दो रूप बनते हैं।

जरच्चित्रगुः—यहां 'जरती चासौ चित्रा च' इस विग्रह में 'पूर्वकालैक०'[७२६] (२.१.४९) से कर्मधारय समास। 'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) इस सूत्र से कर्मधारय में पूर्वपद जरती को पुंवद्भाव (जरत् चित्रा)। तब 'जरच्चित्रा गौर्यस्य' इस कर्मधारयपूर्वपद बहुव्रीहि समास में 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) से चित्रा शब्द को पुंवद्भाव (जरत् चित्र गो)। 'गोस्त्रियोः०'[६५६] (१.२.४८) से गो को ह्रस्व (जरत् चित्र गु)। शेषं पूर्ववत्। जरच्चित्रगुः।

चित्रजरद्गवीकः

लौ० वि०—जरती चासौ गौश्च। अलौ० वि०—जरती सु गो सु।

यहाँ जरती का गो के साथ समानाधिकरण होने से कर्मधारय समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (जरती गो) 'गोरतद्धित०'[७२९] (५.४.९२) से टच् (अ) प्रत्यय (जरती गो अ)। 'एचोऽय०'[६१] (६.१.७८) से ओ को अव् (जरती गव)। 'पुंवत्कर्मधारय०'[७४६] (६.३.४२) से जरती शब्द को पुंवद्भाव (जरत् गव)। 'झलां जशो०'[८४] (८.२.३९) से त् को द् (जरद् गव)। 'टिड्ढाणञ्०'[४७०] (४.१.१५) से ङीप् (ई) (जरद्गव ई)। 'यस्येति च'[११९] (६.४.१४८) से 'अ' का लोप (जरद्गव् ई—जरद्गवी)। तब 'चित्रा जरद्गवी यस्य' इस विग्रह में 'चित्रा' के साथ 'जरद्गवी' का 'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) से बहुव्रीहि समास करने पर 'स्त्रियाः पुंवत्'[८३१] (६.३.३४) से 'चित्रा' को पुंवद्भाव (चित्रजरद्गवी)। 'नद्यृतश्च'[८३१] (५.४.१५३) से नदी संज्ञक चित्रजरद्गवी को कप् प्रत्यय (चित्रजरद्गवीक)। शेषं पूर्ववत्। चित्रजरद्गवीकः।

पूरण्यां तु—

८३२. अप्पूरणीप्रमाण्योः (५.४.११६)

पूरणार्थप्रत्ययान्तं यत्स्त्रीलिङ्गं तदन्तात्प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीहेरप् स्यात्। कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः कल्याणीपञ्चमा रात्रयः। स्त्री प्रमाणी यस्य स स्त्रीप्रमाणः। 'पुंवद्भावप्रतिषेधोऽप्प्रत्ययश्च प्रधानपूरण्यामेव' (वा ३३५९–३९१०)। रात्रिः पूरणी वाच्या चेत्युक्तोदाहरणे मुख्या।

अनु०—पूरणार्थ प्रत्ययान्त जो स्त्रीलिङ्ग शब्द तदन्त और प्रमाणी शब्दान्त बहुव्रीहि से अप् प्रत्यय समासान्त हो। कल्याणीपञ्चमा रात्रयः—जिन रात्रियों में पांचवी कल्याणमय हो। स्त्रीप्रमाणः—जिसका प्रमाण स्त्री हो। 'पुंवद्भाव का प्रतिषेध और अप् प्रत्यय प्रधान पूरणी प्रत्ययान्त के होने पर ही हो'। रात्रि शब्द उक्तोदाहरण में पूरणीवाच्य है, इससे पूरणप्रत्ययान्त का प्राधान्य जानना चाहिए।

व्याख्या—पूरणार्थप्रत्ययान्त जो स्त्रीलिङ्ग शब्द तदन्त और प्रमाणीशब्दान्त बहुव्रीहि से अप् प्रत्यय समासान्त हो। जैसे—कल्याणीपञ्चमाः। स्त्रीप्रमाणः। प्रधानपूरण्यामेवेति। 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) सूत्र में कहा गया है कि उत्तरपद पूरणी प्रत्ययान्त न हो। यहाँ पूरणीपद से प्रधान पूरणी का ग्रहण करना ही उचित

होगा, गौण पूरणी का नहीं। इसी प्रकार 'अप्पूरणीप्रमाण्योः'[८३२] (५.४.११६) इस सूत्र से बहुव्रीहि समास में पूरणी प्रत्ययान्त स्त्रीवाचक शब्द से अप् प्रत्यय का विधान किया गया है। यहाँ भी प्रधान पूरणी का ही ग्रहण करना होगा। वार्त्तिक के अनुसार पुंवद्भाव का प्रतिषेध और अप् प्रत्यय प्रधान पूरणी में ही होता है। कल्याणीपञ्चमाः रात्रयः—इस उदाहरण में 'पञ्चमी' शब्द का 'रात्रि' के साथ सम्बन्ध है यहाँ पूरणी प्रत्ययान्त पञ्चमी प्रधान है अतः पुंवद्भाव नहीं हुआ और अप् प्रत्यय हुआ है। जहाँ पूरणी प्रत्यय मुख्य नहीं है वहाँ पूर्वपद को पुंवद्भाव होकर 'कल्याणपञ्चमीकः (पक्षः)' रूप बनेगा। यहाँ 'पञ्चमी' शब्द मुख्यतः रात्रि को बोधित करता है। और रात्रि शब्द पक्ष को बोधित करता है। रात्रि गौण है, पक्ष प्रधान है। अतः रात्रि को बोधित करने वाला पूरणी प्रत्ययान्त पञ्चमी शब्द गौण है।

रूपसिद्धिः

कल्याणीपञ्चमा : (रात्रयः)

लौ० वि०—कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः। अलौ० वि०—कल्याणी सु पञ्चमी सु।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७१] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् अर्थात् दोनों सु प्रत्ययों का लोप (कल्याणी पञ्चमी)। 'अप्पूरणी०'[८३२] (५.४.११६) से अप् प्रत्यय (कल्याणी पञ्चमी अप्)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'ई' का लोप (कल्याणी पंचम)। 'अजाद्यतष्टाप्'[१७५] (४.१.४) से टाप् (आ) (कल्याणी पञ्चम आ)। प्रथमा बहुवचन में जस् (अस्)। पूर्वसवर्ण दीर्घ। शेषं पूर्ववत्। कल्याणीपञ्चमाः।

स्त्रीप्रमाणः

लौ० वि०—स्त्री प्रमाणी यस्य। अलौ० वि०—स्त्री सु प्रमाणी सु।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् लोप (स्त्री प्रमाणी)। 'अप्पूरणी०'[८३२] (५.४.११६) से 'अप्' (स्त्री प्रमाणी अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से ईकार लोप (स्त्री प्रमाण)। शेषं पूर्ववत्। स्त्रीप्रमाणः।

अन्यत्र तु

८३३. नद्यृतश्च (५.४.१५३)

नद्युत्तरपदादृदन्तोत्तरपदाच्च बहुव्रीहेः कप्स्यात्। पुंवद्भावः।

अनु०—नदी संज्ञक उत्तरपद और ऋकारान्त उत्तरपद बहुव्रीहि से कप् प्रत्यय हो।

८३४. केऽणः (७.४.१३)

के परेऽणो ह्रस्वः स्यात्। इति प्राप्ते।

अनु०—'क' शब्द के परे रहते अण् को ह्रस्व हो। ऐसा प्राप्त होने पर—

८३५. न कपि (७.४.१४)

कपि परे अणो ह्रस्वो न स्यात्। कल्याणपञ्चमीकः पक्षः। अत्र तिरोहितावयवभेदस्य पक्षस्यान्यपदार्थतया रात्रिरप्रधानम्। बहुकर्तृकः। अप्रियादिषु किम्—कल्याणी-

प्रियः । प्रिया, मनोज्ञा, कल्याणी, सुभगा, दुर्भगा, भक्तिः, सचिवा, स्वसा, कान्ता, क्षान्ता, समा, चपला, दुहिता, वामा, अबला, तनया । 'सामान्ये नपुंसकम्' दृढं भक्तिर्यस्य स दृढभक्तिः । स्त्रीत्वविवक्षायां तु दृढाभक्तिः ।

अनु०—कप् परे रहते अण् को ह्रस्व न हो । कल्याणपञ्चमीकः पक्षः—जिस पक्ष की पञ्चमी शुभ हो । यहाँ तिरोहित अवयवभेद पक्ष की अन्यपदार्थता के कारण रात्रि शब्द का अप्राधान्य कहा है । बहुकर्तृकः—जिसके बहुत से कर्ता हों । सूत्र में 'अप्रियादिषु' ऐसा क्यों कहा ?—कल्याणीप्रियः (यहाँ प्रिया शब्द परे रहते पुंवद्भाव न हो) । प्रियादि जैसे—प्रिया, मनोज्ञा, कल्याणी, सुभगा, दुर्भगा, भक्ति, सचिवा, स्वसा, कान्ता, क्षान्ता, समा, चपला, दुहिता, वामा, अबला, तनया । सामान्य में नपुंसकलिङ्ग हो—जैसे दृढं भक्तिर्यस्य सः—दृढभक्तिः । स्त्रीत्व की विवक्षा में 'दृढाभक्तिः' ऐसा पद होगा ।

व्याख्या—कप् प्रत्यय परे रहते अण् को ह्रस्व नहीं होता । जैसे—कल्याणपञ्चमीकः पक्षः ।

अत्र तिरोहितेति । 'कल्याणपञ्चमीकः पक्षः' इस उदाहरण में पक्ष अन्य पदार्थ है । वह प्रधान है । यद्यपि रात्रि का उसमें प्रवेश हो जाता है तो भी रात्रि प्रधान नहीं है क्योंकि पक्ष के अहोरात्रात्मक अवयवों को प्रकट नहीं किया गया है ।

अप्रियादिषु किमिति । जिस बहुव्रीहि समास के उत्तरपद में यदि प्रिया आदि शब्द हो तब पूर्वपद को पुंवद्भाव नहीं होता । अतः 'कल्याणीप्रियः' इस उदाहरण में, जहाँ उत्तरपद 'प्रिया' है पुंवद्भाव नहीं हुआ । 'कल्याणी प्रिया यस्य' इस विग्रह में पूर्वपद कल्याणी स्त्रीलिङ्ग है, भाषितपुंस्क (अनियतलिङ्ग) है, ऊङ् भी इसमें नहीं, उत्तरपद समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग है पर वह प्रिया आदियों में से है अतः कल्याणी को पुंवद्भाव नहीं हुआ । 'प्रिया' को 'गोस्त्रियोः०'[७५६] (१.२.४८) से ह्रस्व हुआ है ।

रूपसिद्धिः—

कल्याणपञ्चमीकः (पक्षः)

लौ० वि०—कल्याणी पञ्चमी यस्य (पक्षस्य) सः । अलौ० वि०—कल्याणी सु पञ्चमी सु ।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) से समास । प्रातिपदिक संज्ञा । सुप् लोप (कल्याणी पञ्चमी) । 'अप्पूरणी०'[८३२] (५.४.११६) सूत्र पर 'पुंवद्भावप्रतिषेधोऽप्प्रत्ययश्च प्रधानपूरण्यामेव' (वा० ३३५९—३९१०) के बल पर कल्याणी को पुंवद्भाव (कल्याणपञ्चमी) । 'नद्यृतश्च'[८३३] (५.४.१५३) से नदीसंज्ञक पञ्चमी पद से कप् (कल्याणपञ्चमीक) । 'केऽणः'[८३४] (७.४.१३) से ह्रस्व प्राप्त होने पर 'न कपि'[८३५] (७.४.१४) से ह्रस्व का निषेध । शेषं पूर्ववत् । कल्याणपञ्चमीकः ।

बहुकर्तृकः

लौ० वि०—बहवः कर्तारो यस्य सः । अलौ० वि०—बहु जस् कर्तृ जस् ।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) से समास । प्रातिपदिक संज्ञा । सुप् लोप (बहुकर्तृ) । 'नद्यृतश्च'[८३३] (५.४.१५३) से कप् प्रत्यय (बहुकर्तृक) । शेषं पूर्ववत् । बहुकर्तृकः ।

८३६ तसिलादिष्वाकृत्वसुचः (६.३.३५)

तसिलादिषु कृत्वसुजन्तेषु परेषु स्त्रियाः पुंवत्स्यात्। परिगणनं कर्तव्यम्, अव्याप्त्यति-व्याप्तिपरिहाराय। 'व्रतसौ' (वा० ३९१८)। 'तरप्तमपौ' (वा० ३९१९)। 'चरट्जातीयरौ' (वा० ३९२०)। 'कल्पब्देशीयरौ' (वा० ३९२१)। 'रूपप्पाशपौ' (वा० ३९२२)। 'थाल्' (वा० ३९२३)। 'तिल्थ्यनौ' (वा० ३९२५)। बह्वीषु बहुत्र। बहुतः। दर्शनीयतरा। दर्शनीयतमा। 'घरूप–' (सू० ९८५) इति वक्ष्यमाणो ह्रस्वः परत्वात्पुंवद्भावं बाधते। पट्वितरा। पट्वितमा। पटुचरी। पटुजातीया। दर्शनीयकल्पा। दर्शनीयदेशीया। दर्शनीयरूपा। दर्शनीयपाशा। बहुधा। प्रशस्ता वृकी वृकतिः। अजाभ्यो हिता अजथ्या। 'शसि बह्वल्पार्थस्य पुंवद्भावो वक्तव्यः' (वा० ३९२६) बह्वीभ्यो देहि बहुशः, अल्पाभ्यो देहि अल्पशः। 'त्वतलोर्गुणवचनस्य' (वा० ३९२७) शुक्लाया भावः शुक्लत्वम्, शुक्लता। गुणवचनस्य किम्—कर्व्या भावः कर्वीत्वम्। 'शरदः कृतार्थता' इत्यादौ तु सामान्ये नपुंसकम्। 'भस्याढे तद्धिते' (वा० ३९२८)। हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम्। अढे किम्-रौहिणेयः। 'स्त्रीभ्यो ढक्' (सू० ११२३) इति ढोऽत्र गृह्यते। 'अग्नेर्ढक्' (सू० १२३६) इति ढकि तु पुंवदेव। अग्नायी देवता अस्य स्थालीपाकस्य आग्नेयः। सपत्नीशब्दस्त्रिधा। शत्रुपर्यायात्सपत्नशब्दाच्छार्ङ्गरवादित्वाद् ङीन्येकः। समानः पतिर्यस्या इति विग्रहे विवाहनिबन्धनं पतिशब्दमाश्रित्य नित्यस्त्रीलिङ्गो द्वितीयः। स्वामिपर्यायपतिशब्देन भाषित-पुंस्कस्तृतीयः। आद्ययोः शिवाद्यण्। सपत्न्या अपत्यं सापत्नः। तृतीयात्तु लिङ्गविशिष्ट-परिभाषया पत्युत्तरपदलक्षणो ण्य एव न त्वण् शिवादौ रूढयोरेव ग्रहणात्। सापत्यः। 'ठक्छसोश्च' (वा० ३९२९) भवत्याश्छात्रा भावत्काः, भवदीयाः। एतद्वार्त्तिकम् 'एकतद्धिते च' (सू० १०००) इति सूत्रं च न कर्तव्यम्, 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इति भाष्यकारेष्ट्या गतार्थत्वात्। सर्वमयः। सर्वकाम्यति। सर्विका भार्या यस्य स सर्वकभार्यः। सर्वप्रिय इत्यादि। पूर्वस्यैवेदम्, 'भस्त्रैषाजाज्ञाद्वा–' (सू० ४६६) इति लिङ्गात्। तेनाकच्येकशेषवृत्तौ च न। सर्विका। सर्वाः। 'कुक्कुटचादीनामण्डादिषु' (वा० ३९३४) कुक्कुटच्या अण्डं कुक्कुटाण्डम्। मृग्याः पदं मृगपदम्। मृगक्षीरम्। काकशावः।

अनु०—तसिल् से लेकर कृत्वसुच् तक प्रत्ययों के परे रहते स्त्रीवाचक पद को पुंवद्भाव होता है। प्रत्यय कम अथवा अधिक न हों इसलिए यह गणना की गई है। प्रत्यय यथा—व्रल्, तस्, तरप्, तमप्, चरट्, जातीयर्, कल्पप्, देशीयर्, रूपप्, पाशप्, थाल्, तिल्, थ्यन्, इतने प्रत्यय तसिलादि हैं। 'बह्वीषु' इस अर्थ में बहुत्र—बहुतों में। बहुतः—बहुतों से। दर्शनीयतरा–दो में अधिक सुन्दर। दर्शनीयतमा–बहुतों में सबसे अधिक सुन्दर। यहाँ 'घरूप'० (सू० ९८५) इस वक्ष्यमाण सूत्र से ह्रस्व परत्व के कारण पुंवद्भाव को बाधता है। पट्वितरा–दो में अधिक कुशल। पट्वितमा–सबसे अधिक कुशल। पटुचरी–जो पहिले कुशल रही हो। पटुजातीया–निपुण के समान। दर्शनीयकल्पा–प्रायः दर्शनीय। दर्शनीयदेशीया–प्रायः दर्शनीय। दर्शनीयरूपा–अत्यन्त दर्शनीय। दर्शनीयपाशा–निन्दनीय सुन्दर। बहुधा—अनेक प्रकार की। वृकतिः—प्रशंसनीय भेड़िया (मादा)। अजथ्या–बकरियों के लिए लाभदायक।

'शस्' प्रत्यय परे रहते बहु और अल्पार्थक शब्द को पुंवद्भाव हो। बह्वीभ्यो देहि बहुशः—बहुत सी स्त्रियों को दो। अल्पाभ्यो देहि अल्पशः—थोड़ी सी स्त्रियों को दो।

'त्व' और 'तल्' प्रत्यय परे रहते गुणवाचक शब्द को पुंवद्भाव हो। 'शुक्लाया भावः शुक्लत्वम्, शुक्लता—श्वेत स्त्री की श्वेतता।

'गुणवचनस्य' ऐसा क्यों कहा ? कर्त्र्या भावः कर्त्रीत्वम्—कर्त्री का भाव। 'शरदः कृतार्थता' इत्यादि में सामान्य में नपुंसक लिङ्ग जानना।

'ढ' प्रत्यय से भिन्न तद्धित प्रत्यय परे रहते भसंज्ञक को पुंवद्भाव हो। हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम्—हथिनियों का झुंड।

'अढे' ऐसा क्यों कहा ? रौहिणेयः (यहां 'ढ' प्रत्यय परे रहते पुंवद्भाव न हो)।

यहाँ 'स्त्रीभ्यो ढक्' (सू० ११२३) इस सूत्र से विहित ढ प्रत्यय ही गृहीत है इसलिए 'अग्नेर्ढक्' (सू० १२३६) इस सूत्र से विहित ढक् प्रत्यय परे रहते पुंवद्भाव होगा ही। अग्नायी देवता अस्य स्थालीपाकस्य आग्नेयः— जिस स्थालीपाक की अधिष्ठात्री देवता अग्नि की स्त्री हो।

सपत्नी शब्द तीन प्रकार का है। इसमें पहला शत्रुपर्याय सपत्न शब्द के उत्तर शार्ङ्गरवादित्व के कारण ङीन् प्रत्यय वाला है, दूसरा 'समानः पतिर्यस्याः' इस विग्रह में विवाहनिबन्धन पति शब्द का आश्रयण करके निष्पन्न नित्य स्त्रीलिङ्ग है, तीसरा स्वामिपर्याय पति शब्द से निष्पन्न सपत्नी शब्द भाषितपुंस्क है। इनमें प्रथम और द्वितीय सपत्नी शब्द के उत्तर शिवादित्व के कारण अण् प्रत्यय से 'सपत्न्या अपत्यम्' इस विग्रह में 'सापत्नः' सिद्ध हुआ है। तृतीय सपत्नी शब्द के उत्तर लिङ्गविशिष्ट परिभाषा से प्रत्युत्तरपदलक्षण ण्य प्रत्यय ही होता है, शिवादि में प्रथम और द्वितीय रूढ सपत्नी शब्द के ग्रहण के कारण अण् नहीं होता, तीसरे के उत्तर ण्य होने पर 'सापत्यः' सिद्ध हुआ।

ठक् और छस् प्रत्यय परे रहते पुंवद्भाव हो। भवत्याश्छात्रा भावत्काः, भवदीयाः—आप (स्त्री) के छात्र। 'ठक्छसोश्च' (वा० ३९२९) यह वार्त्तिक और 'एकतद्धिते च'[...] (६.३.६२) यह सूत्र दोनों की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि सर्वनाम को वृत्तिमात्र में पुंवद्भाव हो, इस प्रकार भाष्यकार के अभिप्राय से दोनों गतार्थ हैं। सर्वमयः—सबसे आया हुआ अथवा सब कुछ। सर्वकाम्यति — सब स्त्रियों को चाहता है। सर्विका भार्या यस्य स सर्वकभार्यः—जिसकी पत्नी सर्विका नाम वाली हो। सर्वप्रियः इत्यादि। 'भस्त्रैषा०'[१६६] (७.३.४७) ऐसे सूत्र निर्देश के कारण पूर्वपद को ही पुंवद्भाव होता है, इसी कारण अकच् प्रत्यय और एकशेषवृत्तिविषय में पुंवद्भाव नहीं होता। जैसे—सर्विका—सभी स्त्रियाँ। सर्वाः—सभी स्त्रियाँ।

अण्डादि शब्द परे रहते कुक्कुटचादि शब्दों को पुंवद्भाव हो। जैसे—कुक्कुट्या अण्डं कुक्कुटाण्डम्—मुर्गी का अण्डा। मृग्याः पदं मृगपदम्—हरिणी का पैर। मृगक्षीरम्—हरिणी का दूध। काकशावः—मादा कौए का बच्चा।

व्याख्या—तसिल् से लेकर कृत्वसुच् तक प्रत्ययों के परे रहते स्त्रीवाचक पद को पुंवद्भाव होता है। तसिल् और कृत्वसुच् प्रत्ययों के मध्य में निर्दिष्ट प्रत्यय इस प्रकार हैं—व्रतस्, तरप्, तमप्, चरट्, जातीयर्, कल्पप्, देशीयर्, रूपप्, पाशप्, थाल्, तिल्, ध्यन्।

प्रत्यय कम अथवा अधिक न हों इसलिए यह गणना की गई है। गुणवचनस्येति। 'त्वतलोर्गुणवचनस्य' (वा० ३९२७) में गुणवचन शब्द का प्रयोग किया गया है। गुणवचन कहने से जाति, क्रिया, द्रव्य, संख्या आदि का परिहार हो जाता है। अतः कर्त्र्या भावः इस अर्थ में 'कर्त्रीत्वम्' में पुंवद्भाव नहीं हुआ क्योंकि यहां कर्त्री शब्द क्रिया निमित्त होने से गुणवचन नहीं रहा।

तब 'निरीक्ष्य मेने शरदः कृतार्थताम्' इस वाक्य में 'कृतार्थताम्' इस पद में गुणवचन न होने पर पुंवद्भाव कैसे हुआ ? उत्तर में कहा है कि 'कृतः अर्थः येन तत् कृतार्थम्' इस प्रकार सामान्याभिप्राय कृतार्थ शब्द से 'सामान्ये नपुंसकम्' (वा०५०४३) से नपुंसकलिङ्ग होकर तल् प्रत्यय, टाप् प्रत्यय लगाने पर कृतार्थता।

अढे किमिति। 'भस्याढे तद्धिते' (वा०३९२८) इस वार्त्तिक में कहा गया है कि 'ढ' भिन्न तद्धित प्रत्यय परे रहते स्त्रीवाचक को पुंवद्भाव हो। इसका अर्थ यह होगा कि ढ प्रत्यय परे रहते भसंज्ञक स्त्रीवाचक को पुंवद्भाव नहीं होता। अतः जहाँ 'रोहिण्या अपत्यम्' इस अर्थ में रोहित शब्द से ङीप् प्रत्यय लगाकर व्युत्पन्न रोहिणी शब्द से 'स्त्रीभ्यो ढक्'[११२१] (४.१.१२०) इस सूत्र से ढक् प्रत्यय हुआ है 'रौहिणेयः' रूप बनता है क्योंकि वहाँ पुंवद्भाव नहीं होता। किन्तु यदि हम 'भस्याढे तद्धिते' (वा०३९२८) इस वार्त्तिक से 'अढे' पद को हटा देते हैं तब यहाँ भी पुंवद्भाव होगा और पुंवद्भाव होने पर 'रौहितेयः' रूप बनेगा जो कि इष्ट नहीं है। अतः वार्त्तिक में कहा गया है कि 'ढ' प्रत्यय परे होने पर पुंवद्भाव नहीं होता।

'स्त्रीभ्यो ढक्' (सू० ११२३) इति ढोऽत्र गृह्यते इति। तद्धित प्रकरण में 'स्त्रीभ्यो ढक्'[११२१] (४.१.१२०) इस सूत्र के अतिरिक्त 'अग्नेर्ढक्'[१२३६] (४.२.३३) इस सूत्र से भी ढक् प्रत्यय होता है। 'भस्याढे तद्धिते' (वा०३९२८) से जिस ढक् के परे रहते पुंवद्भाव का निषेध हुआ है वह 'स्त्रीभ्यो ढक्'[११२१] (४.१.१२०) इस सूत्र से विहित ढक् है, 'अग्नेर्ढक्'[१२३६] (४.२.३३) इस सूत्र से विहित ढक् नहीं। अतः 'आग्नेयः' में 'अग्नेर्ढक्'[१२३६] (४.२.३३) से ढक् प्रत्यय करने पर 'भस्याढे तद्धिते' (वा०३९२८) से पुंवद्भाव की प्राप्ति हो जाती है।

सपत्नीशब्दस्त्रिधेति। सपत्नी शब्द तीन प्रकार से सिद्ध होता है।

१. शत्रुपर्यायवाची सपत्न शब्द से 'शार्ङ्गरवाद्यञो०'[५२७] (४.१.७३) इस सूत्र से ङीन् प्रत्यय करने पर 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से अ का लोप करने पर प्रथमा एकवचन में सपत्नी। यहाँ मूलभूत सपत्न शब्द भाषितपुंस्क है।

२. विवाहजन्य संस्कारविशेष विशिष्ट पति शब्द का आश्रय लेकर समानः पतिर्यस्याः, इस विग्रह में 'नित्यं सपत्न्यादिषु'[४९२] (४.१.३५) इस सूत्र से समान शब्द को 'स' आदेश और सपति शब्द से न का आगम। ङीप् प्रत्यय होने पर प्रथमा एकवचन में सपत्नी। यह नित्य स्त्रीलिङ्ग है।

३. 'समानः पतिर्यस्याः' इस विग्रह में स्वामि-पर्यायवाची पति शब्द से समान शब्द को स, सपति शब्द से न का आगम, ङीप् होने पर प्रथमा एकवचन में सपत्नी। यह भाषितपुंस्क है।

शिवादौ रूढयोरेव ग्रहणादिति। शत्रुपर्याय एवं विवाहनिबन्धन पति शब्द का आश्रय लेकर प्रवृत्त सपत्नी शब्द क्रमशः रूढ और योगरूढ हैं। अतः 'शिवादिभ्योऽण्'[१११५] (४.१.११२) से दोनों प्रयोगों में अण् हुआ है। किन्तु स्वामिपर्यायवाची पति शब्द का आश्रय लेकर प्रवृत्त सपत्नी शब्द विशुद्ध यौगिक है अतः यहाँ 'शिवादिभ्योऽण्'[१११५](४.१.११२) इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हुई।

एतद्वार्त्तिकमिति। 'ठक्छसोश्च' और 'एकतद्धिते च' ये दोनों व्यर्थ हैं। 'ठक्छसोश्च'—यह पुंवद्भाव विधायक वार्त्तिक है। 'एकतद्धिते च'— यह एका शब्द को तद्धित प्रत्यय एवं उत्तर पद परे रहते ह्रस्व करता है।

किन्तु उक्त वार्त्तिक और सूत्र का कार्य 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' भाष्यकार के इस वचन से ही सिद्ध हो जाता है।

भाष्यकार के कथन का अर्थ है कि समग्र समास प्रकरण में सर्वनाम शब्दों को पुंवद्भाव होता है। जैसे—सर्वमयः। यहाँ सर्वा को सर्व पुंवद्भाव हुआ है। इसी प्रकार सर्वकाम्यति में भी सर्वा को पुंवद्भाव होकर सर्व बना है।

एकशेष समास में जहाँ एक ही शब्द शेष रह जाता है वहाँ 'सर्वनाम्नो०' (वा०१३७६) से पुंवद्भाव नहीं होता। जैसे—सर्वाः। यहाँ उत्तर पद न होने से पूर्वपद का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। अतः पुंवद्भाव नहीं हुआ है। पुंवद्भाव होने पर टाप् की निवृत्ति हो जाती।

पूर्ववर्ती सर्वनाम को ही पुंवद्भाव होता है इस कथन के समर्थन में 'भस्त्रैषाजाज्ञाद्वा०'[१६६] (७.३.४७) इस सूत्र में 'एषा' और 'द्वा' इन दो पदों का समावेश ही प्रमाण है। उक्त सूत्र से अकच् प्रत्यय परे रहते विकल्प से अकार को इकार आदेश होता है। किन्तु यह आदेश स्त्रीवाचक टाप् प्रत्यय परे रहते ही होता है अन्यथा नहीं। अब 'सर्वनाम्नो०' (वा०१३७६) इस वार्त्तिक से यदि सर्वनाम पद को उत्तरपद के न रहते हुए भी पुंवद्भाव अपेक्षित था तब अकच् प्रत्यय परे रहते 'भस्त्रैषा०'[४६६] (७.३.४७) इस सूत्र से स्त्रीप्रत्ययान्त एषिका और द्विका में इत्व विधान व्यर्थ हो जाता क्योंकि पुंवद्भाव होने पर टाप् प्रत्यय की निवृत्ति हो जाने से इत्व की भी निवृत्ति हो जाती। अतः 'भस्त्रैषा०'[४६६] (७.३.४७) इस सूत्र में 'एषा',

और 'द्वा' इन सर्वनामों का समावेश व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि उत्तर पद के न होने पर सर्वनाम को पुंवद्भाव नहीं होता है।

रूपसिद्धि:

बहुत्र—बहुत अर्थ में बह्वी शब्द से 'सप्तम्यास्त्रल्'[१९५७] (५.३.१०) से त्रल् प्रत्यय (बह्वी त्र)। 'तसिलादिष्वा०'[८३६] (६.३.३५) से बह्वी को पुंवद्भाव (बहुत्र)।

बहुतः—'पञ्चम्यास्तसिल्'[१९५३] (५.३.७) से बह्वी शब्द से तसिल् प्रत्यय (बह्वी तस्)। 'तसिलादिष्वा०'[८३६] (६.३.३५) से बह्वी को पुंवद्भाव (बहुतस्)। शेषं पूर्ववत्। बहुतः।

दर्शनीयतरा—अति दर्शनीय इस अर्थ में दर्शनीया शब्द से 'द्विवचनविभज्योपपदे तरप्०'[२००५] (५.३.५७) सूत्र से तरप् प्रत्यय (दर्शनीया तर)। 'तसिलादिष्वा०'[८३६] (६.३.३५) से दर्शनीया को पुंवद्भाव (दर्शनीयतर)। स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय करने पर दर्शनीयतरा।

दर्शनीयतमा—अतिदर्शनीय इस अर्थ में दर्शनीया शब्द से 'अतिशायने तमबिष्ठनौ'[२००१] (५.३.५५) से तमप् प्रत्यय (दर्शनीया तम)। 'तसिलादिष्वा०'[८३६] (६.३.३५) से दर्शनीया को पुंवद्भाव (दर्शनीयतम)। स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय करने पर दर्शनीयतमा।

पट्वितरा—यहाँ 'द्विवचनविभज्योपपदे०'[२००५] (५.३.५७) से तरप् प्रत्यय (पट्वी तर)। यहाँ 'तसिलादिष्वा०'[८३६] (६.३.३५) से पुंवद्भाव की प्राप्ति किन्तु 'घरूप०'[१९८५] (६.३.४३) से घसंज्ञक तरप् और तमप् प्रत्ययों के परे रहते स्त्रीवाचक ईकारान्त शब्द को ह्रस्व (पट्वितर)। स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय करने पर पट्वितरा।

पट्वितमा—'अतिशायने तमबिष्ठनौ'[२००१] (५.३.५५) से पट्वी शब्द से तमप् प्रत्यय (पट्वीतम)। 'तसिलादिष्वा०'[८३६] (६.३.३५) से पुंवद्भाव प्राप्त था किन्तु 'घरूप०'[१९८५] (६.३.४३) से ह्रस्व (पट्वितम)। स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय करने पर पट्वितमा।

पटुचरी—पट्वी शब्द से 'भूतपूर्वे चरट्'[१९९९] (५.३.५३) इस निर्देश से चरट् (पट्वीचर)। 'तसिलादिष्वा०'[८३६] (६.३.३५) से पुंवद्भाव (पटुचर)। स्त्रीलिङ्ग में ङीप् करने पर पटुचरी।

पटुजातीया—पट्वी शब्द से 'प्रकारवचने जातीयर्'[२०२४] (५.३.६९) से जातीयर् प्रत्यय (पट्वीजातीय)। 'तसिलादिष्वा०'[८३६] (६.३.३५) से पुंवद्भाव (पटुजातीय)। स्त्रीलिङ्ग में पटुजातीया।

दर्शनीयकल्पा—'ईषदसमाप्तौ०'[२०२२] (५.३.६७) से दर्शनीया शब्द से कल्पप्

प्रत्यय (दर्शनीया कल्प)। 'तसिलादिष्वा०'[८३६] (६.३.३५) से पुंवद्भाव (दर्शनीय कल्प)। स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय करने पर दर्शनीयकल्पा।

दर्शनीयदेशीया—'ईषदसमाप्तौ०'[२०२२] (५.३.६७) से दर्शनीया शब्द से देशीयर् प्रत्यय (दर्शनीया देशीय)। 'तसिलादिष्वा०'[८३६] (६.३.३५) से पुंवद्भाव (दर्शनीय देशीय)। स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय करने पर दर्शनीयदेशीया।

दर्शनीयरूपा—'प्रशंसायां रूपप्'[२०२१] (५.३.६६) से रूपप् प्रत्यय (दर्शनीया रूप)। 'तसिलादिष्वा०'[८३६] (६.३.३५) से पुंवद्भाव (दर्शनीय रूप)। स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय करने पर दर्शनीयरूपा।

दर्शनीयपाशा—'याप्ये पाशप्'[१९९१] (५.३.४७) से पाशप् प्रत्यय (दर्शनीया पाश)। 'तसिलादिष्वा०'[८३६] (६.३.३५) से पुंवद्भाव (दर्शनीय पाश)। स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय करने पर दर्शनीयपाशा।

बहुथा—'प्रकारवचने थाल्'[१९७१] (५.३.२३) से थाल् प्रत्यय (बहु थ)। 'तसिलादिष्वा०'[८३६] (६.३.३५) से पुंवद्भाव (बहुथा)।

वृकतिः—'वृकज्येष्ठाभ्यां तिल्तातिलौ च च्छन्दसि'[१५०९] (५.४.४१) से प्रशंसा अर्थ में वृकी शब्द से 'ति' प्रत्यय (वृकी ति)। 'तसिलादिष्वा०'[८३६] (६.३.३५) से पुंवद्भाव (वृकति)। प्रथमा एकवचन में वृकतिः।

अजथ्या—'अजाविभ्यां थ्यन्'[१९९९] (५.१.८) से थ्यन् प्रत्यय (अजा थ्य)। 'तसिलादिष्वा०'[८३६] (६.३.३५) से पुंवद्भाव (अज थ्य)। स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय करने पर अजथ्या।

बहुशः—'बह्वल्पार्थात्०'[२१०९] (५.४.४२) से बह्वी शब्द से शस् प्रत्यय (बह्वी श)। 'शसि बह्वल्पार्थस्य पुंवद्भावो वक्तव्यः' (वा० ३९२६) से पुंवद्भाव (बहुशस्)। बहुशः।

अल्पशः—'बह्वल्पार्थात्०'[२१०९] (५.४.४२) से अल्पा शब्द से शस् प्रत्यय (अल्पा शस्)। 'शसि बह्वल्पार्थस्य०' (वा०३९२६) से अल्पा को पुंवद्भाव (अल्प शस्)। अल्पशः।

शुक्लत्वम्—शुक्ला शब्द से त्व प्रत्यय करने पर 'त्वतलोर्गुणवचनस्य' (वा० ३९२७) से शुक्ला शब्द को पुंवद्भाव (शुक्ल त्व)। शुक्लत्वम्।

शुक्लता—शुक्ला शब्द से तल् प्रत्यय करने पर 'त्वतलोर्गुणवचनस्य' (वा० ३९२७) से शुक्ला शब्द को पुंवद्भाव (शुक्ल त)। स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय करने पर शुक्लता।

हास्तिकम्—हस्तिनीनां समूहः। 'अचित्तहस्तिधेनोः०'[१२५६] (४.२.४७) से ठक् प्रत्यय (हस्तिनी ठक्)। 'ठस्येकः'[११७०] (७.३.५०) से 'ठ' को 'इक' (हस्तिनी इक)।

'भस्याढे'० (वा० ३९२८) से पुंवद्भाव (हस्तिन् इक)। 'नस्तद्धिते'[१७९] (६.४.१४४) से टि लोप (हस्त् इक)। 'किति च'[१०७९] (७.२.११८) से आदि वृद्धि (हास्तिक)। नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में हास्तिकम्।

आग्नेयः—'अग्नायी देवता अस्य' इस अर्थ में अग्नायी शब्द से 'अग्नेर्ढक्'[१२३६] (४.२.३३) से ढक् प्रत्यय। यद्यपि 'अग्नेर्ढक्'[१२३६] (४.२.३३) इस सूत्र मे पुंवाचक अग्नि शब्द से ही ढक् का विधान किया गया है तो भी "प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्ग-विशिष्टस्यापि ग्रहणम्" इस परिभाषा से पुंवाचक अग्नि शब्द से स्त्रीवाचक अग्नायी का भी ग्रहण हो जाता है। (अग्नायी ढक्)। 'भस्याढे०' (वा० ३९२८) से पुंवद्भाव (अग्नि ढ)। 'आयनेयी०'[१७५] (७.१.२) से ढ को एय (अग्नि एय)। 'यस्येति च'[१११] (६.४.१४८) से इकार लोप (अग्न् एय)। किति च'[१०७९] (७.२.११८) से आदि वृद्धि (आग्न् एय)। प्रथमा एकवचन में आग्नेयः।

सापत्नः—सपत्नी शब्द से सपत्न्या अपत्यम् इस अर्थ में 'शिवादिभ्योऽण्'[१११२] (४.१.११२) सूत्र से अण् प्रत्यय (सपत्नी अण्)। 'तद्धितेष्व०'[१०७७] (७.२.११७) से आदि वृद्धि (सापत्नी अ)। 'भस्याढे०' (वा० ३९२८) से पुंवद्भाव (सापत्न अ)। 'यस्येति च'[१११] (६.४.१४८) से 'अ' का लोप (सापत्न् अ)। प्रथमा एकवचन में सापत्नः।

सापत्यः—सपत्नी शब्द से 'दित्यदित्यादित्य०'[१०७७] (४.१.८५) से ण्य प्रत्यय (सपत्नी ण्य)। 'भस्याढे०' (वा० ३९२८) से सपत्नी को पुंवद्भाव (सपति य)। 'तद्धितेष्व०'[१०७५] (७.२.११७) से आदिवृद्धि (सापति य)। 'यस्येति च'[१११] (६.४.१४८) से इकार लोप (सापत् य)। प्रथमा एकवचन में सापत्यः।

भावत्काः—भवत्याश्छात्राः। 'भवतष्ठक्छसौ'[१२३९] (४.२.११५) से ठक् प्रत्यय (भवती ठक्)। 'ठक्छसोश्च' (वा० ३९२९) से पुंवद्भाव (भवत् ठक्)। 'ठस्येकः'[१२३०] (७.३.५०) से 'ठ' को 'इक' आदेश प्राप्त था किन्तु 'इसुसुक्तान्तात् कः'[१२३१] (७.३.५१) से क आदेश (भवत् क)। 'किति च'[१०७९] (७.२.११८) से आदि वृद्धि (भावत्क)। प्रथमा बहुवचन में भावत्काः।

भवदीयाः—'भवतष्ठक्छसौ'[१२३९] (४.२.११५) से छस् प्रत्यय (भवती छस्)। 'ठक्छसोश्च' (वा० ३९२९) से पुंवद्भाव (भवत् छस्)। 'आयनेयी०'[१७५] (७.१.२) से छ को ईय (भवत् ईय)। 'झलां जशो०'[८९] (८.२.३९) से त् को द् (भवदीय)। प्रथमा बहुवचन में भवदीयाः।

कुक्कुटाण्डम्

लौ० वि०—कुक्कुटस्य अण्डम्। अलौ० वि०—कुक्कुटी ङस् अण्ड सु।

'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) से षष्ठी समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् लोप (कुक्कुटी

अण्ड)। 'कुक्कुटाादीनामण्डादिषु' (वा० ३९३४) से पुंवद्भाव (कुक्कुट अण्ड)। सवर्ण दीर्घ (कुक्कुटाण्ड)। प्रथमा एकवचन में कुक्कुटाण्डम्।

मृगपदम्

लौ० वि०—मृग्याः पदम्। अलौ० वि०—मृगी ङस् पद सु।

'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् लोप (मृगी पद)। 'कुक्कुटाादीना०' (वा० ३९३४) से पुंवद्भाव (मृगपद) प्रथमा। एकवचन में मृगपदम्।

मृगक्षीरम्

लौ० वि०—मृग्याः क्षीरम्। अलौ० वि०—मृगी ङस् क्षीर सु।

'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् लोप (मृगी क्षीर)। 'कुक्कुटाादीना०' (वा० ३९३४) से पुंवद्भाव (मृग क्षीर)। प्रथमा एकवचन में मृगक्षीरम्।

काकशावः

लौ० वि०—काक्याः शावः। अलौ० वि०—काकी ङस् शाव सु।

'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् लोप (काकी शाव)। 'कुक्कुटाादीना०' (वा० ३९३४) से पुंवद्भाव (काक शाव)। प्रथमा एकवचन में काकशावः।

८३७. क्यङ्मानिनोश्च (६.३ ३६)

एतयोः परतः पुंवत्। एनीवाचरति एतायते। श्येनीवाचरति श्येतायते। स्वभिन्नां काञ्चिद्दर्शनीयां मन्यते दर्शनीयमानिनी। दर्शनीयां स्त्रियं मन्यते दर्शनीयमानी चैत्रः।

अनु०—क्यङ् अथवा मानिन् शब्द यदि उत्तरपद में हो तो पूर्वपद को पुंवद्भाव होता है। एतायते—जो मादा चीतल की तरह व्यवहार करता है। श्येतायते—जो मादा बाज की तरह व्यवहार करता है। दर्शनीयमानिनी—जो स्त्री दूसरी स्त्री को सुन्दर समझती है। दर्शनीयमानी चैत्रः—जो स्त्री को दर्शनीय समझता है वह चैत्र।

रूपसिद्धिः

एतायते—एनीवाचरति। श्वेतपर्यायवाची एत शब्द से 'वर्णादनुदात्ता०'[४९६] (४.१.३९) से ङीप् (ई) और एत के 'त' को 'न' (एन ई)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'अ' का लोप (एनी)। 'कर्तुः क्यङ्०'[२६६५] (३.१.११) से एनी शब्द से क्यङ् (य) (एनी य)। 'क्यङ्मानिनोश्च'[८३७] (६.३.३६.) से क्यङ् प्रत्यय परे रहते 'एनी' को

पुंवद्भाव (एत य) । 'अकृत्सार्वधातुकयोः'[२२९८] (७.४.२५) से दीर्घ (एताय) । आत्मनेपद के प्रथम पुरुष एकवचन में एतायते ।

श्येतायते—श्येनीवाचरति । श्वेतपर्यायवाची श्येत शब्द से 'वर्णादनुदात्ता०'[४९६] (४.१.३९) सूत्र से ङीप् (ई) और श्येत के 'त' को 'न' (श्येन ई) । 'यस्येति च'[३११] (६. ४. १४८) से 'अ' का लोप (श्येनी) । 'कर्तुः क्यङ्०'[२६६५] (३.१.११) से क्यङ् (य) (श्येनीय) । 'क्यङ्मानिनोश्च'[८३७] (६.३.३६) से क्यङ् प्रत्यय परे रहते 'श्येनी' को पुंवद्भाव (श्येत य) । 'अकृत्०'[२२९८] (७.४.२५) से दीर्घ (श्येताय) । आत्मनेपद के प्रथम पुरुष एकवचन में श्येतायते ।

दर्शनीयमानिनी—स्वभिन्नां काञ्चिद्दर्शनीयां मन्यते । 'मनः'[१९९२] (३.२.८२) से 'दर्शनीयाम्' सुबन्त उपपद रहते मन् धातु से णिनि (इन्) प्रत्यय (दर्शनीया अम् मन् इन्) । 'उपपदमतिङ्'[७८२] (२.२.१९) से समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप्(अम्)का लोप (दर्शनीया मन् इन्) । 'अचो ञ्णिति'[२५४] (७.२.११५) से वृद्धि (दर्शनीया मानिन्) । 'क्यङ्मानिनोश्च'[८३७] (६.३.३६) से पुंवद्भाव (दर्शनीयमानिन्) । 'ऋन्नेभ्यो ङीप्'[४०६] (४.१.५) से ङीप् (ई) (दर्शनीयमानिनी) । प्रथमा एकवचन में दर्शनीयमानिनी ।

दर्शनीयमानी—दर्शनीयां स्त्रियं मन्यते । 'मनः'[१९९२] (३.२.८२) से 'दर्शनीयाम्' सुबन्त उपपद रहते मन् धातु से णिनि (इन्) प्रत्यय (दर्शनीया अम् मन् इन्) । 'उपपदमतिङ्'[७८२] (२.२.१९) से समास । 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा । 'सुपो धातु'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (अम्) का लोप (दर्शनीया मन् इन्) । 'अचो ञ्णिति'[२५४] (७.२.११५) से उपधा दीर्घ(दर्शनीया मानिन्)। 'क्यङ्मानिनोश्च'[८३७] (६.३.३६) से पुंवद्भाव (दर्शनीयमानिन्) । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । 'स्वौजसमौट्'[१८३] (४.१.२) से सु (दर्शनीय मानिन् सु) । 'सर्वनामस्थाने०'[२५०] (६.४.८) से उपधा दीर्घ (दर्शनीय मानी न् सु) । 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप (दर्शनीय मानी न्) । 'नलोपः०'[२२६] (८.२.७) से न् लोप (दर्शनीयमानी) ।

८३८ न कोपधायाः (६.३.३७)

कोपधायाः स्त्रिया न पुंवत् । पाचिकाभार्यः । रसिकाभार्यः । मद्रिकायते । मद्रिकामानिनी । 'कोपधप्रतिषेधे तद्धितवुग्रहणम्' (वा० ३९३१) । नेह—पाका भार्या यस्य स पाकभार्यः ।

अनु०—जिसकी उपधा में 'क' है उस स्त्रीवाचक शब्द से पुंवद्भाव न हो । पाचिकाभार्यः—जिसकी भार्या रसोइया है । रसिकाभार्यः—जिसकी भार्या रसिका है । मद्रिकायते—मद्रिका के समान आचरण करती है । मद्रिकामानिनी—जो स्त्री अपने को मद्रिका समझती हो ।

तद्धितसम्बन्धी और वुसम्बन्धी[1] क की उपधा को ही पुंवद्भाव का निषेध होता है। यहाँ 'न कोपधायाः' (सू० ८३८) सूत्र से पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ है—पाका भार्या यस्य स पाकभार्यः—जिसकी पत्नी युवती है।

रूपसिद्धिः

पाचिकाभार्यः

लौ० वि०—पाचिका भार्या यस्य (बहु०) सः। अलौ० वि०— पाचिका सु भार्या सु।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) से समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (पाचिका भार्या)। यहाँ 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) से पुंवद्भाव प्राप्त हुआ 'न कोपधायाः'[८३८] (६.३.३७) से उसका निषेध। 'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४) से 'भार्या' पद की उपसर्जन संज्ञा। 'गोस्त्रियोः०'[६५६] (१.२.४८) से ह्रस्व (पाचिकाभार्य)। प्रथमा एकवचन में पाचिकाभार्यः।

रसिकाभार्यः

लौ० वि०—रसिका भार्या यस्य (बहु०) सः। अलौ० वि०—रसिका सु भार्या सु।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (सु सु) का लोप (रसिका भार्या)। 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) से पुंवद्भाव प्राप्त था किन्तु 'न कोपधायाः'[८३८] (६.३.३७) से निषेध। 'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४) से भार्या की उपसर्जन संज्ञा। 'गोस्त्रियोः०'[६५६] (१.२.४८) से ह्रस्व (रसिका भार्य)। प्रथमा एक वचन में रसिकाभार्यः।

मद्रिकायते—मद्रिका इवाचरति इस अर्थ में क्यङ् प्रत्यय हुआ है। 'क्यङ्मानिनोश्च'[८३७] (६.३.३६) से पुंवद्भाव प्राप्त हुआ। 'न कोपधायाः'[८३८] (६.३.३७) से पुंवद्भाव का निषेध।

मद्रिकामानिनी—मद्रिकां मन्यते इस अर्थ में 'क्यङ्मानिनोश्च'[८३७] (६.३.३६) से पुंवद्भाव प्राप्त हुआ। 'न कोपधायाः'[८३८] (६.३.३७) से पुंवद्भाव का निषेध हुआ है।

पाकभार्यः

लौ० वि०—पाका भार्या यस्य (बहु०) सः। अलौ० वि०—पाका सु भार्या सु।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (सु, सु) का लोप (पाका भार्या)। 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) से पुंवद्भाव (पाक भार्या)। 'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४) से भार्या की उपसर्जन संज्ञा। 'गोस्त्रियो०'[६५६]

---

१. जहाँ ण्वुल् अथवा वुन् आदि के वु को 'युवोरनाकौ'[१२४७] (७.१.१) सूत्र से अक होता है।

(१.२.४८) से भार्या को उपसर्जन ह्रस्व (पाक भार्य) । प्रथमा एकवचन में पाकभार्यः ।

यहाँ 'न कोपधायाः'[८३८] (६.३.३७) इस सूत्र से पुंवद्भाव निषेध प्राप्त था किन्तु 'कोपधप्रतिषेधे तद्धितवुग्रहणम्' (वा० ३९३१) इस वार्त्तिक में कहा है कि 'न कोपधायाः'[८३८] (६.३.३७) इस सूत्र से तद्धितसम्बन्धी अथवा वुसम्बन्धी क की उपधा को ही पुंवद्भाव का निषेध होता है ।

उक्त उदाहरण 'पाकभार्यः' में तद्धितसम्बन्धी वा वुसम्बन्धी 'क' न होकर ऑणादिक 'क' है । अतः यहाँ 'न कोपधायाः'[८३८] (६.३.३७) इस सूत्र से पुंवद्भाव का निषेध प्राप्त नहीं होता ।

८३९. संज्ञापूरण्योश्च (६.३.३८)

अनयोर्न पुंवत् । दत्ताभार्यः । दत्तामानिनी । दानक्रियानिमित्तः स्त्रियां पुंसि च संज्ञाभूतोऽयमिति भाषितपुंस्कत्वमस्ति । पञ्चमीभार्यः । पञ्चमीपाशा ।

अनु०—संज्ञा शब्दों को और पूरणप्रत्ययान्त शब्दों को पुंवद्भाव नहीं होता है। **दत्ताभार्यः**—जिसकी भार्या का नाम दत्ता हो । **दत्तामानिनी**—जो स्त्री अपने को दत्ता समझती हो । स्त्रीलिङ्ग और पुंल्लिङ्ग में दानक्रियानिमित्त संज्ञाभूत दत्ता शब्द भाषितपुंस्क है । **पञ्चमीभार्यः**—जिसकी पत्नी पाँचवीं हो । **पञ्चमीपाशा**—निन्दनीया पाँचवीं ।

व्याख्या—दानक्रियानिमित्त इति । 'दत्त' शब्द भाषितपुंस्क है क्योंकि इसका प्रयोग तीनों लिङ्गों में होता है । अतः दत्ताभार्यः और दत्तामानिनी इन उदाहरणों में क्रमशः 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) और 'क्यङ्मानिनोश्च'[८३७] (६.३.३६) इन सूत्रों से पुंवद्भाव प्राप्त था, 'संज्ञापूरण्योश्च'[८३९] (६.३.३८) से उसका निषेध हुआ है ।

रूपसिद्धिः

दत्ताभार्यः

अलौ० वि०—दत्ता भार्या यस्य (बहु०)। **अलौ० वि०**—दत्ता सु भार्या सु।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८१०] (२.२.२४) से समास । प्रातिपदिक संज्ञा । सुप् (सु, सु प्रत्ययों) का लोप (दत्ता भार्या) । 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) से पुंवद्भाव प्राप्त था 'संज्ञापूरण्योश्च'[८३९] (६.३.३८) से निषेध। 'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४) से 'भार्या' शब्द की उपसर्जन संज्ञा । 'गोस्त्रियो०'[६५६] (१.२.४८) से भार्या को ह्रस्व (दत्ताभार्य) शेषं पूर्ववत् । दत्ताभार्यः ।

दत्तामानिनी—'दत्तां मन्यते' इस विग्रह में 'क्यङ्मानिनोश्च'[८३७] (६.३.३६) से पुंवद्भाव प्राप्त था । 'संज्ञापूरण्योश्च'[८३९] (६.३.३८) से निषेध हुआ है । शेषं पूर्ववत् । दत्तामानिनी ।

पञ्चमीभार्यः—**लौ० वि०**—पञ्चमी भार्या यस्य (बहु०) सः । **अलौ० वि०**—पञ्चमी सु भार्या सु । यहाँ 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) से पञ्चमी को पुंवद्भाव

प्राप्त था। 'संज्ञापूरण्योश्च'[८३९] (६.३.३८) से उसका निषेध हुआ है। शेषं पूर्ववत्। पञ्चमीभार्यः।

पञ्चमीपाशा—यहाँ निन्दा अर्थ में पाशप् प्रत्यय। 'तसिलादिष्वा०'[८३६] (६.३.३५) से पुंवद्भाव प्राप्त था, 'संज्ञापूरण्योश्च'[८३९] (६.३.३८) से उसका निषेध हुआ है।

८४०. वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे (६.३.३९)

वृद्धिशब्देन विहिता या वृद्धिस्तद्धेतुर्यस्तद्धितोऽरक्तविकारार्थस्तदन्ता स्त्री न पुंवत्। स्रौघ्नीभार्यः। माथुरीयते। माथुरीमानिनी। वृद्धिनिमित्तस्य किम्—मध्यमभार्यः। तद्धितस्य किम्–काण्डलावभार्यः। वृद्धिशब्देन किम्—तावद्भार्यः। रक्ते तु काषायी कन्था यस्य स काषायकन्थः। विकारे तु हैमी मुद्रिका यस्येति हैममुद्रिकः। वृद्धिशब्देन वृद्धिं प्रति फलोपधानाभावादिह पुंवत्–वैयाकरणभार्यः, सौवश्वभार्यः।

अनु०—वृद्धि शब्द से जिस वृद्धि का विधान किया गया है, उस वृद्धि का कारण जो रक्त और विकार अर्थ से भिन्न तद्धित प्रत्यय, तदन्त (वह जिसके अन्त में है उस) स्त्रीवाचक शब्द को पुंवद्भाव न हो। स्रौघ्नीभार्यः—जिसकी भार्या स्रुघ्न नगर की हो। माथुरीयते—जो स्त्री मथुरावासिनी स्त्री की तरह आचरण करती है। माथुरीमानिनी–जो स्त्री अपने को मथुरावासिनी समझती है। (सूत्र में) 'वृद्धिनिमित्तस्य' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि जहाँ तद्धित प्रत्यय वृद्धि का निमित्त नहीं है वहाँ पुंवद्भाव का निषेध न हो। जैसे—) मध्यमभार्यः—जिसकी भार्या मझली है। (सूत्र में) 'तद्धितस्य' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि यदि वृद्धिनिमित्तक प्रत्यय तद्धित का नहीं है तब पुंवद्भाव का निषेध नहीं होता। जैसे—) काण्डलावभार्यः—जिसकी भार्या डण्टल काटने वाली है। (सूत्र में) 'वृद्धिशब्देन' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि जहाँ वृद्धि शब्द से नहीं कही गई वहाँ पुंवद्भाव का निषेध न हो। जैसे—) तावद्भार्यः—जिसकी भार्या उतनी हैं। रक्तार्थ तद्धित प्रत्यय के होने पर भी (पुंवद्भाव का निषेध न हो) जैसे—काषायकन्थः—जिसकी कथरी गेरुआ रंग की है। विकारार्थक तद्धित प्रत्यय के होने पर भी (पुंवद्भाव का निषेध न हो) जैसे—हैममुद्रिकः—जिसकी अँगूठी सुवर्ण की है। वृद्धि की प्राप्ति होने पर ही नहीं किन्तु वृद्धि के फलीभूत होने पर यह सूत्र प्रवृत्त होता है अतः वैयाकरणभार्यः (जिसकी भार्या व्याकरण जानने वाली है) और सौवश्व-भार्यः (जिसकी भार्या सुन्दर घोड़े वाले पुरुष की सन्तान है) में पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ।

व्याख्या—वृद्धिनिमित्तस्य किमिति। सूत्र में 'वृद्धिनिमित्तस्य' का समावेश इसलिए किया गया है कि जहाँ तद्धित प्रत्यय वृद्धि का निमित्त नहीं है वहाँ पुंवद्भाव का निषेध न हो। जैसे—मध्यमभार्यः। लौ० वि०—मध्यमा भार्या यस्य (बहु०) सः। अलौ० वि०—मध्यमा सु भार्या सु। यहाँ मध्य शब्द से 'मध्यान्मः'[१६७८] (३.३.८) सूत्र से म प्रत्यय लगाकर स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय करके 'मध्यमा' शब्द बना है। यह तद्धितप्रत्यय 'म' वृद्धिनिमित्तक नहीं है। अतः 'वृद्धिनिमित्तस्य च'[८४०] (६.३.३९) इस सूत्र से पुंवद्भाव

निषेध नहीं होता। यहाँ 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) से पुंवद्भाव होकर मध्यमभार्यः रूप बनता है।

तद्धितस्य किमिति। सूत्र में कहा है कि वृद्धिनिमित्तिक प्रत्यय तद्धित का ही होना चाहिए तभी पुंवद्भाव का निषेध हो। यदि वृद्धिनिमित्तक प्रत्यय तद्धित का नहीं है तब पुंवद्भाव का निषेध नहीं होता। जैसे—काण्डलावभार्यः। यहाँ काण्डलू पद से 'कर्मण्यण्'[२९१३] (३.२.१) इस सूत्र से कृत्प्रत्यय अण् हुआ है जो कि णित् होने के कारण वृद्धि का कारण है। यह अण् तद्धितभिन्न कृत्प्रत्यय है अतः काण्डलावीपद में 'वृद्धिनिमित्तस्य०'[८४०] (६.३.३९) इस सूत्र से पुंवद्भाव निषेध नहीं होता। यहां 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) इस सूत्र से पुंवद्भाव होने पर 'काण्डलावभार्यः' बना है।

वृद्धिशब्देन किमिति। तावद्भार्यः—तावती भार्या यस्य सः। इस विग्रह में तत् शब्द से वतुप् करने पर 'तत्' के 'त्' को 'आ सर्वनाम्नः'[४६०] (६.३.६१) इस सूत्र से 'आ' होकर सवर्ण दीर्घ करने पर तावत् ; ङीप् (ई), तावती। 'तावती' शब्द में 'तत्' के 'त्' को जो 'आ' का आदेश हुआ है उसे वृद्धि शब्द से नहीं कहा गया। अतः 'वृद्धिनिमित्तस्य चा०'[८४०] (६.३.३९) से पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ। किन्तु तावती शब्द को 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) से पुंवद्भाव होकर 'तावद्भार्यः रूप बनता है। रक्ते त्विति। सूत्र में 'अरक्तविकारे' कहा है। इसका अर्थ यह है कि तद्धित प्रत्यय रक्तार्थक व विकारार्थक नहीं होना चाहिए। यदि तद्धित प्रत्यय रक्तार्थक व विकारार्थक है तो उक्त सूत्र प्रवृत्त नहीं होता अर्थात् वहाँ पुंवद्भाव का निषेध नहीं होता। जैसे—रक्त अर्थ में—काषायकन्थः। काषायी कन्था यस्य सः। यहाँ कषायेन रक्ता इस अर्थ में 'तेन रक्तं रागात्'[१२०२] (४.२.१) से अण् प्रत्यय हुआ। यहाँ रक्त अर्थ में अण् प्रत्यय हुआ है जो कि वृद्धि का निमित्त है अतः 'वृद्धिनिमित्तस्य०'[८४०] (६.३.३९) से पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ। 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) से पुंवद्भाव होकर 'काषायकन्थः' रूप बनता है। इसी प्रकार हैममुद्रिकः। हैमी मुद्रिका यस्य सः। यहाँ विकार अर्थ में अञ् प्रत्यय हुआ है। अतः 'वृद्धिनिमित्तस्य०'[८४०] (६.३.३९) से पुंवद्भाव निषेध नहीं हुआ। 'स्त्रियाः पुंवद्०'[८३१] (६.३.३४) से पुंवद्भाव होकर हैममुद्रिकः रूप बनता है।

वृद्धिशब्देन वृद्धि प्रतीति। वृद्धि की प्राप्ति होने पर ही नहीं किन्तु वृद्धि के फलीभूत होने पर ही 'वृद्धिनिमित्तस्य चा०'[८४०] (६.३.३९) यह सूत्र प्रवृत्त होता है। जैसे—वैयाकरणभार्यः। वैयाकरणी भार्या यस्य सः।

व्याकरणमधीते वेत्ति वा इस विग्रह में 'तदधीते तद्वेद'[१२६५] (४.२.५९) से व्याकरण शब्द से अण् प्रत्यय। यहाँ 'अण्' प्रत्यय के णित् होने के कारण 'तद्धितेष्वचामादेः'[१०७१] (७.२.११७) से आदिवृद्धि प्राप्त थी किन्तु 'न य्वाभ्यां०'[१०९८] (७.३.३) से वृद्धि का निषेध और 'य' से पहले ऐच् का आगम होकर 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'अ' का लोप होने पर वैयाकरण रूप बना। स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय करने पर वैयाकरणी।

यहाँ तद्धित अण् प्रत्यय के णित् होने के कारण आदिवृद्धि प्राप्त थी किन्तु 'न य्वाभ्याम्०'[१०९८] (७.३.३) से उसका निषेध हो गया है। अतः वृद्धि के फलीभूत न होने पर 'वृद्धिनिमित्तस्य०'[८४०] (६.३.३९) यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता है। क्योंकि यहाँ वृद्धि नहीं हुई अतः यहाँ पुंवद्भाव निषेध नहीं होता।

सौवश्वभार्यः। सौवश्वी भार्या यस्य सः। यहाँ 'स्वश्वस्यापत्यम्' इस अर्थ में स्वश्व शब्द से 'अत इञ्'[११९५] (४.१.९५) से प्राप्त इञ् को बाधित करके 'शिवादिभ्योऽण्'[१११] (४.१.११२) से अण् प्रत्यय। अण् प्रत्यय के णित् होने के कारण आदि वृद्धि प्राप्त थी जिसका 'न य्वाभ्याम्०'[१०९८] (७.३.३) से निषेध हुआ है। यहाँ 'व' से पूर्व 'औ' का आगम होने पर सौवश्व अण्। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से अकार लोप होकर सौवश्व, स्त्रीलिङ्ग में ङीप् (ई) प्रत्यय लगाकर प्रथमा एकवचन में सौवश्वी।

यहाँ तद्धित अण् प्रत्यय के णित् होने के कारण 'तद्धितेष्व०'[१०७५] (७.२.११७) से आदिवृद्धि प्राप्त थी किन्तु 'न य्वाभ्याम्०'[१०९८] (७.३.३) से उसका निषेध हुआ है। वृद्धि की प्राप्ति होने पर ही नहीं किन्तु वृद्धि के फलीभूत होने पर ही 'वृद्धिनिमित्तस्य०'[८४०] (६.३.३९) प्रवृत्त होता है। क्योंकि यहाँ तद्धित प्रत्यय निमित्तक आदिवृद्धि नहीं हुई अतः यहाँ पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ।

रूपसिद्धिः

स्रौघ्नीभार्यः—लौ० वि०—स्रौघ्नी भार्या यस्य (बहु०) सः। अलौ० वि०—स्रौघ्नी सु भार्या सु।

'तत्र भवः'[१४२८] (४.३.५३) से स्रुघ्न शब्द से अण् प्रत्यय (स्रुघ्न अ)। 'तद्धितेष्व०'[१०७५] (७.२.११७) से अण् के णित् होने के कारण आदि वृद्धि (स्रौघ्न अ) 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से स्रौघ्न के अन्त्य 'अ' का लोप (स्रौघ्न)। 'टिड्ढाणञ्०'[१७०] (४.१.१५) से ङीप् (ई) (स्रौघ्न ई)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'अ' लोप (स्रौघ्नी)। 'अनेकमन्यपदार्थे'[८१०] (२.२.२४) से 'स्रौघ्नी' का 'भार्या' शब्द के साथ समास। 'कृत्तद्धित०'[१७९] (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६१०] (२.४.७१) से सुप् (सु, सु प्रत्ययों) का लोप (स्रौघ्नी भार्या)। 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) से पुंवद्भाव प्राप्त किन्तु 'वृद्धिनिमित्तस्य०'[८४१] (६.३.३९) से निषेध। 'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४) से 'भार्या' की उपसर्जन संज्ञा। 'गोस्त्रियो०'[६५६] (१.२.४८) से भार्या को ह्रस्व (स्रौघ्नी भार्य)। शेषं पूर्ववत्। स्रौघ्नीभार्यः।

माथुरीयते—माथुरीव आचरति इस अर्थ में माथुरी शब्द से 'कर्तुः क्यङ्'[३६६५] (३.१.११) से क्यङ् प्रत्यय। यहाँ 'क्यङ्मानिनोश्च'[८३७] (६.३.३६) से पुंवद्भाव प्राप्त था। 'वृद्धिनिमित्तस्य०'[८४०] (६.३.३९) से उसका निषेध हुआ है।

माथुरीमानिनी—माथुरीं मन्यते इस विग्रह में 'क्यङ्मानिनोश्च'[८३७] (६.३.३६) इस सूत्र से माथुरी शब्द को पुंवद्भाव प्राप्त था। 'वृद्धिनिमित्तस्य०'[८४०] (६.३.३९) इस सूत्र से पुंवद्भाव का निषेध हुआ है।

८४१. स्वाङ्गाच्चेतः (६.३.४०)

स्वाङ्गाद्य ईकारस्तदन्ता स्त्री न पुंवत्। सुकेशीभार्यः। स्वाङ्गात् किम्—पटुभार्यः। ईतः किम्-अकेशभार्यः। 'अमानिनीति वक्तव्यम्' (वा० ३९३२) सुकेशमानिनी।

अनु०—स्वाङ्गवाची शब्द से परे जो ईकार वह जिसके अन्त में है उस स्त्रीवाचक शब्द को पुंवद्भाव नहीं होता है। सुकेशीभार्यः—जिसकी भार्या सुन्दर बालों वाली है। (सूत्र में) 'स्वाङ्गात्' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि जहाँ ईकारान्त पूर्वपद स्वाङ्गवाची नहीं है वहाँ उक्त सूत्र से पुंवद्भाव निषेध न हो। जैसे—) पटुभार्यः—जिसकी भार्या निपुण है। (सूत्र में) 'ईतः' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि जहाँ स्वाङ्गवाची शब्द ईकारान्त न हो वहाँ उक्त सूत्र से पुंवद्भाव निषेध न हो। जैसे—) अकेशभार्यः—जिसकी भार्या बिना बालों वाली है।

'मानिन् शब्द परे रहते 'स्वाङ्गाच्चेतः' इस सूत्र से प्राप्त पुंवद्भाव निषेध नहीं होता है।'

सुकेशमानिनी—जो स्त्री अपने को सुन्दर बालों वाला मानती है।

व्याख्या—स्वाङ्गात् किमिति। 'स्वाङ्गाच्चेतः'[८४१] (६.३.४०) इस सूत्र में स्वाङ्ग शब्द का ग्रहण इसलिए किया गया है कि जहाँ ईकारान्त पूर्वपद स्वाङ्गवाची नहीं है वहाँ उक्त सूत्र से पुंवद्भाव निषेध नहीं होगा जैसा कि 'पट्वी भार्या यस्य' इस विग्रह में पुंवद्भाव का निषेध न होकर 'पटुभार्यः' रूप बना है। क्योंकि 'पटु' स्वाङ्गवाची शब्द नहीं है अतः 'स्वाङ्गाच्चेतः'[८४१] (६.३.४०) यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) इससे यहाँ पुंवद्भाव हुआ है।

ईतः किमिति। 'स्वाङ्गाच्चेतः'[८४१] (६.३.४०) इस सूत्र में 'ईतः' शब्द का ग्रहण इसलिए किया गया है कि जहाँ स्वाङ्गवाची पूर्वपद ईकारान्त नहीं है वहाँ उक्त सूत्र से पुंवद्भाव निषेध नहीं होता। अतः अकेशा भार्या यस्य इस विग्रह में पुंवद्भाव का निषेध न होकर 'अकेशभार्यः' रूप बना है। क्योंकि 'अकेशा' ईकारान्त पद नहीं है अतः 'स्वाङ्गाच्चेतः'[८४१] (६.३.४०) यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) से यहाँ पुंवद्भाव हुआ है।

रूपसिद्धिः

सुकेशीभार्यः—लौ० वि०—सुकेशी भार्या यस्य (बहु०) सः। अलौ० वि०—सुकेशी सु भार्या सु।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (सु,सु प्रत्ययों) का लोप (सुकेशी भार्या)। 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) से पुंवद्भाव प्राप्त।

'स्वाङ्गाच्चेतः'[८४१](६.३.४०) से निषेध(सुकेशी भार्या)। 'एकविभक्ति०'[६५५](१.२.४४) से भार्या की उपसर्जन संज्ञा। 'गोस्त्रियो०'[६५६] (१.२.४८) से ह्रस्व (सुकेशीभार्य)। शेषं पूर्ववत्। सुकेशीभार्यः।

सुकेशमानिनी—सुकेशीं मन्यते इस अर्थ में मानिनी शब्द परे रहते 'स्वाङ्गाच्चेतः'[८४१] (६.३.४०) से प्राप्त पुंवद्भाव निषेध नहीं हुआ।

८४२. जातेश्च (६.३.४१)

जातेः परो यः स्त्रीप्रत्ययस्तदन्तं न पुंवत्। शूद्राभार्यः। ब्राह्मणीभार्यः सौवस्यैवायं निषेधः। तेन हस्तिनीनां समूहो हास्तिकमित्यत्र 'भस्याढे—'(वा० ३९२८) इति तु भवत्येव।

अनु०—जातिवाचक शब्द से परे जो स्त्री प्रत्यय वह जिसके अन्त में है उस पद को पुंवद्भाव नहीं होता। शूद्राभार्यः—जिसकी भार्या शूद्रा है। ब्राह्मणीभार्यः—जिसकी भार्या ब्राह्मणी है। 'जातेश्च' इस सूत्र से प्राप्त पुंवद्भाव का ही निषेध होता है। (वार्त्तिक प्राप्त पुंवद्भाव का नहीं)। हास्तिकम्[1] (हथिनियों का झुंड)—यहाँ 'भस्याढे०' (वा० ३९२८) इस वार्त्तिक से पुंवद्भाव हुआ है।

रूपसिद्धिः

शूद्राभार्यः—लौ० वि०—शूद्रा भार्या यस्य (बहु०) सः। अलौ० वि०—शूद्रा सु भार्या सु।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८१०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (सु, सु) प्रत्यय का लोप (शूद्रा भार्या)। 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) से शूद्रा को पुंवद्भाव प्राप्त। 'जातेश्च'[८४२](६.३.४१) से निषेध। 'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४) से भार्या की उपसर्जन संज्ञा। 'गोस्त्रियो०'[६५६] (१.२.४८) से भार्या को ह्रस्व होकर(शूद्राभार्य)। शेषं पूर्ववत्। शूद्राभार्यः।

ब्राह्मणीभार्यः — लौ० वि०—ब्राह्मणी भार्या यस्य(बहु०) सः। अलौ० वि०—ब्राह्मणी सु भार्या सु।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८१०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (सु, सु) प्रत्यय का लोप (ब्राह्मणी भार्या)। 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) से ब्राह्मणी को पुंवद्भाव प्राप्त। 'जातेश्च'[८४२] (६.३.४१) से निषेध। 'एकविभक्ति०'[६५५] (१.२.४४) से भार्या की उपसर्जन संज्ञा। 'गोस्त्रियो'०[६५६] (१.२.४८) से उपसर्जन ह्रस्व होकर (ब्राह्मणीभार्य)। शेषं पूर्ववत्। ब्राह्मणीभार्यः।

८४३. संख्याव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये (२.२.२५)

संख्येयार्थया संख्यया अव्ययादयः समस्यन्ते स बहुव्रीहिः। दशानां समीपे ये सन्ति ते उपदशाः। नव एकादश वेत्यर्थः। 'बहुव्रीहौ संख्येये–' (सू० ८५१) इति वक्ष्यमाणो डच्।

---

१. हास्तिकम् की सिद्धि के लिए द्रष्टव्य पृ० सं० २१६।

अनु०—अव्यय, आसन्न, अदूर, अधिक, संख्या इन सुबन्त शब्दों का एक आदि सुबन्त शब्द के साथ बहुव्रीहि समास होता है। उपदशाः—दस के लगभग, नौ या ग्यारह। 'बहुव्रीहौ संख्येये०' (सू० ८५१) इस वक्ष्यमाण सूत्र से डच् प्रत्यय होता है।

रूपसिद्धिः

उपदशाः—लौ० वि०—दशानां समीपे ये सन्ति। अलौ० वि०—दशन् आम् उप।

'संख्ययाव्यय०'[८४३] (२.२.२५) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (आम्) प्रत्यय का लोप (दशन् उप)। 'उप' की उपसर्जन संज्ञा। 'उप' का पूर्व प्रयोग (उप दशन्)। 'बहुव्रीहौ संख्येये०'[८५१] (५.४.७३) से डच् (उपदशन् डच्)। 'नस्तद्धिते०'[६७९] (६.४.१४४) से टि लोप (उपदश् अ)। प्रथमा विभक्ति बहुवचन में उपदशाः।

८४४. ति विंशतेर्डिति (६.४.१४२)

विंशतेर्भस्य तिशब्दस्य लोपः स्याड्डिति। आसन्नविंशाः विंशतेरासन्ना इत्यर्थः। अदूरत्रिंशाः। अधिकचत्वारिंशाः। द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः। द्विरावृत्ता दश द्विदशाः, विंशतिरित्यर्थः।

अनु०—भसंज्ञक विंशति शब्द के ति का लोप होता है डित् प्रत्यय परे रहते। आसन्नविंशाः—बीस के लगभग उन्नीस या इक्कीस। अदूरत्रिंशाः—तीस के लगभग उन्तीस या इकतीस। अधिकचत्वारिंशाः—एकतालीस। द्वित्राः—दो या तीन। द्विदशाः—बीस।

रूपसिद्धिः

आसन्नविंशाः—लौ० वि०—विंशतेरासन्नाः। अलौ० वि०—विंशति जस् आसन्न जस्।

'संख्ययाव्यय०'[८४३] (२.२.२५) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (जस्, जस्) प्रत्यय का लोप (विंशति आसन्न)। आसन्न शब्द की उपसर्जन संज्ञा और उसका पूर्व प्रयोग (आसन्न विंशति)। 'बहुव्रीहौ संख्येये०'[८५१] (५.४.७३) से डच् (आसन्न विंशति अ)। 'ति विंशते०'[८४४] (६.४.१४२) से ति का लोप (आसन्नविंश अ)। 'अतो गुणे'[१९१] (६.१.९७) से पररूप (आसन्नविंश)। प्रथमा बहुवचन में आसन्नविंशाः।

अदूरत्रिंशाः

लौ० वि०—त्रिंशतः अदूराः। अलौ० वि०—त्रिंशत् जस् अदूर जस्।

'संख्ययाव्यय०'[८४३] (२.२.२५) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (जस्, जस्) का लोप (त्रिंशत् अदूर)। 'अदूर' की उपसर्जन संज्ञा और पूर्व प्रयोग (अदूर त्रिंशत्)। 'बहुव्रीहौ०'[८५१] (५.४.७३) से डच् (अ) प्रत्यय (अदूरत्रिंशत् अ)। टि लोप (अदूरत्रिंश)। प्रथमा बहुवचन में अदूरत्रिंशाः।

अधिकचत्वारिंशाः

लौ०वि०—चत्वारिंशतोऽधिकाः। अलौ० वि—चत्वारिंशत् जस् अधिक जस्।

'संख्ययाव्यय०'[८४३] (२.२.२५) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (जस्, जस्) प्रत्यय का लोप (चत्वारिंशत् अधिक)। अधिक की उपसर्जन संज्ञा। उपसर्जनसंज्ञक अधिक का पूर्व प्रयोग (अधिक चत्वारिंशत्)। 'बहुव्रीहौ संख्येये०'[८५१] (५.४.७३) से डच् (अ) (अधिक चत्वारिंशत् अ)। टि लोप (अधिक चत्वारिंश)। प्रथमा बहुवचन में अधिकचत्वारिंशाः।

द्वित्राः

लौ० वि०—द्वौ वा त्रयो वा। अलौ० वि०—द्वि औ त्रि जस्।

'संख्ययाव्यय०'[८४३] (२.२.२५) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (औ, जस्) प्रत्यय का लोप (द्वि त्रि)। 'बहुव्रीहौ०'[८५१] (५.४.७३) से डच् (द्वि त्रि अ)। टि लोप (द्वित्र)। प्रथमा बहुवचन में द्वित्राः।

द्विदशाः

'द्विरावृत्ता दश' इस अर्थ में 'संख्ययाव्यय०'[८४३] (२.२.२५) से समास। 'बहुव्रीहौ०'[८५१] (५.४.७३) से डच् प्रत्यय होकर प्रथमा बहुवचन में द्विदशाः रूप बनता है।

८४५. दिङ्नामान्यन्तराले (२.२.२६)

दिशो नामान्यन्तराले वाच्ये प्राग्वत्। दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोऽन्तरालं दक्षिणपूर्वा। नामग्रहणाद्यौगिकानां न। ऐन्द्र्याश्च कौबेर्याश्चान्तरालं दिक्।

अनु०—दिशाओं के नामों का समास होता है यदि उनकी मध्य दिशा विवक्षित हो। दक्षिणपूर्वा—दक्षिण और पूर्व। (सूत्र में) नाम शब्द के ग्रहण से प्रतीत होता है कि दिग्वाची यौगिक शब्दों से बहुव्रीहि समास नहीं होता है। (जैसे—) ऐन्द्र्याश्च कौबेर्याश्चान्तरालं दिक्।

व्याख्या—नामग्रहणादिति। 'दिङ्नामान्यन्तराले'[८४५] (२.२.२६) इस सूत्र में 'नाम' शब्द के ग्रहण से प्रतीत होता है कि दिग्वाची रूढि शब्दों से ही बहुव्रीहि समास होता है दिग्वाची शब्दों से नहीं। अतः ऐन्द्र्याश्च कौबेर्याश्चान्तरालं दिक् इस विग्रह में समास नहीं होगा क्योंकि ऐन्द्री और कौबेरी—ये दिशाओं के नाम क्रमशः इन्द्र और कुबेर से प्रवृत्त होकर यौगिक हैं रूढ़ नहीं हैं।

रूपसिद्धिः

दक्षिणपूर्वा—लौ० वि०—दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोऽन्तरालम्। अलौ० वि०—दक्षिणा ङस् पूर्वा ङस्।

'दिङ्नामा०'[८४५] (२.२.२६) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (ङस्, ङस्) प्रत्ययों का लोप (दक्षिण पूर्वा)। 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे०' (वा०१३७६) से दक्षिणा शब्द को पुंवद्भाव (दक्षिण पूर्वा)। प्रथमा एकवचन में दक्षिणपूर्वा।

८४६. तत्र तेनेदमिति सरूपे (२.२.२७)

सप्तम्यन्ते ग्रहणविषये सरूपे पदे तृतीयान्ते च प्रहरणविषये इदं युद्धं प्रवृत्तमित्यर्थे समस्येते कर्मव्यतिहारे द्योत्ये स बहुव्रीहिः। इतिशब्दादयं विषयविशेषो लभ्यते। 'अन्येषामपि दृश्यते' (सू० ३५३९) दीर्घ इत्यनुवर्तते। इचि कर्मव्यतिहारे बहुव्रीहौ पूर्वपदान्तस्य दीर्घः। इच्समासान्तो वक्ष्यते। तिष्ठद्गुप्रभृतिष्विच्प्रत्ययस्य पाठादव्ययीभावत्वमव्ययत्वं च। केशेषु केशेषु गृहीत्वेदं युद्धं प्रवृत्तं केशाकेशि। दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्येदं युद्धं प्रवृत्तं दण्डादण्डि। मुष्टीमुष्टि।

अनु०—ग्रहणवाचक समानरूपी सप्तम्यन्त पदों का और प्रहरणवाची तृतीयान्त पदों का 'युद्ध प्रवृत्त हुआ है' इस अर्थ में बहुव्रीहि समास होता है यदि परस्पर ग्रहण और परस्पर प्रहरण (=कर्मव्यतिहार) द्योत्य हों। इति शब्द से ग्रहण और प्रहरण विषयों का अध्याहार होता है। 'अन्येषामपि दृश्यते' (सू० ३५३९) से दीर्घ की अनुवृत्ति होती है। इच् परे रहते कर्मव्यतिहार द्योत्य होने पर बहुव्रीहि समास में पूर्व पद को दीर्घ हो जाता है। इच् प्रत्यय समासान्त प्रकरण में कहा जायेगा। तिष्ठद्गु सूची में इच् प्रत्यय का पाठ होने के कारण इच् प्रत्ययान्त शब्द भी अव्ययीभाव और अव्यय होंगे। केशाकेशि—जिस युद्ध में एक दूसरे के बालों को पकड़कर लड़ें। दण्डादण्डि—जिस युद्ध में लाठी का प्रहार करके लड़ें। मुष्टीमुष्टि—जिस युद्ध में घूसों का प्रहार करके लड़ें।

व्याख्या—कर्मव्यतिहारे इति। बहुव्रीहि समास में परस्पर करण व परस्पर क्रिया में ही पूर्व पद के अन्त को दीर्घ होता है।

तिष्ठद्गुप्रभृतिष्विति। तिष्ठद्गु सूची में इच् प्रत्यय भी आता है अतः इच् प्रत्ययान्त शब्द भी 'तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च'[६७१] (२.१.१७) इस सूत्र से अव्ययीभाव होंगे। अव्ययीभाव होने पर 'अव्ययीभावश्च'[४५१] (१.१.४१) सूत्र से उनकी अव्यय संज्ञा और 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सुप् का लोप होगा।

रूपसिद्धिः

केशाकेशि—लौ० वि०—केशेषु केशेषु गृहीत्वेदं युद्धं प्रवृत्तम्। अलौ० वि०—केश सुप् केश सुप्।

'तत्र तेनेदमिति सरूपे'[८४६] (२.२.२७) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (सुप् सुप्) प्रत्यय का लोप (केश केश)। 'अन्येषामपि दृश्यते'[३५३९] (६.३.१३७) सूत्र से पूर्व पदान्त को दीर्घ (केशा केश)। 'इच् कर्मव्यतिहारे'[८६६] (५.४.१२७) से इच् (केशा केश इच्)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'अ' लोप (केशा केशि)। प्रथमा एकवचन में सु (केशाकेशि सु)। अव्यय होने के कारण 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु का लोप (केशाकेशि)।

दण्डादण्डि

लौ० वि०—दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्येदं युद्धं प्रवृत्तम्। अलौ० वि०—दण्ड भिस् दण्ड भिस्।

'तत्र तेनेदमिति सरूपे'[८४६] (२.२.२७) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप्(भिस्, भिस्)प्रत्यय का लोप (दण्ड दण्ड)। 'अन्येषामपि दृश्यते'[३५३९] (६.३.१३७) से पूर्व पदान्त को दीर्घ (दण्डा दण्ड)। 'इच् कर्मव्यतिहारे'[८६६] (५.४.१२७) से इच् (दण्डा दण्ड इच्)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'अ' का लोप (दण्डा दण्डि)। प्रथमा एकवचन में सु (दण्डादण्डि सु)। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप (दण्डादण्डि)।

मुष्टीमुष्टि

लौ० वि०—मुष्टया मुष्टया प्रहृत्येदं युद्धं प्रवृत्तम्। अलौ० वि०—मुष्टि टा मुष्टि टा।

'तत्र तेनेदमिति०'[८४६] (२.२.२७) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (टा, टा) प्रत्यय का लोप (मुष्टि मुष्टि)। 'अन्येषामपि दृश्यते'[३५३९] (६. ३.१३७) से पूर्व पद को दीर्घ (मुष्टी मुष्टि)। 'इच् कर्मव्यतिहारे'[८६६] (५.४.१२७) से इच् (मुष्टी मुष्टि इच्)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'इ' का लोप (मुष्टी मुष्टि)। प्रथमा एकवचन में सु(मुष्टीमुष्टि सु)। 'अव्ययादाप्सुपः'[४५२] (२.४.८२) से सु लोप(मुष्टीमुष्टि)।

८४७. ओर्गुणः (६.४.१४६)

उवर्णान्तस्य भस्य गुणः स्यात्तद्धिते। अवादेशः। बाहूबाहवि। 'ओरोत्' इति वक्तव्ये गुणोक्तिः 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' (प० ९४) इति ज्ञापयितुम्। तेन स्वायम्भुव इत्यादि सिद्धम्। सरूपे इति किम्—हलेन मुसलेन।

अनु०—भसंज्ञक उवर्णान्त प्रातिपदिक को गुण होता है तद्धित प्रत्यय परे रहते। अवादेश होता है। बाहूबाहवि—जिस युद्ध में भुजाओं का प्रहार करके लड़ें। 'ओरोत्' कहना ही पर्याप्त था, तब 'ओर्गुणः' ऐसा कथन साभिप्राय है। "संज्ञानिर्देशपूर्वक विधीयमान कार्य नित्य नहीं होता" इस बात को ज्ञापित करने के लिए सूत्र में 'गुण' शब्द का समावेश किया गया है। अतः 'स्वायम्भुवः' आदि सिद्ध होते हैं। 'सरूपे' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि जहाँ पद समान रूप नहीं हैं वहाँ समास न हो। जैसे—) हलेन मुसलेन।

व्याख्या—ओरोदिति। 'ओर्गुणः'[८४७] (६.४.१४६) इस सूत्र के स्थान पर 'ओरोत्' कहना ही पर्याप्त था, तब 'ओर्गुणः' ऐसा कथन साभिप्राय है। "संज्ञानिर्देशपूर्वक विधीयमान कार्य नित्य नहीं होता" इस परिभाषा सूत्र को ज्ञापित करने के लिए सूत्र में 'गुण' शब्द का समावेश किया है। अतः 'स्वायम्भुवः' में स्वयम्भु अण् इस स्थिति में गुण न होकर उवङ् हुआ है। आदिवृद्धि होने पर प्रथमा एकवचन में स्वायम्भुवः।

सरूप इति किम्। 'तत्र तेनेदमिति सरूपे'[८४६] (२.२.२७) इस सूत्र में 'सरूपे' पद का ग्रहण इसलिए हुआ है कि ग्रहणविषयक सप्तम्यन्त और प्रहरणविषयक तृतीयान्त पद समान रूप होने चाहिएँ। यदि वे समान रूप नहीं हैं तब उक्त सूत्र से समास नहीं होता है। जैसे—हलेन मुसलेन। ये दोनों पद असरूप हैं अतः समास नहीं हुआ।

रूपसिद्धिः

बाहूबाहवि—लौ० वि०—बाहौ बाहौ च प्रहृत्येदं युद्धं प्रवृत्तम्। अलौ० वि०—बाहु ङि बाहु ङि।

'तत्र तेनेदमिति सरूपे'[८४६] (२.२.२७) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (ङि,ङि) प्रत्यय का लोप (बाहु बाहु)। 'अन्येषामपि दृश्यते'[३५१९] (६.३.१३७) से पूर्व पदान्त को दीर्घ (बाहू बाहु)। 'इच् कर्मव्यतिहारे'[८६६] (५.४.१२७) से इच् (बाहू बाहु इच्)। 'ओर्गुणः'[८६७] (६.४.१४६) से गुण (बाहू बाहो इ)। 'एचोऽय०'[६१] (६.१.७८) से अव् आदेश (बाहू बाहव् इ)। प्रथमा एकवचन में सु (बाहूबाहवि सु)। 'अव्ययादाप्सुपः'[८५२] (२.४.८२) से सु लोप (बाहूबाहवि)।

८४८. तेन सहेति तुल्ययोगे (२.२.२८)

तुल्ययोगे वर्तमानं सह इत्येतत्तृतीयान्तेन प्राग्वत्।

अनु०—तुल्ययोग में वर्तमान सह पद का तृतीयान्त के साथ समास होता है।

८४९. वोपसर्जनस्य (६.३.८२)

बहुव्रीहेरवयवस्य सहस्य सः स्याद्वा। पुत्रेण सह सपुत्रः, सहपुत्रो वा आगतः। तुल्ययोगवचनं प्रायिकम्। सकर्मकः। सलोमकः।

अनु०—बहुव्रीहि के अवयवभूत 'सह' को 'स' आदेश हो विकल्प से। सपुत्रः, सहपुत्रः—पुत्र के साथ आया। कहीं कहीं तुल्ययोग न होने पर भी सह के साथ समास होता है। सकर्मकः—कर्म के साथ। सलोमकः—रोएँ के साथ।

व्याख्या—तुल्ययोगवचनमिति। 'तेन सहेति तुल्ययोगे'[८४८] (२.२.२८) इस सूत्र में कहा है कि तुल्ययोग होने पर ही तृतीयान्त पद का सह शब्द के साथ समास होता है किन्तु कहीं कहीं तुल्ययोग न होने पर भी सह शब्द के साथ समास मिलता है। जैसे—सकर्मकः। यहाँ 'सकर्मकः' का अर्थ 'विद्यमानकर्मकः' है। तुल्ययोग न होने पर भी समास हुआ है। इसी प्रकार 'सलोमकः' इसमें भी सह का प्रयोग तुल्ययोग के अर्थ में नहीं हुआ है। तो भी यह समस्त पद मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि साहित्यकार तृतीयान्त के साथ 'सह' शब्द का समास करने में तुल्ययोग पर बल नहीं देते हैं।

रूपसिद्धिः

सपुत्रः—लौ०वि०—पुत्रेण सह। अलौ० वि०—पुत्र टा सह।

'तेन सहेति०'[८४८] (२.२.२८) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (टा) प्रत्यय

का लोप (पुत्र सह)। 'सह' की उपसर्जन संज्ञा और उसका पूर्व प्रयोग (सह पुत्र)। 'वोपसर्जनस्य'[८४९] (६.३.८२) से विकल्प से सह को 'स' भाव (स पुत्र)। प्रथमा एकवचन में सपुत्रः। पक्ष में—सहपुत्रः।

८५०. प्रकृत्याशिषि (६.३.८३)

सहशब्दः प्रकृत्या स्यादाशिषि। स्वस्ति राज्ञे सहपुत्राय, सहामात्याय। 'अगोवत्सहलेष्विति वाच्यम्' (वा० ३९९०) सगवे। सवत्साय। सहलाय।

अनु०—आशीर्वचन में सह शब्द को परिवर्तन नहीं होता है। (जैसे—) स्वस्ति राज्ञे सहपुत्राय, सहामात्याय—पुत्र तथा मन्त्री के साथ राजा का कल्याण हो। 'स्वस्ति वाचक शब्द का योग होने पर भी गो, वत्स अथवा हल शब्द के परे रहते सह शब्द को प्रकृतिभाव नहीं होता अर्थात् 'सह' को 'स' में परिवर्तन हो जाता है।' (जैसे—) (स्वस्ति राज्ञे) सगवे सवत्साय, सहलाय—गाय के साथ, बछड़े के साथ, हल के साथ।

८५१. बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् (५.४.७३)

संख्येये यो बहुव्रीहिस्तस्माड्डच् स्यात्। उपदशाः। अबहुगणात् किम्—उपबहवः, उपगणाः। अत्र स्वरे विशेषः। 'संख्यायास्तत्पुरुषस्य वाच्यः' (वा० ३३४८) निर्गतानि त्रिंशतो निस्त्रिंशानि वर्षाणि चैत्रस्य। निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यो निस्त्रिंशः खड्गः।

अनु०—'संख्ययाव्यया०' (सू० ८४३) से विहित बहुव्रीहि समास से डच् प्रत्यय होता है किन्तु बहु, गण शब्दों से नहीं। उपदशाः—दस के लगभग, उन्नीस या इकतीस। (सूत्र में) 'अबहुगणात्' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि जहां बहु और गण शब्द हों वहाँ डच् प्रत्यय न हो। (जैसे—) उपबहवः—लगभग बहुत। उपगणाः—लगभग बहुत। यहाँ स्वर में विशेषता है। 'संख्यान्त तत्पुरुष को समासान्त डच् होता है।' निर्गतानि त्रिंशतो निस्त्रिंशानि वर्षाणि चैत्रस्य—चैत्र नामक व्यक्ति के तीस वर्ष से अधिक दिन हो गये। निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यो निस्त्रिंशः खड्गः—तीस अङ्गुल से बड़ी तलवार।

व्याख्या—अबहुगणात्किमिति। 'बहुव्रीहौ संख्येये०'[८५१] (५.४.७३) इस सूत्र में कहा है कि बहु, गण शब्दों से भिन्न संख्यावाचक बहुव्रीहि से डच् प्रत्यय होता है। अतः जहां बहु अथवा गण शब्द अन्त में है उस बहुव्रीहि से डच् प्रत्यय नहीं होगा। जैसे—उपबहवः। उपगणाः।

अत्र स्वरे इति। उपबहवः, उपगणाः इन प्रयोगों में डच् प्रत्यय नहीं हुआ है। किन्तु डच् प्रत्यय होने पर भी यही रूप बनता। तो भी डच् के 'च्' की इत्संज्ञा होने के कारण यहां अन्तोदात्त होता। 'डच्' न होने से यहां पूर्वपद में उदात्त स्वर हुआ है।

रूपसिद्धिः

उपदशाः—लौ० वि०—दशानां समीपे ये सन्ति। अलौ० वि०—दशन् आम् उप।[1]

उपबहवः

लौ० वि०—बहूनां समीपे ये सन्ति। अलौ० वि०—बहु आम् उप।

'बहुगणवतुडति०'[२५८] (१.१.२३) से बहु शब्द की संख्या संज्ञा। 'संख्ययाव्यया०'[८४३] (२.२.२५) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (आम्) प्रत्यय का लोप (बहु उप)। 'उप' की उपसर्जन संज्ञा और उसका पूर्व प्रयोग (उप बहु)। 'बहुव्रीहौ संख्येये०'[८५१] (५.४.७३) इस डच् विधायक सूत्र में "अबहुगणात्" इस कथन के अनुसार यहां डच् प्रत्यय नहीं हुआ है। प्रथमा बहुवचन में जस् (अस्) (उप बहु अस्)। 'ओर्गुणः'[८४७] (६.४.१४६) से गुण (उपबहो अस्)। 'एचोऽय०'[६१] (६.१.७८) से अवादेश (उपबहव स्)। शेषं पूर्ववत्। उपबहवः।

उपगणाः

लौ० वि०—गणस्य समीपे ये सन्ति। अलौ० वि०—गण ङस् उप।

'बहुगण०'[२५८] (१.१.२३) से गण शब्द की संख्या संज्ञा। 'संख्ययाव्यय०'[८४३] (२.२.२५) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप्(ङस्)प्रत्यय का लोप (गण उप)। उप की उपसर्जन संज्ञा और उसका पूर्व प्रयोग (उप गण)। 'बहुव्रीहौ०'[८५१] (५.४.७३) इस डच् विधायक सूत्र में 'अबहुगणात्' इस कथन के अनुसार उपगण शब्द से डच् प्रत्यय नहीं हुआ है। प्रथमा बहुवचन में जस् प्रत्यय(उपगण अस्)। 'प्रथमयोः पूर्व०'[१६४] (६.१.१०२) से पूर्वसवर्णदीर्घ (उपगणा स्)। शेषं पूर्ववत्। उपगणाः।

निर्स्त्रशानि

लौ० वि०—निर्गतानि त्रिंशतः। अलौ० वि०—त्रिंशत् ङसि निस्।

'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे०' (वा० १३३९) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (ङसि) प्रत्यय का लोप। निस् की उपसर्जन संज्ञा। उपसर्जन संज्ञक निस् का पूर्व प्रयोग (निस् त्रिंशत्)। 'संख्यायास्तत्पुरुषस्य वाच्यः' (वा० ३३४८) से डच् (निस्त्रिंशत् अ)। 'टेः'[११६](६.४.१४३)से टि लोप (निस्त्रिंश)। निस्त्रिंश शब्द से नपुंसक लिङ्ग के प्रथमा बहुवचन में निस्त्रिंशानि। पुंल्लिङ्ग प्रथमा एकवचन में निस्त्रिंशः।

८५२. बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच् (५.४.११३)

व्यत्ययेन षष्ठी। स्वाङ्गवाचिसक्थ्यक्ष्यन्ताद्बहुव्रीहेः षच्स्यात्। दीर्घे सक्थिनी यस्य स दीर्घसक्थः। जलजाक्षी। 'स्वाङ्गात्' किम्—दीर्घसक्थि शकटम्। स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः। 'अक्ष्णोऽदर्शनात्' (सू० ६४४) इत्यच्।

अनु०—व्यत्यय से षष्ठी का प्रयोग हुआ है। स्वाङ्गवाची सक्थि और अक्षि शब्द

---

१. उपदशाः की रूपसिद्धि के लिए द्रष्टव्य पृ० २२७

जिस शब्द के अन्त में हों ऐसे बहुव्रीहि से षच् प्रत्यय समासान्त हो। दीर्घसक्थः—जिसकी जाँघें लम्बी हों। जलजाक्षी—जिस स्त्री की आंखें कमल के समान हों। (सूत्र में) स्वाङ्गात् ऐसा क्यों कहा ? (इसलिए कि स्वाङ्गवाची सक्थि और अक्षि शब्दों के न होने पर षच् न हो। जैसे—) दीर्घसक्थि शकटम्—जिस गाड़ी के फड़ लम्बे हों। स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः—बड़ी आंखों वाली बाँस की छड़ी। 'अक्ष्णोऽदर्शनात्' (सू० ९४४) इस सूत्र से अच् प्रत्यय होता है।

व्याख्या—व्यत्ययेन षष्ठीति। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्'[८५२](५.४.११३) इस सूत्र के 'सक्थ्यक्ष्णोः' इस पद में पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग हुआ है।

षच् के षकार और चकार इत्संज्ञक हैं, केवल अकार बचता है। ष् इत् होने का फल तदन्त शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'षिद्गौरादिभ्यश्च'[४९८] (४.१.४१) इस सूत्र से ङीष् प्रत्यय होना है।

स्वाङ्गात्किमिति। "सक्थि अक्षि शब्द स्वाङ्गवाची होने चाहिएँ" ऐसा इसलिए कहा गया है कि दीर्घसक्थि शकटम् और स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः इनमें षच् प्रत्यय न हो। 'दीर्घे सक्थिनी यस्य', 'स्थूले अक्षिणी यस्याः' इन विग्रहों में बहुव्रीहि समास हुआ है। 'दीर्घसक्थि शकटम्' इसमें शकट प्राणी नहीं है इसलिए उसके सक्थि की स्वांग संज्ञा नहीं होती। अतः 'बहुव्रीहौ०'[८५२] (५.४.११३) से षच् प्रत्यय नहीं हुआ है। स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः। यहां वेणुयष्टि प्राणी नहीं है, उसके अक्षि की स्वाङ्ग संज्ञा नहीं होती। अतः 'बहुव्रीहौ०'[८५२] (५.४.११३) से षच् प्रत्यय नहीं हुआ है। 'अक्ष्णोऽदर्शनात्'[९४४] (५.४.७६) से समासान्त अच् प्रत्यय होकर 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'इ' का लोप होने पर 'स्थूलाक्ष' यह अकारान्त शब्द बना। तब स्त्रीलिङ्ग में 'अजाद्यतष्टाप्'[४५४] (४.१.४) से टाप् (आ) प्रत्यय होकर आकारान्त 'स्थूलाक्षा' शब्द बना।

यदि यहाँ षच् प्रत्यय करते तब षित् होने के कारण स्त्रीलिङ्ग में 'षिद्गौरादिभ्यश्च'[४९८] (४.१.४१) से ङीष् प्रत्यय होता जो कि इष्ट नहीं है।

अच् और षच् का अन्तर यह है कि षच् होने पर षित् होने के कारण स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होता है और अच् होने पर ङीष् न होकर टाप् (आ) होता है।

रूपसिद्धिः

दीर्घसक्थः—लौ० वि०—दीर्घे सक्थिनी यस्य। अलौ० वि०—दीर्घ औ सक्थि औ। 'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (औ, औ) का लोप (दीर्घ सक्थि)। 'बहुव्रीहौ०'[८५२] (५.४.११३) से षच् (दीर्घ सक्थि षच्)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'इ' लोप (दीर्घ सक्थ)। प्रथमा एकवचन में दीर्घसक्थः।

जलजाक्षी

लौ० वि०—जलजे इव अक्षिणी यस्याः। अलौ० वि०—जलज औ अक्षि औ।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८१०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (औ, औ) का लोप (जलज अक्षि)। 'बहुव्रीहौ'०[८५२] (५.४.११३) से षच् (अ) (जलज अक्षि अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'इ' का लोप (जलज अक्ष)। 'अकः सवर्णे०'[८५] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (जलजाक्ष)। 'षिद्गौरा०'[४९८] (४.१.४१) से ङीष् (ई) प्रत्यय (जलजाक्ष ई)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'अ' लोप (जलजाक्षी)। प्रथमा एकवचन में जलजाक्षी।

८५३. अङ्गुलेर्दारुणि (५.४.११४)

अङ्गुल्यन्ताद्बहुव्रीहेः षच्स्याद्दारुण्यर्थे। पञ्च अङ्गुलयो यस्य तत्पञ्चाङ्गुलं दारु। अङ्गुलिसदृशावयवं धान्यादिविक्षेपणकाष्ठमुच्यते। बहुव्रीहेः किम्—द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्या द्वयङ्गुला यष्टिः। तद्धितार्थे तत्पुरुषे 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः—' (सू० ७८६) इत्यच्। दारुणि किम्—पञ्चाङ्गुलिर्हस्तः।

अनु०—दारु (लकड़ी) के अर्थ में अङ्गुल्यन्त बहुव्रीहि से षच् होता है। पञ्चाङ्गुलं दारु—पाँच अंगुलियों वाली लकड़ी। पञ्चाङ्गुल एक काष्ठ विशेष की संज्ञा है जिसका आकार अङ्गुलि के सदृश होता है जो धान आदि को धूप में बिखेरने के लिए काम में आता है। (सूत्र की वृत्ति में) 'बहुव्रीहेः' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि जहां बहुव्रीहि समास नहीं है वहाँ षच् प्रत्यय नहीं होगा। जैसे—) द्वयङ्गुला यष्टिः—दो अंगुल की छड़ी। तद्धितार्थ तत्पुरुष में 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः०'[७८६] (५.४.८६) इस सूत्र से अच् प्रत्यय होता है। (सूत्र में) 'दारुणि' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि जब पाँच अंगुलियाँ लकड़ी की न हों, प्राणी की हों, तब वहाँ षच् न हो। जैसे—) पञ्चाङ्गुलिः (हस्तः)—पांच अंगुलियों वाला हाथ।

व्याख्या—बहुव्रीहेः किमिति। 'अङ्गुलेर्दारुणि'[८५३] (५.४.११४) इस सूत्र की वृत्ति में 'बहुव्रीहिः' इस पद का समावेश इसलिए किया गया है कि जहाँ बहुव्रीहि समास नहीं है वहाँ षच् प्रत्यय नहीं होगा। जैसे—द्वयङ्गुला यष्टिः। यहाँ द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्याः इस विग्रह में तद्धित प्रत्यय मात्रच् के अर्थ में 'द्वे अङ्गुली' (लौ० वि०) द्वि औ अङ्गुलि औ' (अलौ० वि०) इन पदों का 'तद्धितार्थोत्तरपद०'[७२८] (२.१.५१) से तत्पुरुष समास हुआ है। इसलिए यहाँ बहुव्रीहि समास न होने के कारण षच् नहीं हुआ है। यहां 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः०'[७८६] (५.४.८६) इस सूत्र से समासान्त अच् प्रत्यय होता है।

दारुणि किमिति। 'अङ्गुलेर्दारुणि'[८५३] (५.४.११४) इस सूत्र में 'दारुणि' शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि जब पाँच अङ्गुलियाँ लकड़ी की न हों, प्राणी की हों, तब वहाँ षच् न हो जैसे—पञ्चाङ्गुलिः हस्तः।

रूपसिद्धिः

पञ्चाङ्गुलम्—लौ० वि०—पञ्च अङ्गुलयो यस्य तत्। अलौ० वि०—पञ्चन् जस् अङ्गुलि जस्।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (जस्, जस्) का लोप (पञ्चन् अङ्गुलि)। 'नलोपः०'[२२६] (८.२.७) से 'न्' लोप (पञ्च अङ्गुलि) 'अकः सवर्णे०'[८१] (६.१.१०१) से सवर्ण दीर्घ (पञ्चाङ्गुलि)। 'अङ्गुलेर्दारुणि'[८५१] (५.४.११४) से षच् (अ) (पञ्चाङ्गुलि अ)। 'यस्येति च'[११९] (६.४.१४८) से इकार लोप (पञ्चाङ्गुल)। नपुंसकलिङ्ग के प्रथमा एकवचन में पञ्चाङ्गुलम्।

८५४. द्वित्रिभ्यां ष मूर्धनः (५.४.११५)

आभ्यां मूर्धनः षः स्याद्बहुव्रीहौ। द्विमूर्धः। त्रिमूर्धः। 'नेतुर्नक्षत्रे अब्वक्तव्यः' (वा० ३३६०)। मृगो नेता यासां ता मृगनेत्रा रात्रयः। पुष्यनेत्राः।

अनु०—द्वि और त्रि शब्दों से परे मूर्धन् शब्द को बहुव्रीहि समास में समासान्त 'ष' प्रत्यय हो। द्विमूर्धः—जिसके दो सिर हों। त्रिमूर्धः—जिसके तीन सिर हों। 'नक्षत्र अर्थ में विद्यमान जो नेतृ शब्द तदन्त बहुव्रीहि से अप् हो।' मृगनेत्रा रात्रयः—जिन रातों का नेता अर्थात् व्यवस्थापक, जिसकी स्थिति से रात्रि के समय का ज्ञान होता है, मृगशीर्ष नामक नक्षत्र हो। पुष्यनेत्राः—जिन रातों का नेता पुष्य नक्षत्र हो।

रूपसिद्धिः

द्विमूर्धः—लौ० वि०—द्वौ मूर्धानौ यस्य सः। अलौ० वि०—द्वि औ मूर्धन् औ।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४)से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (औ, औ) का लोप (द्वि मूर्धन्)। 'द्वित्रिभ्यां०'[८५४] (५.४.११५) से ष प्रत्यय (द्विमूर्धन् ष)। 'षः प्रत्ययस्य'[१४७४] (१.३.६) से प्रत्यय के आदि 'ष्' का लोप (द्विमूर्धन् अ)। 'नस्तद्धिते'[६७९] (६.४.१४४) से टि का लोप (द्विमूर्ध अ)। प्रथमा एकवचन में द्विमूर्धः। इसी प्रकार त्रिमूर्धः।

मृगनेत्राः (रात्रयः)

लौ० वि०—मृगो नेता यासां ताः। अलौ० वि०—मृग सु नेतृ सु।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (सु, सु) का लोप (मृग नेतृ)। 'नेतुर्नक्षत्रे०' (वा० ३३६०) से अप् (मृगनेतृ अप्)। 'इको यणचि'[४७] (६.१.७७) से ऋ को र् (मृगनेत्र)। प्रथमा बहुवचन में मृगनेत्राः। इसी प्रकार पुष्यनेत्राः।

८५५. अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः (५.४.११७)

आभ्यां लोम्नोऽप्स्याद्बहुव्रीहौ। अन्तर्लोमः। बहिर्लोमः।

अनु०—बहुव्रीहि समास में अन्तर् और बहिस् शब्दों से परे लोमन् शब्द को अप् समासान्त प्रत्यय हो। अन्तर्लोमः—जिस वस्त्र के रोयें भीतर हों। बहिर्लोमः—जिस वस्त्र के रोयें बाहर हों।

रूपसिद्धिः

अन्तर्लोमः—लौ० वि०—अन्तर् लोमानि यस्य सः । अलौ० वि०—अन्तर् लोमन् जस् ।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८१०] (२.२.२४) से समास । प्रातिपदिक संज्ञा । सुप् का लोप (अन्तर् लोमन्) । 'अन्तर्बहिर्भ्यां०'[८५५] (५.४.११७) से अप् (अन्तर् लोमन् अप्) । 'नस्तद्धिते'[६७९] (६.४.१४४) से टि लोप (अन्तर् लोम) । प्रथमा एकवचन में अन्तर्लोमः । इसी प्रकार बहिर्लोमः ।

८५६. अञ्नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात् (५.४.११८)

नासिकान्ताद्बहुव्रीहेरच्स्यान्नासिकाशब्दश्च नसं प्राप्नोति न तु स्थूलपूर्वात् ।

अनु०—नासिकान्त बहुव्रीहि से अच् प्रत्यय होता है और नासिका शब्द को नस आदेश होता है यदि पूर्व पद 'स्थूल' न हो ।

८५७. पूर्वपदात्संज्ञायामगः (८.४.३)

पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य नस्य णः स्यात्संज्ञायां न तु गकारव्यवधाने । द्रुरिव नासिका यस्य द्रुणसः । खरणसः । अगःकिम्—ऋचामयनम् ऋगयनम् । 'अणृगयनादिभ्यः' (सू० १४५२) इति निपातनाण्णत्वाभावमाश्रित्य अग इति प्रत्याख्यातं भाष्ये । अस्थूलात् किम्—स्थूलनासिकः । 'खुरखराभ्यां वा नस्' (वा० ३३६३) । खुरणाः । खरणाः 'पक्षेऽजपीष्यते' । खुरणसः । खरणसः ।

अनु०—पूर्वपद में स्थित रेफ-षकारात्मक निमित्त से परे न को ण होता है संज्ञा में, 'ग' के व्यवधान में नहीं । द्रुणसः—जिसकी नाक वृक्ष के समान हो । खरणसः—जिसकी नाक नुकीली हो । (सूत्र में) 'अगः' ऐसा क्यों कहा ?—ऋचामयनम् ऋगयनम् (मन्त्रों का घर) । (इसलिए कि गकार का व्यवधान होने पर 'न' को 'ण' न हो ।) भाष्य में "अणृगयनादिभ्यः' (सू० १४५२) इस निपातन से यहाँ णत्व के अभाव का आश्रयण करके 'अग' इस अंश का प्रत्याख्यान किया है । (अञ् नासिकायाः (सू० ८५६) में अस्थूलात् ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि स्थूल शब्द पूर्व में रहते नस् आदेश न हो) । स्थूलनासिकः—जिसकी नाक मोटी हो । खुर और खर शब्द से परे स्थित नासिका शब्द को विकल्प से नस् आदेश हो । खुरणाः—जिसकी नाक खुर के समान चिपटी हो । खरणाः—जिसकी नाक नुकीली हो । पक्ष में अच् भी होगा । खुरणसः—जिसकी नाक चिपटी हो । खरणसः—जिसकी नाक नुकीली हो ।

व्याख्या—अगः किमिति । 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः'[८५७] (८.४.३) इस सूत्र में कहा है कि यदि 'ग' का व्यवधान न हो तब पूर्वपद में स्थित रेफ षकारादि निमित्त से परे न को ण हो यदि समस्त पद किसी की संज्ञा हो । 'ग' का व्यवधान होने पर न को ण नहीं होगा । अतः 'ऋचामयनम्' ऋगयनम् इस समस्त पद में न को ण नहीं हुआ । किन्तु

महाभाष्यकार ने उक्त सूत्र में 'अगः' पद को अनावश्यक कहा है क्योंकि 'अणृगयनादिभ्यः'[१४५२] (४.३.७३) इस सूत्र में 'ऋगयन' पद नकारान्त है इसी ज्ञापक से 'न' को 'ण' नहीं हुआ। अतः सूत्र में 'अगः' पद व्यर्थ हो जाता है।

अस्थूलात् किमिति। जहाँ पूर्वपद स्थूल हो वहाँ नासिकान्त बहुव्रीहि से अच् और नासिका शब्द को नस् नहीं होता। जैसे स्थूलनासिकः।

८५८. उपसर्गाच्च (५.४.११९)

प्रादेर्यो नासिकाशब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेरच् नासिकाया नसादेशश्च। असंज्ञार्थमिदं वचनम्। उन्नता नासिका यस्य स उन्नसः।

अनु०—प्रादि उपसर्ग से परे जो नासिका शब्द, वह है अन्त में जिसके उस बहुव्रीहि से अच् प्रत्यय होता है और नासिका को नस् आदेश होता है। जब समस्त शब्द संज्ञा का बोधक न हो तब यह सूत्र प्रवृत्त होता है। उन्नसः—जिसकी नाक ऊँची हो।

व्याख्या—असंज्ञार्थमिदं वचनमिति। 'अञ् नासिकायाः०'[८५९] (५.४.११८) इस सूत्र से अच् का विधान और नासिका को नस् का आदेश हो सकता था किन्तु वह सूत्र तब प्रवृत्त होता है जबकि समस्त पद किसी संज्ञा का बोधक हो। प्रस्तुत सूत्र 'उपसर्गाच्च'[८५८] (५.४.११९) का क्षेत्र 'अञ् नासिकायाः'०[८५९] (५.४.११८) इस सूत्र से भिन्न है क्योंकि यह सूत्र तब प्रवृत्त होता है जब समस्त शब्द संज्ञा का बोधक न हो।

रूपसिद्धि:

उन्नसः—लौ० वि०—उन्नता नासिका यस्य सः। अलौ० वि०—उत् नासिका सु।

'अनेकमन्यपदार्थे०'[८३०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप (उत् नासिका)। 'उपसर्गाच्च'[८५८] (५.४.११९) से अच् और नासिका को नस् आदेश (उत् नस् अ)। प्रथमा एकवचन में उन्नसः।

८५९. उपसर्गादनोत्परः (८.४.२८)

इति सूत्रम्। तद्ध्रुङ्क्त्वा भाष्यकार आह—उपसर्गाद्बहुलम्। उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य नसो नस्य णः स्याद्बहुलम्। प्रणसः। 'वेर्ग्रो वक्तव्यः' (वा० ३३६५)। विगता नासिका यस्य विग्रहः। 'ल्यश्च' (वा० ३३६६)। विख्यः। कथं तर्हि 'विनसा हतबान्धवा' इति भट्टिः। विगतया नासिकयोपलक्षितेति व्याख्येयम्।

अनु०—[उपसर्ग से परे न को ण होता है किन्तु ओकार से परे अथवा ओकार परे रहते नहीं होता।] उपसर्गस्थित रेफ षकार आदि निमित्त से परे न को बहुलतया ण

होता है। प्रणसः—जिसकी नाक उत्तम हो। 'वि' से परे नासिका शब्द को 'ग्र' आदेश होता है। विग्रः—जिसकी नाक कट गई हो। 'वि' से परे नासिका शब्द को ख्य आदेश होता है। विख्यः—जिसकी नाक कट गई हो। भट्टिकाव्य में 'विनसा हतबान्धवा' इस वाक्य में 'विनसा' का प्रयोग कैसे हुआ है? (उत्तर में कहा है कि) 'विगतया नासिकया उपलक्षिता' इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिए।

व्याख्या—उपसर्ग से परे न को ण होता है किन्तु ओकार से परे अथवा ओकार परे रहते नहीं होता।

किन्तु इस नियम से 'प्र नो नय' यहाँ प्र के परवर्ती न को ण नहीं होता क्योंकि न के परे ओ पड़ा है जबकि न को ण होना इष्ट है। दूसरी ओर 'प्र नः पूषा' यहाँ 'नः' से पूर्व अथवा परे ओ न होने के कारण न को ण प्राप्त हो जाता है जब कि वह इष्ट नहीं है। अतः भाष्यकार ने 'उपसर्गादनोत्परः'[८५९] (८.४.२८) इस सूत्र का योगविभाग किया है। इस सूत्र को (१) उपसर्गात् और (२) अनोत्परः इन दो विभागों में बांटा है। पहले विभाग 'उपसर्गात्' के साथ 'बहुलम्' को जोड़कर 'उपसर्गाद्बहुलम्' इस सूत्र का निर्माण किया है। इस पहले विभाग का अर्थ होगा—उपसर्गस्थित रेफ षकार आदि निमित्त से परे न को बहुलतया ण होता है। 'बहुलम्' ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि कहीं न को ण होता है और कहीं नहीं होता। जैसे—प्रणसः—प्रगता नासिका यस्य सः। इस विग्रह में बहुव्रीहि समास हुआ है। 'उपसर्गाच्च'[८५८] (५.४.११९) से अच् और नासिका को नस् आदेश (प्र गता नस् अ)। 'प्रादिभ्यो धातुजस्य'०(वा० १३६०) से वैकल्पिक 'गत' शब्द का लोप (प्रनस)। 'उपसर्गाद्बहुलम्'—से न को ण। प्रथमा एकवचन में प्रणसः।

जहाँ धातुज 'गत' का लोप नहीं हुआ वहाँ प्रगतनासिकः। क्योंकि प्रगत शब्द प्रादि नहीं है अतः 'उपसर्गाच्च'[८५८] (५.४.११९) इस सूत्र की यहाँ प्राप्ति नहीं है। समस्त पद के संज्ञावाचक न होने के कारण यहाँ 'अञ् नासिकायाः'[८५६] (५.४.११८) इस सूत्र की प्राप्ति भी नहीं होती।

कथं तर्हि इति। प्रश्न—'वेर्ग्रो वक्तव्यः' (वा० ३३६५) और 'ख्यश्च' (वा०३३६६) इन वार्त्तिकों से वि से परे नासिका को 'ग्र' अथवा 'ख्य' आदेश होकर 'विग्रः' अथवा 'विख्यः' रूप होने चाहिएँ। तब भट्टिकाव्य में 'विनसा' का प्रयोग कैसे हुआ है?

उत्तर में कहा है कि 'विनसा' तृतीयान्त प्रादितत्पुरुष है। विगता नासिका विनासिका इस विग्रह में प्रादि तत्पुरुष। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। 'गत' का लोप। विनासिका शब्द से तृतीया एकवचन में टा। 'पद्दन्नोमास०'[३२८] (६.१.६३) से नासिका को नस् आदेश होने पर विनसा। यहाँ बहुव्रीहि समास न होने के कारण 'नासिका' शब्द को 'ग्र' और 'ख्य' आदेश नहीं हुए हैं। प्रादि तत्पुरुष में 'विगतया नासिकयोपलक्षिता' इस प्रकार विनसा की व्याख्या करनी होगी।

८६०. सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरश्रैणीपदाजपदप्रोष्ठपदाः (५.४.१२०)

एते बहुव्रीहयोऽच्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । शोभनं प्रातरस्य सुप्रातः । शोभनं श्वोऽस्य सुश्वः । शोभनं दिवा अस्य सुदिवः । शारेरिव कुक्षिरस्य शारिकुक्षः । चतस्रोऽश्रयोऽस्य चतुरश्रः । एण्या इव पादावस्यैणीपदः । अजपदः । प्रोष्ठो गौः, तस्येव पादावस्य प्रोष्ठपदः ।

अनु०—सुप्रात, सुश्व, सुदिव, शारिकुक्ष, चतुरश्र, एणीपद, अजपद, प्रोष्ठपद—इन शब्दों का अच् प्रत्ययान्त निपातन होता है । सुप्रातः—वह दिन या व्यक्ति जिसका प्रातःकाल शुभ हो । सुश्वः—वह दिन या व्यक्ति जिसका आने वाला कल शुभ हो । सुदिवः—वह व्यक्ति जिसका दिन शुभ हो । शारिकुक्षः—जिसका पेट शारि नाम के पक्षी अथवा पासे के समान गोल हो । चतुरश्रः—जिसके चार कोण हों, चतुष्कोण, चौकोर । ऐणीपदः—जिसके पैर मृगी के समान हों । अजपदः—जिसके पैर बकरी के समान हों । प्रोष्ठपदः—जिसके पैर गाय की तरह हों ।

रूपसिद्धिः

सुप्रातः—शोभनं प्रातरस्य इस विग्रह में 'सुप्रात०'[८६०] (५.४.१२०) इस सूत्र से सुप्रातर् शब्द से अच् (सुप्रातर् अ) । 'अव्ययानां भमात्रे०' (वा०४१८७) से टि लोप (सुप्रात) । प्रथमा एकवचन में सुप्रातः ।

सुश्वः—शोभनं श्वोऽस्य । शेषं पूर्ववत् ।

सुदिवः—शोभनं दिवा अस्य । शेषं पूर्ववत् ।

शारिकुक्षः—शारेरिव कुक्षिरस्य । शेषं पूर्ववत् ।

चतुरश्रः—लौ० वि०—चतस्रोऽश्रयोऽस्य । अलौ० वि०—चतुर् जस् अश्रि जस् ।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८६०] (२.२.२४) से समास । प्रातिपदिक संज्ञा । सुप् (जस् जस्) का लोप (चतुर् अश्रि) । 'सुप्रातसुश्व०'[८६०] (५.४.१२०) से अच् (चतुरश्रि अ) । 'यस्येति च'[६११] (६.४.१४८) से 'इ' का लोप (चतुरश्र) । प्रथमा एकवचन में चतुरश्रः ।

एणीपदः—एण्या इव पादौ अस्य । इस विग्रह में 'अनेकमन्यपदार्थे'[८६०] (२.२.२४) से समास । प्रातिपदिक संज्ञा । सुप् का लोप । 'सुप्रातसुश्व०'[८६०] (५.४.१२०) से अच् (एणी पाद अच्) । 'पादः पत्'[६१४] (६.४.१३०) से पाद को पत् आदेश (एणी पत् अ)। 'झलां जशोऽन्ते'[८८] (८.२.३९) से त् को द् (एणीपद) । प्रथमा एकवचन में एणीपदः ।

अजपदः—अजस्य इव पादौ अस्य । शेषं पूर्ववत् ।

प्रोष्ठपदः—प्रोष्ठस्येव पादावस्य । शेषं पूर्ववत् ।

८६१. नञ्दुःसुभ्यो हलिसक्थ्योरन्यतरस्याम् (५.४.१२१)

अच्स्यात् । अहलः, अहलिः । असक्थः, असक्थिः । एवं दुःसुभ्याम् । शक्त्योः इति पाठान्तरम् । अशक्तः, अशक्तिः ।

अनु०—नञ्, दुस्, सु इन शब्दों से परे हलि और सक्थि शब्दों से विकल्प से अच् प्रत्यय होता है। अहलः, अहलिः—जिसके पास हल न हो। असक्थः, असक्थिः—जिसकी टाँगें न हों। इसी प्रकार दुस, दुर् और सु शब्दों के योग में भी। ('नञ्-दुःसुभ्यः' (सू० ८६१) इस सूत्र में 'सक्थ्योः' के स्थान पर) 'शक्त्योः' पाठान्तर भी है। अशक्तः, अशक्तिः—जिसके पास शक्ति न हो।

रूपसिद्धिः

अहलः—लौ० वि०—अविद्यमानः हलिः यस्य। अलौ० वि०—नञ् हलि सु।

'नञोऽस्त्यर्थानाम्' (वा० १३६१) इस वार्त्तिक से समास और अस्त्यर्थक विद्यमान पद का लोप। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप (न हलि)। 'नञ्दुःसुभ्यो०'[८६१] (५.४.१२१) से अच् (न हलि अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'इ' का लोप (न हल)। 'नलोपो०'[७५७] (६.३.७३) से न् का लोप (अ हल)। प्रथमा एकवचन में अहलः।

जहाँ अच् प्रत्यय नहीं हुआ वहाँ 'अहलिः' प्रयोग होता है। इसी प्रकार असक्थः, असक्थिः रूप बनते हैं।

८६२. नित्यमसिच्प्रजामेधयोः (५.४.१२२)

नञ्दुःसुभ्य इत्येव । अप्रजाः । दुष्प्रजाः । सुप्रजाः । अमेधाः । दुर्मेधाः । सुमेधाः ।

अनु०—नञ्, दुस्, दुर्, सु–से परे प्रजा और मेधा शब्दों से नित्य समासान्त असिच् प्रत्यय होता है (और उसकी तद्धित संज्ञा होती है)। अप्रजाः—जिसकी कोई सन्तान न हो; दुष्प्रजाः—जिसकी सन्तान बुरी हो; सुप्रजाः—जिसकी सन्तान अच्छी हो; अमेधाः—जो बुद्धिहीन हो; दुर्मेधाः—जिसकी बुद्धि बुरी हो; सुमेधाः—जिसकी बुद्धि अच्छी हो।

रूपसिद्धिः

अप्रजाः—लौ० वि०—अविद्यमाना प्रजा यस्य। अलौ० वि०—न विद्यमाना सु प्रजा सु।

'नञोऽस्त्यर्थानां०' (वा० १३६१) इस वार्त्तिक से समास और अस्त्यर्थक 'विद्यमाना' पद का लोप। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (न प्रजा)। 'नलोपो नञः' ७५७ (६.३.७३) से न् का लोप (अ प्रजा)। 'नित्यमसिच्०'[८६२] (५.४.१२२) से असिच् (अस्) (अ प्रजा अस्) 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८)

से 'अ' का लोप (अप्रज् अस्=अप्रजस्)। पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। प्रथमा एकवचन में सु (अप्रजस् सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५१] (६.१.६८) से सु लोप (अप्रजस्)। 'अत्वसन्तस्य०'[४२५] (६.४.१४) से उपधादीर्घ अप्रजास्। (स्) सु को रु (र्)। र् को विसर्ग। अप्रजाः।

दुष्प्रजाः—लौ० वि०—दुर्गता प्रजा यस्य। अलौ० वि—दुर्गता सु प्रजा सु।

यहां प्रादिभ्यो 'धातुजस्य०' (वा० १३६०) इस वार्त्तिक से समास और उत्तर पद 'गता' का लोप। 'इदुदुपधस्य०'[१५५] (८.३.४१) से दुः के विसर्ग को ष्। शेषं पूर्ववत्।

सुप्रजाः—लौ० वि०—शोभना प्रजा यस्य। अलौ० वि०—सु प्रजा सु। शेषं पूर्ववत्।

अमेधाः—लौ० वि०—न विद्यमाना मेधा यस्य। अलौ० वि०—न विद्यमाना सु मेधा सु।

'नञोऽस्त्यर्थानां०' (वा० १३६१) से समास और उत्तरपद 'विद्यमाना' का लोप। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। (न मेधा)। 'न लोपो नञः'[७५७] (६.३.७३) से 'न्' का लोप (अमेधा)। असिच् (अमेधा अस्)। 'यस्येति च'[११९] (६.४.१४८) से 'अ' लोप (अमेध् अस्=अमेधस्)। प्रथमा एकवचन में सु (अमेधस् सु)। 'अत्वसन्तस्य०'[४२५] (६.४.१४) से उपधादीर्घ। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५१] (६.१.६८) से सु लोप (अमेधास्)। स् को रु। र् को विसर्ग। अमेधाः।

दुर्मेधाः—लौ० वि०—दुर्गता मेधा यस्य। अलौ० वि०—दुर्गता सु मेधा सु। शेषं पूर्ववत्।

सुमेधाः—लौ० वि०—शोभना मेधा यस्य। अलौ० वि०—सु मेधा सु। शेषं पूर्ववत्।

८६३. धर्मादनिच्केवलात् (५.४.१२४)

केवलात्पूर्वपदात्परो यो धर्मशब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेरनिच्स्यात्। कल्याणधर्मा। केवलात् किम्–परमः स्वो धर्मो यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ मा भूत्। स्वशब्दो हीह न केवलं पूर्वपदम्, किं तु मध्यमत्वादापेक्षिकम्। 'सन्दिग्धसाध्यधर्मा' इत्यादौ तु कर्मधारयपूर्वपदो बहुव्रीहिः। एवं च परमस्वधर्मा इत्यपि साध्वेव। निवृत्तिधर्मा, अनुच्छित्तिधर्मा इत्यादिवत्। पूर्वपदं तु बहुव्रीहिणा आक्षिप्यते।

अनु०—केवल अर्थात् मध्यम पद से रहित पूर्वपद से परे जो धर्म शब्द वह जिसके अन्त में है उस बहुव्रीहि से अनिच् प्रत्यय होता है। (उदा०—) कल्याणधर्मा (जिसका धर्म कल्याणकारी हो)। (सूत्र में) 'केवलात्' क्यों कहा ? परमस्वधर्मः (जिसको अपना धर्म श्रेष्ठ है)—'परमः स्वो धर्मो यस्य' इस त्रिपद बहुव्रीहि में अनिच् न हो। उक्त विग्रह में 'स्व' पद केवल पूर्वपद नहीं है किन्तु मध्यमपदत्व के कारण आपेक्षिक पूर्वपद है। 'सन्दिग्धसाध्यधर्मा' इत्यादि स्थलों में कर्मधारयपूर्वपद बहुव्रीहि

है। इसी प्रकार निवृत्तिधर्मा, अनुच्छित्तिधर्मा के समान 'परमस्वधर्मः' पद भी साधु है। इस स्थल में पूर्वपद बहुव्रीहि से आक्षिप्त होता है।

व्याख्या—केवलात्किम्—'धर्मादनिच् केवलात्'[८६३] (५.४.१२४) इस सूत्र में 'केवलात्' पद सप्रयोजन है। सूत्र में इस पद के समावेश से त्रिपद बहुव्रीहि में अनिच् नहीं होता है। अतः 'परमः स्वो धर्मो यस्य' इस त्रिपद बहुव्रीहि में अनिच् प्रत्यय न होकर 'परमस्वधर्मः' रूप बना है।

स्वशब्दो हीहेति। यद्यपि 'परमः स्वो धर्मो यस्य' इस विग्रह में धर्म पद की अपेक्षा 'स्व' पद पूर्व है तो भी वह केवल पूर्वपद नहीं है वह मध्यम पद भी है क्योंकि उससे पूर्व परम पद है। सूत्र में 'केवल' पद से 'मध्यम' पद का न होना सूचित होता है।

प्र० तब 'सन्दिग्धसाध्यधर्मा' कैसे बना ?

उ० 'सन्दिग्धसाध्यधर्मा' यह प्रयोग त्रिपद बहुव्रीहि में नहीं बना क्योंकि यहाँ केवल पूर्वपद न होने से 'धर्मादनिच्०'[८६३] (५.४.१२४) से अनिच् प्राप्त नहीं है। इस प्रयोग में कर्मधारयपूर्वपद बहुव्रीहि समास हुआ है। अर्थात् सन्दिग्धश्चासौ साध्यश्च (कर्म०) सन्दिग्धसाध्यः सन्दिग्धसाध्यो धर्मो यस्य (बहु०) सन्दिग्धसाध्यधर्मा। यहां 'धर्मादनिच्०'[८६३] (५.४.१२४) से अनिच् हुआ है क्योंकि 'सन्दिग्धसाध्य' केवल पूर्वपद है। इसी प्रकार परमश्चासौ स्वश्च परमस्वः (कर्म०); परमस्वो धर्मो यस्य (बहु०)। यहाँ 'परमस्वः' केवल पूर्वपद है, अतः 'धर्मादनिच्०'[८६३] (५.४.१२४) से अनिच् प्रत्यय हुआ है। परमस्वधर्मा। यदि त्रिपद विग्रह करते हैं तो परमस्वधर्मः बनता है। निवृत्तिधर्मा और अनुच्छितिधर्मा—इन प्रयोगों में 'निवृत्ति' और 'अनुच्छित्ति' केवल पूर्वपद हैं अतः इन प्रयोगों में अनिच् हुआ है। पूर्वपदन्तु बहुव्रीहिणाऽऽक्षिप्यते—यद्यपि 'धर्मादनिच्-केवलात्'[८६३] (५.४.१२४) इस सूत्र में पूर्वपद का ग्रहण नहीं हुआ और किसी सूत्र से उसकी अनुवृत्ति भी सम्भव नहीं तो भी 'केवलात्' इस विशेषण पद से विशेष्य पद 'पूर्व-पदात्' का अध्याहार सम्भव है। अन्यथा 'केवलात्' यह पूर्वपद व्यर्थ हो जाता है।

रूपसिद्धिः

कल्याणधर्मा—लौ० वि०—कल्याणो धर्मो यस्य। अलौ० वि०—कल्याण सु धर्म सु।

'अनेकमन्य०'[८३०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। 'धर्मादनिच्०'[८६३] (५.४.१२८) से अनिच् (अन्)। (कल्याण धर्म अन्)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४४) से 'अ' का लोप (कल्याणधर्मन्)। सु (कल्याणधर्मन् सु)। 'सर्वनामस्थाने०'[२५०] (६.४.८) से उपधादीर्घ'। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु का लोप। 'नलोपः०'[२३६] (८.२.७) से न् का लोप—कल्याणधर्मा।

सन्दिग्धसाध्यधर्मा—लौ० वि०—सन्दिग्धश्चासौ साध्यश्च; सन्दिग्धसाध्यो धर्मो यस्य। अलौ० वि०—सन्दिग्ध सु साध्य सु; सन्दिग्धसाध्य सु धर्म सु।

सन्दिग्धसाध्यः (कर्म०) प्रातिपदिक संज्ञा। 'सुपो धातु०'[६५०] (२.४.७१) से सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप। 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। सु। सु को रु (र्)। र् को विसर्ग। सन्दिग्धसाध्यः।

सन्दिग्धसाध्यधर्मा (बहु०) सन्दिग्धसाध्य सु धर्म सु। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (दोनों सु प्रत्ययों) का लोप (सन्दिग्धसाध्यधर्म)। 'धर्मादनिच्०'[८६३] (५.४..१२४) से अनिच् (अन्) (सन्दिग्धसाध्य धर्म अन्)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'अ' का लोप (सन्दिग्धसाध्यधर्मन्)। 'एकदेशविकृत०' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। सु। उपधादीर्घ। सुलोप। नलोप। सन्दिग्धसाध्यधर्मा।

परमस्वधर्मा—लौ० वि०—परमश्चासौ स्वश्च=परमस्वः। परमस्वो धर्मो यस्य (बहु०)।

अलौ० वि०—परम सु स्व सु (कर्म०)। परमस्वो धर्मो यस्य (बहु०)। शेष सन्दिग्ध-साध्यधर्मा के समान।

निवृत्तिधर्मा—लौ० वि०—निवृत्तिः धर्मो यस्य। अलौ० वि०—निवृत्ति सु धर्म सु। शेष 'कल्याणधर्मा' के समान।

अनुच्छित्तिधर्मा—लौ० वि०—अनुच्छित्तिः धर्मो यस्य। अलौ० वि०—अनुच्छित्ति सु धर्म सु। शेष कल्याणधर्मा के समान।

८६४. जम्भा सुहरिततृणसोमेभ्यः (५.४.१२५)

जम्भा इति कृतसमासान्तं निपात्यते। जम्भो भक्ष्ये दन्ते च। शोभनो जम्भोऽस्य सुजम्भा। हरितजम्भा। तृणं भक्ष्यं यस्य, तृणमिव दन्ता यस्येति वा तृणजम्भा। सोमजम्भा। स्वादिभ्यः किम्—पतितजम्भः।

अनु०—सु, हरित, तृण, सोम इन शब्दों के परे जो जम्भ शब्द तदन्त बहुव्रीहि से अनिच् प्रत्यय निपातन से होता है। 'जम्भ' शब्द भक्ष्य और दन्त अर्थ में प्रयुक्त होता है। सुजम्भा—जिसके दांत सुन्दर हों, जिसका भोजन सुन्दर हो। हरितजम्भा—जिसका भोजन घास हो। तृणजम्भा—जिसका भोजन घास हो अथवा जिसके दाँत घास के समान हों। सोमजम्भा—जिसका भोजन सोम हो। सु, हरित, तृण, सोम—इन्हीं पदों के अनन्तर 'जम्भ' पद होने पर समास होता है ऐसा क्यों कहा? ऐसा इसलिए कहा कि अन्यत्र (जहां ये पद न हों) 'अनिच्' न हो। अतः 'पतितजम्भः' (जिसका दांत गिर गया हो) में अनिच् नहीं हुआ।

रूपसिद्धिः

सुजम्भा—लौ० वि०—सु (शोभनः) जम्भोऽस्य। अलौ० वि०—सु जम्भ सु।

'अनेकमन्य०'[८३०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। 'जम्भा सु०'[८६४] (५.४.१२५) से अनिच् (अन्) (सुजम्भ अन्)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८)

से अ का लोप (सुजम्भन्)। एकदेशविकृतमनन्यवत् इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। सु (सुजम्भ सु)। उपधादीर्घ। सुलोप। नलोप। सुजम्भा।

हरितजम्भा—लौ० वि०—हरितो जम्भो यस्य। अलौ० वि०—हरित सु जम्भ सु। सुजम्भा के समान।

तृणजम्भा—लौ० वि०—तृणं जम्भः यस्य। अलौ० वि०—तृण सु जम्भ सु। सुजम्भा के समान।

सोमजम्भा—लौ० वि०—सोमः जम्भः यस्य। अलौ० वि०—सोम सु जम्भ सु। सुजम्भा के समान।

पतितजम्भः—लौ० वि०—पतितः जम्भः (अथवा पतिताः जम्भाः) यस्य। अलौ० वि०—पतित सु जम्भ सु।

'अनेकमन्य०'[८३०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा, सुप् का लोप (पतित-जम्भ)। एकदेशविकृतमनन्यवत् इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। विभक्तिकार्यम्—पतितजम्भः।

८६५. दक्षिणेर्मा लुब्धयोगे (५.४.१२६)

दक्षिणे ईर्मं व्रणं यस्य दक्षिणेर्मा मृगः। व्याधेन कृतव्रण इत्यर्थः।

अनु०—व्याध सम्बन्ध होने पर दक्षिणेर्म शब्द से अनिच् प्रत्यय और बहुव्रीहि समास निपातन से होता है। दक्षिणेर्मा—जिस मृग की दाहिनी ओर घाव हो।

रूपसिद्धिः

दक्षिणेर्मा—लौ० वि०—दक्षिणे ईर्मं यस्य। अलौ० वि०—दक्षिण ङि ईर्म सु।

'दक्षिणेर्मा'[८६५] (५.४.१२६) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (ङि और सु) का लोप (दक्षिण ईर्म)। गुण (दक्षिणेर्म)। 'दक्षिणेर्मा'[८६५] (५.४.१२६) से अनिच् (अन्) (दक्षिणेर्म अन्)। 'यस्येति च०'[१११] (६.४.१४८) से 'अ' का लोप (दक्षिणेर्मन्)। 'एकदेश-विकृत०' इस न्याय से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। प्रथमा एकवचन में सु (दक्षिणेर्मन् सु)। उपधादीर्घ। सुलोप। नलोप। दक्षिणेर्मा।

८६६. इच्कर्मव्यतिहारे (५.४.१२७)

कर्मव्यतिहारे यो बहुव्रीहिस्तस्मादिच्स्यात्समासान्तः। केशाकेशि। मुसलामुसलि।

अनु०—परस्पर ग्रहण और परस्पर प्रहरण अर्थ में जो बहुव्रीहि समास होता है उससे समासान्त इच् प्रत्यय हो। केशाकेशि—जिस युद्ध में एक दूसरे के बालों को पकड़कर लड़ा जाय। मुसलामुसलि—जिस युद्ध में एक दूसरे पर मूसलों के प्रहार से लड़ा जाय।

रूपसिद्धिः

केशाकेशि—देखिए पृ० २२९।

मुसलामुसलि—केशाकेशि के समान ।

८६७. द्विदण्डयादिभ्यश्च (५.४.१२८)

तादर्थ्ये चतुर्थ्येषा । एषां सिद्ध्यर्थमिच्प्रत्ययः स्यात् । द्वौ दण्डौ यस्मिन्प्रहरणे तद् द्विदण्डि प्रहरणम् । द्विमुसलि । उभाहस्ति । उभयाहस्ति ।

अनु०—सूत्र में 'द्विदण्डयादिभ्यः' तादर्थ्य में चतुर्थ्यन्त प्रयोग है। 'द्विदण्डि' आदि शब्दों की सिद्धि के लिए 'इच्' प्रत्यय हो । द्विदण्डि—(जिस युद्ध में दो लाठियों से प्रहार किया जाय।) द्विमुसलि—जिस युद्ध में दो मुसलों से प्रहार किया जाय। उभाहस्ति—जिस युद्ध में दोनों हाथों से प्रहार किया जाय । उभयाहस्ति—जिस युद्ध में दोनों हाथों से प्रहार किया जाय ।

व्याख्या—यहाँ द्विदण्डि आदि शब्दों का इकारान्त निपातन हुआ है अतः इनसे इच् का विधान व्यर्थ प्रतीत होता है किन्तु भट्टोजिदीक्षित ने इसका समाधान इस प्रकार किया है—द्विदण्डयादिभ्यः यह पञ्चम्यन्त प्रयोग नहीं है। यह तादर्थ्य में चतुर्थ्यन्त प्रयोग है। इसका अर्थ यह है कि कर्मव्यतिहार (परस्पर ग्रहण और परस्पर प्रहरण) एवं समान रूप के न होने पर भी कर्मव्यतिहार के अर्थ में प्रयुक्त बहुव्रीहि से समासान्त इच् प्रत्यय होता है ।

रूपसिद्धिः

द्विदण्डि—लौ० वि०—द्वौ दण्डौ यस्मिन् (प्रहरणे) । अलौ० वि०—द्वि औ दण्ड औ।

'अनेकमन्य०'[८३०] (२.२.२४) से समास । प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप (द्वि दण्ड) । 'द्विदण्ड्या०' ०[८६७] ५.४.१२८ से इच् (इ)। (द्वि दण्ड इ) 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'अ' का लोप (द्वि दण्डि) । नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में सु (द्वि दण्डि सु) । 'स्वमोर्नपुंसकात्'[३१९] (७.१.२३) से सु का लोप (द्विदण्डि)। यहाँ कर्मव्यतिहार नहीं है अतः 'अन्येषामपि०'[३५३९] (६.३.१३७) से प्राप्त दीर्घ नहीं हुआ ।

द्विमुसलि—लौ० वि०—द्वे मुसले यस्मिन् (प्रहरणे) । अलौ० वि०—द्वि औ मुसल औ ।

'अनेकमन्य०'[८३०] (२.२.२४) से समास । प्रातिपदिक संज्ञा । सुप् का लोप (द्वि मुसल) । 'द्विदण्ड्या०'[८६७] (५.४.१२८) से इच् (इ) । 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'अ' का लोप (द्वि मुसल् इ) । नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में सु (द्वि मुसलि सु)। 'स्वमोर्नपुंसकात्'[३१९] (७.१.२३) से सु का लोप (द्वि मुसलि) । यहां कर्मव्यतिहार नहीं है, इसलिए 'अन्येषामपि०'[३५३९] (६.३.१३७) से प्राप्त दीर्घ नहीं हुआ,।

उभाहस्ति—लौ० वि०—उभौ हस्तौ यस्मिन् (प्रहरणे) । अलौ० वि०— उभ औ हस्त औ ।

'अनेकमन्य०'[८३०] (२.२.२४) से समास । प्रातिपदिक संज्ञा । सुप् का लोप (उभहस्त)।'द्विदण्ड्या०'[८६७] (५.४.१२८) से इच् (इ) (उभ हस्त इ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'अ' का लोप (उभहस्त् इ) । 'अन्येषामपि०'[३५१९] (६.३.१३७) से दीर्घ (उभाहस्ति) । नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में सु । 'स्वमोर्नपुंसकात्'[३१९] (७.१.२३) से 'सु' का लोप । उभाहस्ति ।

उभयाहस्ति—लौ० वि०—उभयौ हस्तौ यस्मिन् (प्रहरणे) । अलौ० वि०—उभय औ हस्त औ ।

'उभाहस्ति' के समान ।

८६८. प्रसंभ्यां जानुनोर्ज्ञुः (५.४.१२९)

आभ्यां परयोर्जानुशब्दयोर्ज्ञु रादेशः स्याद्बहुव्रीहौ । प्रगते जानुनी यस्य प्रज्ञुः । संज्ञुः ।

अनु०—बहुव्रीहि समास में 'प्र' अथवा 'सम्' पूर्वक 'जानु' शब्द को 'ज्ञु' आदेश होता है । प्रज्ञुः—जिसके घुटने फैले हुए हों । संज्ञुः—जिसके घुटने सटे हुए हों ।

रूपसिद्धिः

प्रज्ञुः—लौ० वि०—प्रगते जानुनी यस्य । अलौ० वि०—प्रगत औ जानु औ ।

'प्रादिभ्यो धातुजस्य' (वा० १३६०) से समास और गत शब्द का लोप । प्रातिपदिक संज्ञा । सुप् का लोप (प्रजानु) । 'प्रसंभ्यां'[८६८] (५.४.१२९) जानु को 'ज्ञु' आदेश (प्रज्ञु) । प्रथमा एकवचन में 'सु' । 'सु' को 'रु' (र्) । र् को विसर्ग । प्रज्ञुः ।

संज्ञुः—लौ० वि०—संगते जानुनी यस्य । अलौ० वि०—संगत औ जानु औ ।

'प्रज्ञुः' के समान ।

८६९. ऊर्ध्वाद्विभाषा (५.४.१३०)

ऊर्ध्वज्ञुः, ऊर्ध्वजानुः ।

अनु०—ऊर्ध्व शब्द पूर्वक 'जानु' शब्द को विकल्प से 'ज्ञु' आदेश होता है बहुव्रीहि समास में । ऊर्ध्वज्ञुः, ऊर्ध्वजानुः—जिसके घुटने ऊपर की ओर या ऊँचे हों ।

रूपसिद्धिः

ऊर्ध्वज्ञुः—लौ० वि०—ऊर्ध्वे जानुनी यस्य । अलौ० वि०—ऊर्ध्व औ जानु औ ।

'अनेकमन्य०'[८३०] (२.२.२४) से समास । शेष प्रज्ञु के समान ।

ऊर्ध्वजानुः—यहाँ 'जानु' को 'ज्ञु' आदेश नहीं हुआ ।

८७०. धनुषश्च (५.४.१३२)

धनुरन्तस्य बहुव्रीहेरनङादेशः स्यात् । द्विधन्वा । शार्ङ्गधन्वा ।

अनु०—बहुव्रीहि समास में 'धनुस्' के स् को 'अनङ्' आदेश होता है। द्विधन्वा—जिसके पास दो धनुष हों। शार्ङ्गधन्वा—जिसका धनुष सींग का हो।

रूपसिद्धि:

द्विधन्वा—लौ० वि०—द्वे धनुषी यस्य। अलौ० वि०—द्वि औ धनुस् औ।

'अनेकमन्य०'[८३०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप (द्वि धनुस्)। 'धनुषश्च'[८३०] (५.४.१३२) से स् को अनङ् (द्विधनु अनङ्(अन्))। 'इको यणचि'[४६] (६.१.६६)से 'उ' को 'व्' (द्विधन्वन्)। प्रथमा एकवचन में सु (द्विधन्वन् सु(। उपधादीर्घ (द्वि धन्वान् सु)। सुलोप। नलोप। द्विधन्वा।

शार्ङ्गधन्वा—लौ० वि०—शार्ङ्ग धनुर्यस्य। अलौ० वि०—शार्ङ्ग सु धनुष् सु। 'द्विधन्वा' के समान।

८७१. वा संज्ञायाम् (५.४.१३३)

शतधन्वा, शतधनुः।

अनु०—'धनुषश्च' इस सूत्र से विहित अनङ् आदेश संज्ञा में विकल्प से हो। शतधन्वा, शतधनुः—जिसके पास सौ धनुष हों, एक राजा का नाम।

रूपसिद्धि:

शतधन्वा—लौ० वि०—शतानि धनूंषि यस्य। अलौ० वि०—शत जस् धनुष् जस्। 'अनेकमन्य०'[८३०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप (शतधनुस्)। 'वा संज्ञायाम्'[८३१] (५.४.१३३) से 'स् को अनङ्' (अन्) (शतधनु अन्)। 'इको यणचि'[४७] (६.१.७७) से उ को 'व'। प्रथमा एकवचन में सु (शतधन्वन् सु)। उपधादीर्घ। सुलोप। नलोप। शतधन्वा।

शतधनुः—यहाँ स् को 'अनङ्' नहीं हुआ। 'अनेकमन्य०'[८३०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप (शतधनुस्)। पुनः प्रातिपदिक संज्ञा, सु (शतधनुस् सु)। सुलोप। 'स्' को 'रु' (र्)। 'र्' को विसर्ग। शतधनुः।

८७२. जायाया निङ् (५.४.१३४)

जायान्तस्य बहुव्रीहेर्निङादेशः स्यात्।

अनु०—जायान्त बहुव्रीहि को निङ् आदेश होता है।

८७३. लोपो व्योर्वलि (६.१.६६)

वकारयकारयोर्लोपः स्याद्वलि। पुंवद्भावः। युवतिर्जाया यस्य युवजानिः।

अनु०—वल् प्रत्याहार परे रहते 'व्' और 'य्' का लोप हो जाता है। 'स्त्रियाः पुंवत्' से पुंवद्भाव (अर्थात् 'युवति' को युवन्) आदेश हो जाता है। युवजानिः—जिसकी पत्नी युवति हो।

रूपसिद्धिः

युवजानिः—लौ० वि०—युवतिर्जाया यस्य । अलौ० वि०—युवति सु जाया सु ।

'अनेकमन्य०'[८३०] (२.२.२४) से समास । प्रातिपदिक संज्ञा । सुप् का लोप (युवति जाया) । 'जायाया निङ्'[८७२] (५.४.१३४) से अन्त्य 'आ' को निङ् (नि) (युवति जानि) 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३९] (६.३.३४) से 'युवति' को' युवन्' आदेश (युवन् जानि)। 'नलोपः०'[२३६] (८.२.७) से न् का लोप (युवजानि) । प्रथमा एकवचन में सु । शेषं पूर्ववत् ।

८७४. गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः (५.४.१३५)

एभ्यो गन्धस्येकारोऽन्तादेशः स्यात् । उद्गन्धिः । पूतिगन्धिः । सुगन्धिः। सुरभिगन्धिः । 'गन्धस्येत्त्वे तदेकान्तग्रहणम्' (वा० ३३६८) । एकान्त एकादेश इवाविभागेन लक्ष्यमाण इत्यर्थः । सुगन्धि पुष्पं सलिलं च । सुगन्धिर्वायुः । नेह—सु शोभना गन्धा द्रव्याण्यस्य सुगन्ध आपणः ।

अनु०—उत्, पूति, सु, सुरभि, इन शब्दों के परे रहते 'गन्ध' के अन्त्य 'अ' को इ' आदेश होता है । उद्गन्धिः—जिसकी गन्ध उत्कट हो । पूतिगन्धिः—जिसकी गन्ध बुरी हो । सुगन्धिः—जिसकी गन्ध शोभन हो । सुरभिगन्धिः—जिसकी गन्ध उत्तम हो । गन्ध के अन्त्य 'अ' को तभी 'इ' आदेश होता है जब गन्ध द्रव्य के साथ अविभाजित रूप से लक्षित हो । सुगन्धि पुष्पम्—फूल उत्तम गन्ध वाला है । सुगन्धि सलिलम्—जल सुन्दर गन्ध वाला है । सुगन्धि वायुः—हवा उत्तम गन्ध वाली है । किन्तु जहाँ गन्ध द्रव्य के साथ विभाजित रूप में रहता है वहाँ गन्ध के 'अ' को 'इ' आदेश नहीं होता है । सुगन्धः आपणिकः—जिस दुकानदार के पास उत्तम गन्ध हो । यहाँ आपणिक (बनिया) और उसके गन्ध द्रव्य एक दूसरे से विभक्त हैं अतः 'गन्ध' के अन्त्य 'अ' को 'इ' आदेश नहीं हुआ है ।

व्याख्या—सुगन्धि पुष्पम्, सुगन्धि सलिलम्—इन दोनों उदाहरणों में 'सुगन्धि' नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है । सुगन्धिः वायुः—यहाँ 'सुगन्धिः' पुंल्लिङ्ग है । पुष्प, जल और वायु में गन्ध समवेत (अविभाजित) रूप से रहता है, अतः 'गन्ध' को इकार अन्त्यादेश हुआ है ।

रूपसिद्धिः

उद्गन्धिः—लौ० वि०—उद्गतो गन्धो यस्य । अलौ० वि०—उद्गत सु गन्ध सु ।

'प्रादिभ्यो धातुजस्य' (वा० १३६०) से समास और 'गत' का लोप । प्रातिपदिक संज्ञा । सुप् का लोप (उद्गन्ध) । 'गन्धस्येदुत्'[८७४] (५.४.१३५) से 'अ' को 'इ' आदेश (उद्गन्धि) । प्रथमा एकवचन में उद्गन्धिः ।

पूतिगन्धिः—लौ० वि०—पूतिः गन्धो यस्य । अलौ० वि०—पूति सु गन्ध सु ।

'अनेकमन्यपदार्थे'[७७०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। 'गन्धस्येदु'[७७४] (५.४.१३५) से 'अ' को 'इ' आदेश। प्रथमा एकवचन में—पूतिगन्धिः।

सुगन्धिः—लौ० वि०—सु (शोभनो) गन्धो यस्य। अलौ० वि०—सु गन्ध सु। 'उद्गन्धिः' के समान।

सुरभिगन्धिः—लौ० वि०—सुरभिः गन्धो यस्य। अलौ० वि०—सुरभि सु गन्ध सु। 'उद्गन्धि' के समान।

८७५. अल्पाख्यायाम् (५.४.१३६)

सूपस्य गन्धो लेशो यस्मिंस्तत्सूपगन्धि भोजनम्। घृतगन्धि। 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः।' इति विश्वः।

अनु०—(जहाँ गन्ध शब्द का अर्थ अल्प है वहाँ 'गन्ध' के अन्त्य 'अ' को 'इ' आदेश होता है)। सूपगन्धि—वह भोजन जिसमें कुछ दाल की गन्ध हो। घृतगन्धि—वह भोजन जिसमें कुछ घी का गन्ध हो। विश्वकोश के अनुसार गन्ध का 'अल्प' अर्थ भी है। अल्प अर्थ के अतिरिक्त इसके अन्य अर्थ गन्धक, सुगन्ध, सम्बन्ध और गर्व हैं।

रूपसिद्धिः

सूपगन्धिः—लौ० वि०—सूपस्य गन्धो यस्मिन्। अलौ० वि०—सूप ङस् गन्ध सु। नपुंसकलिङ्ग में सुगन्धि के समान। अल्प अर्थ में 'अल्पा०'[७७५] (५.४.१३६) से गन्ध के 'अ' को 'इ' हुआ है।

घृतगन्धिः—लौ० वि०—घृतस्य गन्धो यस्मिन्। अलौ० वि०—घृत ङस् गन्ध सु। नपुंसकलिङ्ग में सुगन्धि (पुष्पम्) के समान। 'अल्प' अर्थ में 'अल्पा०'[७७५] (५.४.१३६) से 'गन्ध' के 'अ' को 'इ' हुआ है।

८७६. उपमानाच्च (५.४.१३७)

पद्मस्येव गन्धोऽस्य पद्मगन्धिः।

अनु०—उपमानवाचक शब्द के परे स्थित गन्ध शब्द को इकार अन्तादेश हो।

पद्मगन्धिः—जिसमें कमल की सी गन्ध हो।

रूपसिद्धिः

पद्मगन्धिः—लौ० वि०—पद्मगन्ध इव गन्धो यस्य। अलौ० वि०—पद्मगन्ध सु. गन्ध सु।

यहाँ 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य' से समास और उत्तर पद का लोप (पद्मगन्ध) यहाँ 'उपमानाच्च'[७७६] (५.४.१३७) से 'गन्ध' के अन्त्य 'अ' को 'इ' हुआ है। शेष 'उद्गन्धिः' के समान।

८७७. पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः (५.४.१३८)

हस्त्यादिवर्जितादुपमानात्परस्य पादशब्दस्य लोपः स्यात् समासान्तो बहुव्रीहौ। स्थानिद्वारेणायं समासान्तः। व्याघ्रस्येव पादावस्य व्याघ्रपात्। अहस्त्यादिभ्यः किम्—हस्तिपादः। कुसूलपादः।

अनु०—बहुव्रीहि समास में 'हस्ति' आदि से भिन्न उपमानवाचक से परे स्थित पाद शब्द के 'अ' का लोप हो। स्थानिद्वारा यह 'अ' का लोप समासान्त है। व्याघ्रपात्—जिसके पाँव बाघ की तरह हों। 'हस्ति' आदि से भिन्न क्यों कहा? हस्तिपादः—जिसके पाँव हाथी के पाँव की तरह हों। कुसूलपादः—जिसके पांव कोठिली (अन्न रखने के लिए मिट्टी का गोलपात्र) की तरह हों।

व्याख्या—'अलोऽन्त्यस्य'[४२] (१.१.५२) से अन्त्य 'अ' का लोप होता है। लोप को समासान्त कहा गया है। अन्यथा 'शेषाद्विभाषा'[८९१] (५.४.१५४) इस सूत्र से वैकल्पिक 'कप्' हो जाता। समासान्त कप् तब होता है जब कोई समासान्त प्रत्यय न हुआ हो। लोप को समासान्त मानने से उसके होने पर 'कप्' नहीं होता।

स्थानिद्वारेणायं समासान्तः। प्र० लोप अभावात्मक (अदर्शन) है, उसकी समासान्त संज्ञा कैसे होगी? उ० जिस 'अ' का लोप हुआ है उसकी समासान्त संज्ञा हुई है। लोप होने पर उसका स्थानिवद्भाव करके हम वैकल्पिक 'कप्' का निषेध करते हैं।

रूपसिद्धिः

व्याघ्रपात्—लौ० वि०—व्याघ्रपादौ इव पादौ यस्य। अलौ० वि०—व्याघ्रपाद औ पाद औ।

यहां 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य०' इस वार्त्तिक से समास और उत्तरपद का लोप। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। 'पादस्य लोपो०'[८७७] (५.४.१३८) से पाद के अन्त्य 'अ' का लोप। 'वावसाने'[२०९] (८.४.५६) से द् को विकल्प से 'त्'—व्याघ्रपात् व्याघ्रपाद्।

८७८. कुम्भपदीषु च (५.४.१३९)

कुम्भपद्यादिषु पादस्य लोपो ङीप् च निपात्यते स्त्रियाम्। 'पादः पत्' (सू० ४१४) कुम्भपदी। स्त्रियाम् किम्—कुम्भपादः।

अनु०—कुम्भपदी आदि शब्दों में स्त्रीलिङ्ग में पाद का लोप निपातन से होता है। पादः पत् (६.४.१६०) से 'पाद' को पत् आदेश हो जाता है। कुम्भपदी—जिस स्त्री के पांव घड़े की तरह हों। सूत्र में 'स्त्रियाम्' की अनुवृत्ति क्यों? सूत्र में स्त्रियाम् की अनुवृत्ति इसलिए की गई है कि पुंल्लिङ्ग में पाद के अन्त्य 'अ' का लोप न हो। कुम्भपाद—जिस पुरुष के पांव घड़े के समान हों।

व्याख्या—स्त्रियां किम् ? 'कुम्भपदीषु च'[८७८] (५.४.१३९) इस सूत्र में 'स्त्रियाम्' की अनुवृत्ति होती है। इसका अर्थ है कि स्त्रीलिङ्ग में ही पाद के अन्त्य 'अ' का लोप होता है, अन्यत्र नहीं। अतः पुंल्लिङ्ग में 'कुम्भपादः' रूप बनता है।

वैसे तो 'पादस्य लोपो०'[८७७] (५.४.१३८) इस सूत्र से ही 'पाद' के अन्त्य 'अ' का लोप सम्भव था तब 'कुम्भपदीषु च'[८७८] (५.४.१३९) से लोप का विधान क्यों किया गया। उत्तर में कहा गया है कि स्त्रीलिङ्ग में पाद के अन्त्य 'अ' का लोप करने के हेतु पृथक् सूत्र का निर्माण ज्ञापित करता है कि स्त्रीलिङ्ग में ही कुम्भपूर्वक पाद के अन्त्य 'अ' का लोप होता है, पुंल्लिङ्ग में नहीं, अतः पुंल्लिङ्ग में कुम्भपादः।

रूपसिद्धिः

लौ० वि०—कुम्भस्येव पादौ यस्याः। अलौ० वि०—कुम्भ ङस् पाद औ।

'सप्तम्युपमान०' इस वार्त्तिक से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। ङीप् (ई) (कुम्भपाद ई) 'कुम्भपदीषु च'[८७८] (५.४.१३९) से 'पाद' के अन्त्य 'अ' का लोप। 'पादः पत्'[४१४] (६.४.१३०) से पाद् को 'पत्' (कुम्भपत् ई)। 'झलां जशोऽन्ते'[८४] (८.२.३९) से 'त्' को द् (कुम्भपदी)। प्रथमा एकवचन में सु। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[३५२] (६.१.६८) से सु लोप। कुम्भपदी।

८७९. संख्यासुपूर्वस्य (५.४.१४०)

पादस्य लोपः स्यात्समासान्तो बहुव्रीहौ। द्विपात्। सुपात्।

अनु०—संख्यावाचक अथवा 'सु' पद के पूर्व होने पर बहुव्रीहि में 'पाद' के अन्त्य 'अ' का लोप होता है। द्विपात्—जिसके दो पाँव हों, मनुष्य। सुपात्—जिसके सुन्दर पाँव हों।

रूपसिद्धिः

द्विपात्—लौ० वि०—द्वौ पादौ यस्य। अलौ० वि०—द्वि औ पाद औ।

'अनेकमन्य०'[८३०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप (द्विपाद)। पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। प्रथमा एकवचन में सु। 'संख्या सु०'[८७९] (५.४.१४०) से संख्यापूर्वक 'पाद' के अन्त्य 'अ' का लोप। (द्विपाद् सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[३५२] (६.१.६८) से सुलोप (द्विपाद्)। 'वाऽवसाने'[२०६] (८.४.५६) से द् को विकल्प से त्। द्विपात्, द्विपाद्।

८८०. वयसि दन्तस्य दतृ (५.४.१४१)

संख्यासुपूर्वस्य दन्तस्य दतृ इत्यादेशः स्याद्वयसि। द्विदन्। चतुर्दन्। षड् दन्ता अस्य षोडन्। सुदन्, सुदती। वयसि किम्—द्विदन्तः (करी)। सुदन्तो (नटः)।

अनु०—संख्या अथवा 'सु' पद के पूर्व रहते 'दन्त' को 'दतृ' आदेश होता है। जब समस्त पद अवस्था विशेष का बोधक हो। द्विदन्—जिस बच्चे को केवल दो दांत निकले हों। चतुर्दन्—जिस बच्चे को चार दांत निकले हों। षोडन्—जिस बच्चे को छः दाँत

निकले हों। सुदन्—जिस बच्चे को सुन्दर दाँत निकले हों। सुदती—जिसके सुन्दर दांत हों। 'वयसि'—अर्थात् समस्त पद अवस्था विशेष का बोधक हो ऐसा क्यों कहा ? समस्त पद 'किसी अवस्था का बोधक हो' इसलिए कहा कि जहां समस्त पद अवस्था विशेष का बोधक न हो वहाँ संख्या या सु पूर्व होने पर भी 'दन्त' को दतृ आदेश नहीं होता। द्विदन्तः करी—दो दांतों वाला हाथी। सुदन्तो नटः—सुन्दर दांतों वाला नट।

व्याख्या—वयसि किम्। 'वयसि दन्तस्य'[८८०] (५.४.१४१) इस सूत्र में 'वयसि' पद से बोधित होता है कि संख्यावाचक अथवा सु पद होने पर 'दन्त' को दतृ आदेश तभी होता है जब समस्त पद किसी विशेष अवस्था का बोधक हो। उदा०—'द्विदन्' बच्चे की शैशव अवस्था का बोधक है। सुदती—नारी की यौवनावस्था का बोधक है। किन्तु 'द्विदन्तः करी'—दो दाँतों वाला हाथी या 'सुदन्तो नटः'—सुन्दर दांतों वाला नट, हाथी और नट की अवस्था के बोधक नहीं हैं।

रूपसिद्धिः

द्विदन्—लौ० वि०—द्वौ दन्तौ यस्य। अलौ० वि०—द्वि औ दन्त औ।

'अनेकमन्य०'[८१०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। 'वयसि०'[८८०] (५.४.१४१) से 'दन्त' को 'दतृ' (द्विदत्)। प्रातिपदिक संज्ञा। प्रथमा एकवचन में सु (द्वि दत् सु)। 'उगिदचां'[३६१] (७.१.७०) से नुम् (न्)। सु लोप (द्विदन्त) 'संयोगान्तस्य लोपः'[५४] (८.२.२३) से त् लोप। द्विदन्।

चतुर्दन्—लौ० वि०—चत्वारो दन्ता यस्य। अलौ० वि०—चतुर् जस् दन्त जस्।

'अनेकमन्य०'[८१०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् लोप (चतुर्-दन्त)। 'वयसि दन्तस्य०'[८८०] (५.४.१४१) से दन्त को 'दतृ' आदेश (चतुर्दत्)। प्रातिपदिक संज्ञा। प्रथमा एकवचन में सु। 'उगिदचां०'[३६१] (७.१.७०) से नुम् (न्) (चतुर्दन्त् सु)। सु लोप। 'संयोगान्तस्य०'[५४] (८.२.२३) से त् लोप। चतुर्दन्।

षोडन्—लौ० वि०—षट् दन्ता यस्य। अलौ० वि०—षष् जस् दन्त जस्।

'अनेकमन्य०'[८१०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप (षष् दन्त)। 'वयसि दन्तस्य'[८८०] (५.४.१४१) से 'दन्त' को 'दतृ' आदेश (षष् दत्)। 'षष उत्वं० (वा० ४००१-४००२) से षष् के ष् को 'उ' और 'दत्' के 'इ' को 'ड' (षउ डत्)। 'आद्गुणः'[६९] (६.१.८७) से गुण (षोडत्)। प्रातिपदिक संज्ञा। प्रथमा एकवचन में सु (षोडत् सु)। 'उगिदचां'[३६१] (७.१.७०) से नुम् (न्) (षोडन्त् सु)। सुलोप। 'संयोगान्तस्य०'[५४] (८.२.२३) से त् लोप। षोडन्।

सुदन्—लौ० वि०—शोभनौ दन्तौ यस्य। अलौ० वि०—सु दन्त औ।

'अनेकमन्य०'[८१०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप (सुदन्त)। 'वयसि दन्तस्य०'[८८०] (५.४.१४१) से 'दन्त' को 'दतृ' आदेश (सुदत्); प्रातिपदिक संज्ञा।

प्रथमा एकवचन में सु (सुदत् सु)। 'उगिदचां०'[३६१] (७.१.७०) से नुम् (न्) (सुदन् त् सु) सुलोप। त् लोप। सुदन्।

सुदती—लौ० वि०—शोभनौ दन्तौ यस्याः। अलौ० वि०—सु दन्त औ।

'अनेकमन्य०'[८३०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप (सुदन्त) दन्त को दतृ (दत्) (सुदत्)। पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। स्त्रीलिङ्ग में 'उगितश्च'[४५५] (४.१.६) से ङीप् (ई) (सुदत् ई)। प्रथमा एकवचन में सु। सुलोप। सुदती।

८८१. स्त्रियां संज्ञायाम् (५.४.१४३)

दन्तस्य दतृ स्यात्समासान्तो बहुव्रीहौ। अयोदती। फालदती। संज्ञायां किम्—समदन्ती।

अनु०—बहुव्रीहि समास में दन्त को दतृ आदेश होता है और उसकी समासान्त संज्ञा होती है। अयोदती—जिसके दांत लोहे की तरह हों। फालदती—जिसके दाँत फाल के समान हों। 'संज्ञायाम्' क्यों कहा? समदन्ती—जिसके दाँत समान हों।

व्याख्या—संज्ञायां किम्? प्र०—सूत्र में 'संज्ञायाम्' क्यों कहा? उ०—सूत्र में 'संज्ञायाम्' इसलिए कहा है कि दन्त को दतृ आदेश और उसकी समासान्त संज्ञा तभी होती है यदि समस्त पद संज्ञा का बोधक हो। यदि समस्त पद किसी संज्ञा (नाम) का बोधक नहीं होता तब दन्त को दतृ आदेश और समासान्त नहीं होता।

रूपसिद्धिः

अयोदती—लौ० वि०—अय इव दन्ताः यस्य। अलौ० वि०—अयस् सु इव दन्त जस्।

'सप्तम्युपमान०' इस वार्त्तिक से समास और उत्तरपदलोप। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप (अयस्दन्त)। 'ससजुषो रुः'[१६२] (८.२.६६) से 'स्' को 'रु'। 'अतो रो०'[१६३] (६.१.११३) से 'रु' को उ (अय उ दन्त)। 'आद्गुणः०'[६९] (६.१.८७) से गुण (अयोदन्त)। 'स्त्रियां०'[८८१] (५.४.१४३) से दन्त को 'दतृ' (अयोदतृ)। पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। स्त्रीलिङ्ग में ङीप् (ई)। सु। सुलोप। अयोदती।

फालदती—लौ० वि—फाल इव दन्ताः यस्य। अलौ० वि०—फाल सु इव दन्त जस्

'सप्तम्युपमान०' इस वार्त्तिक से समास और उत्तर पद लोप। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप (फालदन्त)। 'दन्त' को 'दतृ' आदेश (फालदत्)। पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। स्त्रीलिङ्ग में ङीप् (ई)। सु। सुलोप। फालदती।

समदन्ती—लौ० वि०—समा दन्ता यस्य। अलौ० वि०—सम जस् दन्त जस्।

'अनेकमन्य०'[८३०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। स्त्रीलिङ्ग में 'नासिकोदर०'[५११] (४.१.५५) से वैकल्पिक ङीष् (ई)। 'यस्येति च'[११९] (६.४.१४८) से 'अ' का लोप। (समदन्त् ई सु)। सुलोप। समदन्ती।

'नासिकोदर०'[५११] (४.१.५५) से ङीष् विकल्प से होता है। जहाँ ङीष् नहीं हुआ वहाँ 'अजाद्यतष्टाप्'[५५४] (४.१.४) से टाप् (आ)। समदन्ता।

८८२. विभाषा श्यावारोकाभ्याम् (५.४.१४४)

दन्तस्य दतृ स्याद्बहुव्रीहौ। श्यावदन् श्यावदन्तः। अरोकदन्, अरोकदन्तः।

अनु०—बहुव्रीहि समास में श्याव और अरोक शब्द के परवर्ती 'दन्त' शब्द को 'दतृ' आदेश होता है विकल्प से। श्यावदन्—श्यावदन्तः—जिसके दांत काले हों। अरोकदन्—अरोकदन्तः—जिसके दांत चमकीले नहीं।

रूपसिद्धिः

श्यावदन्—लौ० वि०—श्यावा दन्ता यस्य। अलौ० वि०—श्याव जस् दन्त जस्।

'अनेकमन्य०'[८३०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप (श्यावदन्त)। 'दन्त' को 'दतृ' (श्यावदत्)। पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। प्रथमा एकवचन में सु। नुम् (न्) (श्यावदन् त् सु)। सुलोप (श्यावदन् त्)। 'संयोगान्तस्य'[५४] (८.२.२३) से त् लोप। श्यावदन्।

अरोकदन्—लौ० वि०—अरोका दन्ता यस्य। अलौ० वि०—अरोक जस् दन्त जस्।

'अनेकमन्य०'[८३०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप (अरोकदन्त)। 'दन्त' को 'दतृ' (दत्) (अरोकदत्)। पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। प्रथमा एकवचन में सु। नुम् (न्) (अरोकदन् त् सु)। सुलोप (अरोकदन् त्)। त् लोप अरोकदन्।

श्यावदन्तः—यहां 'दतृ' आदेश नहीं हुआ है।

८८३. अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च (५.४.१४५)

एभ्यो दन्तस्य दतृ वा। कुड्मलाग्रदन्, कुड्मलाग्रदन्तः।

अनु०—अग्र, अन्त, शुद्ध, शुभ्र, वृष, वराह—इन शब्दों से 'दन्त' को 'दतृ' आदेश होता है विकल्प से। कुड्मलाग्रदन्—जिसके दांत कली के अग्र भाग की तरह नुकीले हों।

रूपसिद्धिः

कुड्मलाग्रदन्—लौ० वि०—कुड्मलाग्राणीव दन्ता यस्य। अलौ० वि०—कुड्मलाग्र जस् इव दन्त जस्।

'सप्तम्युपमान०' इस वार्त्तिक से समास और उत्तरपद 'इव' का लोप। 'अग्रान्त०'[८३३] (५.४.१४५) से 'दन्त' को 'दतृ' (दत्) आदेश। पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। प्रथमा एकवचन में सु। नुम् (न्) (कुड्मलाग्रदन् त् सु)। सुलोप। त् लोप। कुड्मलाग्रदन्।

कुड्मलाग्रदन्तः—जहां 'दन्त' को 'दतृ' आदेश नहीं हुआ वहां कुड्मलाग्रदन्तः।

८८४. ककुदस्यावस्थायां लोपः (५.४.१४६)

अजातककुत् । पूर्णककुत् ।

अनु०—यदि समस्त पद अवस्था को बोधित करता हो तब ककुद के अन्त्य 'अ' का लोप हो जाता है । अजातककुत्—जिसका डिल न निकला हो—बछड़ा । पूर्ण-ककुत्—जिसका डिल पूरा निकल गया हो —युवा बैल ।

रूपसिद्धिः

अजात्ककुत्—लौ० वि०—अजातं ककुदं यस्य । अलौ० वि०—अजात सु ककुद सु ।

'अनेकमन्य०'[८७९] (२.२.२४) से समास । प्रातिपदिक संज्ञा । सुप् का लोप (अजात ककुद) । 'ककुदस्या०'[८८४] (५.४.१४६) से ककुद के अन्त्य 'अ' का लोप । पुनः प्रातिपदिक संज्ञा । प्रथमा एकवचन में सु (अजातककुद् स्) । सु का लोप । 'वावसाने'[२०६] (८.४.५६) से विकल्प से 'द्' को 'त्' (अजातककुत्) ।

पूर्णककुत्—लौ० वि०—पूर्णं ककुदं यस्य (बहु०) । अलौ० वि०—पूर्ण सु ककुद सु । अजातककुत् के समान ।

८८५. त्रिककुत्पर्वते (५.४.१४७)

त्रीणि ककुदान्यस्य त्रिककुत् । संज्ञैषा पर्वतविशेषस्य । त्रिककुदोऽन्यः ।

अनु०—'त्रि' के पूर्वपद रहते ककुद के अन्त्य 'अ' का लोप हो जाता है यदि समस्त पद किसी पर्वत की संज्ञा हो । यदि समस्त पद किसी पर्वत की संज्ञा नहीं है तब समस्त पद 'त्रिककुदः' होता है । त्रिककुत्—त्रिककुदः—जिसकी तीन चोटियां हों ।

रूपसिद्धिः

त्रिककुत्—लौ० वि०—त्रीणि ककुदानि यस्य । अलौ० वि०—त्रि जस् ककुत् जस् । पूर्ववत् ।

८८६. उद्विभ्यां काकुदस्य (५.४.१४८)

लोपः स्यात् । उत्काकुत् । विकाकुत् । काकुदं तालु ।

अनु०—उद् और वि से परे काकुद के अन्त्य 'अ' को लोप हो जाता है । काकुद शब्द का अर्थ तालु है । उत्काकुत्—जिसका तालु ऊँचा हो । विकाकुत्—जिसका तालु न हो ।

रूपसिद्धिः

उत्काकुत्—लौ० वि०—उन्नतं काकुदं यस्य । उन्नत सु काकुद सु ।

'प्रादिभ्यः' (वा० १३६०) से समास में उत्तर पद लोप । शेष 'अजातककुत्' के समान ।

विकाकुत्—लौ० वि०—विगतं काकुदं यस्य । विगत सु काकुद सु ।

'प्रादिभ्यः'(वा० १३६०)से समास में उत्तरपदलोप। शेष 'अजातककुत्' के समान।

८८७. पूर्णाद्विभाषा (५.४.१४९)

पूर्णककुत्। पूर्णककुदः।

अनु०—पूर्ण के पूर्वपद रहते ककुद शब्द के अन्त्य 'अ' का विकल्प से लोप होता है।

रूपसिद्धिः

पूर्णककुत्—लौ० वि०—पूर्णं ककुदं यस्य। अलौ० वि०—पूर्ण सु ककुद सु। अजातककुत् के समान।

पूर्णककुदः—विग्रह पूर्ववत्। यहां ककुद के अन्त्य 'अ' का लोप नहीं हुआ है।

८८८. सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः (५.४.१५०)

सुदुर्भ्यां हृदयस्य हृद्भावो निपात्यते। सुहृन्मित्रम्। दुर्हृदमित्रः। अन्यत्र सुहृदयः, दुर्हृदयः।

अनु०—बहुव्रीहि समास में सु और दुर् से परे हृदय को निपातन से हृद् हो, क्रमशः मित्र और शत्रु के अर्थ में। सुहृत्-मित्र। दुर्हृत्—शत्रु। सुहृदयः—अच्छे हृदय वाला। दुर्हृदयः—बुरे हृदय वाला।

रूपसिद्धिः

सुहृद्—लौ० वि०—सु (शोभनं) हृदयं यस्य। अलौ० वि०—सुहृदय सु।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (सु) का लोप (सु हृदय)। 'सुहृद्दुर्हृदौ०'[८३१] (५.४.१५०) से हृदय को निपातन से हृद् आदेश (सु हृद्)। प्रथमा एकवचन में सुहृद्।

इसी प्रकार दुर्हृद्। जहाँ दुर् और सु का हृदय शब्द के साथ शत्रु अथवा मित्र के अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ वहां क्रमशः दुर्हृदयः और सुहृदयः रूप होंगे।

८८९. उरःप्रभृतिभ्यः कप् (५.४.१५१)

व्यूढोरस्कः। प्रियसर्पिष्कः। इह पुमान्, अनड्वान्, पयः, नौः, लक्ष्मीः इत्येकवचनान्तानि पठ्यन्ते। द्विवचनबहुवचनान्तेभ्यस्तु 'शेषाद्विभाषा' (सू० ८९१) इति विकल्पेन कप्। द्विपुमान्, द्विपुंस्कः। 'अर्थाभ्रञः' (ग० १४९)—अनर्थकम्। नञः किम्—अपार्थम्, अपार्थकम्।

अनु०—(उरस् आदि शब्दों से कप् होता है।) व्यूढोरस्कः—जिसका वक्षःस्थल चौड़ा हो। प्रियसर्पिष्कः—जिसे घी प्रिय हो। (सूत्र में प्रभृति शब्द के ग्रहण से) पुमान्, अनड्वान्, पयः, नौः, लक्ष्मीः इन एकवचनान्त शब्दों का ग्रहण होता है।

द्विवचनान्त और बहुवचनान्त शब्दों से 'शेषाद्विभाषा' (सू० ८९१) इस सूत्र से वैकल्पिक कप् होता है। द्विपुमान्, द्विपुंस्कः—जिसके पास दो पुरुष हों।

बहुव्रीहि समास में नञ् परक अर्थ शब्द से कप् प्रत्यय होता है। अनर्थकम्—जिसका कोई प्रयोजन न हो। 'नञः' ऐसा क्यों कहा ?—अपार्थम्, अपार्थकम्—अर्थ रहित, जिसका कोई अर्थ न हो। (यहां पूर्वपद में नञ् नहीं है, अतः 'अर्थान्नञः' (ग० १४९) से कप् नहीं हुआ है।)

व्याख्या—नञः किमिति। 'अर्थान्नञः' (ग० १४९) इस गणसूत्र में 'नञः' इस पद का ग्रहण हुआ है। इसका अर्थ यह है कि नञ् परक अर्थ शब्द से कप् प्रत्यय होता है। किन्तु जहां नञ् से भिन्न पूर्वपद होगा वहां अर्थ शब्द से 'शेषाद्विभाषा'[८९१] (५.४.१५४) इस सूत्र से वैकल्पिक कप् होकर 'अपार्थम् और 'अपार्थकम्' दो रूप बनेंगे। उक्त दोनों प्रयोगों में 'अप' पूर्वपद है। अपगतोऽर्थो यस्मात् इस विग्रह में अप पूर्वक 'अर्थ' शब्द से वैकल्पिक कप् हुआ है।

रूपसिद्धिः

व्यूढोरस्कः—लौ० वि०—व्यूढम् उरो यस्य सः। अलौ० वि०—व्यूढ सु उरस् सु।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८१०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (सु, सु) का लोप (व्यूढ उरस्)। 'उरःप्रभृतिभ्यः०'[८८९] (५.४.१५१) से कप् (व्यूढ उरस् क)। गुण (व्यूढोरस् क)। 'ससजुषो रुः'[१६२] (८.२.६६) से स् को रु (र्) (व्यूढोर र् क)। 'खरवसानयो०'[७६] (८.३.१५) से र् को विसर्ग (व्यूढोरः क)। 'सोऽपदादौ०'[१५२] (८.३.३८) से विसर्ग को स् (व्यूढोरस्क)। प्रथमा एकवचन में व्यूढोरस्कः।

द्विपुमान्—द्वौ पुमांसौ यस्य इस विग्रह में जहां वैकल्पिक कप् नहीं हुआ वहां द्वि औ पुंस् इस स्थिति में 'अनेकमन्यपदार्थे'[८१०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (औ, औ) का लोप(द्वि पुंस्)। प्रथमा एकवचन में सु (द्वि पुंस् सु)। 'पुंसोऽसुङ्'[४३६] (७.१.८९) से असुङ् (अस्) (द्वि पुम् अस् सु)। 'उगिदचां०'[३६१] (७.१.७०) से नुम् (न्) (द्वि पुम न् स् सु)। 'संयोगान्तस्य०'[५४] (८.२.२३) से स् लोप (द्वि पुम न् सु)। 'सर्वनामस्थाने०'[२५०] (६.४.८) से उपधा दीर्घ (द्वि पुमा न् सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[२५२] (६.१.६८) से सु लोप (द्विपुमान्)।

द्विपुंस्कः—द्वौ पुमांसौ यस्य इस विग्रह में जहां वैकल्पिक कप् हुआ है वहाँ द्वि औ पुंस् औ इस स्थिति में 'अनेकमन्यपदार्थे'[८१०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप (द्वि पुंस्)। 'शेषाद्विभाषा'[८९१] (५.४.१५४) से कप् (द्वि पुंस् क)। 'कस्कादिषु च'[१४४] (८.३.४८) से स् को ष् प्राप्त किन्तु इस सूत्र को बाधित करके 'संपुंकानां सो वक्तव्यः' (वा० ४८९२) से स् को स् ही रहेगा, ष् आदेश नहीं होगा। प्रथमा एकवचन में **द्विपुंस्कः**।

८९०. इनः स्त्रियाम् (५.४.१५२)

बहुदण्डिका नगरी। 'अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति' (प० १७) बहुवाग्मिका। स्त्रियां किम्—बहुदण्डी, बहुदण्डिको ग्रामः।

अनु०—(बहुव्रीहि समास में इन्नन्त प्रातिपदिक से कप् प्रत्यय होता है)। बहुदण्डिका नगरी—जिस नगरी में बहुत से संन्यासी हों। अन्, इन्, अस्, मन् से अन्नन्त इन्नन्त, असन्त और मन्नन्त शब्दों का ग्रहण होता है चाहे अन् इन् अस् मन् पूर्ण प्रत्यय होने से सार्थक हों अथवा किसी अन्य प्रत्यय का भाग होने के कारण अनर्थक हों। बहुवाग्मिका—जिस (सभा में) बहुत से वक्ता हों। (प्र०) (सूत्र में) 'स्त्रियाम्' ऐसा क्यों कहा?) (उ०) इसलिए कि पुंवाचक शब्दों से कप् प्रत्यय का नित्य विधान न हो।) बहुदण्डी—जिस नगर में बहुत से दण्डी (संन्यासी) हों। बहुदण्डिको ग्रामः—जिस गाँव में बहुत से दण्डी (संन्यासी) हों।

व्याख्या—स्त्रियां किमिति। 'इनः स्त्रियाम्'[८९०] (५.४.१५२) इस सूत्र में 'स्त्रियाम्' पद का ग्रहण किया गया है। यदि सूत्र में 'स्त्रियाम्' इस पद का समावेश न किया जाता तब पुंवाचक शब्दों से भी इस सूत्र से नित्य कप् प्रत्यय हो जाता। उस दशा में 'बहुदण्डिकः' एक ही प्रयोग बनता जब कि 'शेषाद्विभाषा'[८९१] (५.४.१५४) इस सूत्र से कप् प्रत्यय करने पर 'बहुदण्डी' और 'बहुदण्डिकः' दो प्रयोग बनते हैं।

रूपसिद्धिः

बहुदण्डिका (नगरी)—लौ० वि०—बहवो दण्डिनो यस्याम्। अलौ० वि०—बहु जस् दण्डिन् जस्।

समासादि पूर्ववत्। बहुदण्डिन् से स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में 'इनः स्त्रियाम्'[८९०] (५.४.१५२) से कप् प्रत्यय होकर स्त्रीलिङ्ग में बहुदण्डिका रूप बनता है।

८९१. शेषाद्विभाषा (५.४.१५४)

अनुक्तसमासान्तात्छेषाधिकारस्थाद्बहुव्रीहेः कब्वा स्यात्। महायशस्कः महायशाः। अनुक्त इत्यादि किम्—व्याघ्रपात्। सुगन्धिः। प्रियपथः। शेषाधिकारस्थात्किम्। उपबहवः। उत्तरपूर्वा। सपुत्रः। तन्त्रादिना शेषशब्दोऽर्थद्वयपरः।

अनु०—पूर्वोक्त समासान्तों से भिन्न समासान्त वाले एवं ('शेषो बहुव्रीहिः' इस सूत्र के द्वारा) शेष अधिकार में आए हुए बहुव्रीहि से कप् प्रत्यय विकल्प से होता है। (जैसे—) महायशस्कः, महायशाः—जिसका यश बहुत हो। (सूत्र में) 'अनुक्त' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि पूर्वोक्त समासान्तों वाले बहुव्रीहि से वैकल्पिक कप् प्रत्यय न हो।) व्याघ्रपात्—जिसके पैर शेर के पैर की तरह हों। सुगन्धिः—जिसकी गन्ध उत्तम हो। प्रियपथः—जिसको मार्ग प्रिय हो। 'शेषाधिकारस्थात्' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि जहाँ शेषाधिकार में बहुव्रीहि समास नहीं हुआ वहाँ कप् प्रत्यय न हो)

उपबहवः—लगभग बहुत । उत्तरपूर्वा—उत्तर तथा पूर्व दिशा का मध्य । सपुत्रः—पुत्र के साथ । कारण विशेष से शेष शब्द के दो अर्थ हैं ।

व्याख्या—अनुक्तेति । 'शेषाद्विभाषा'[८९१] (५.४.१५४) इस सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि पूर्वोक्त समासान्तों से भिन्न समासान्त वाले बहुव्रीहि से कप् प्रत्यय विकल्प से होता है । यदि ऐसा न कहते तो पूर्वोक्त समासान्तों वाले बहुव्रीहि से भी प्रस्तुत सूत्र से वैकल्पिक कप् हो जाता । जैसे—व्याघ्रपात् । इस प्रयोग में 'पादस्य लोपो०'[८७७] (५.४.१३८) इस सूत्र से पाद के अन्त्य अ के लोप की समासान्त संज्ञा हुई है । यदि पूर्वोक्त समासान्तों का भी ग्रहण कर लेते तब उक्त प्रयोग में वैकल्पिक कप् हो जाता जो कि इष्ट नहीं है । इसी प्रकार, सुगन्धिः—शोभनो गन्धो यस्य इस विग्रह में 'गन्धस्येदुत्पूति'०[८७४] (५.४.१३५) इस सूत्र से गन्ध के अन्त्य अ को इत् आदेश हुआ है और उसकी समासान्त संज्ञा हुई है । अतः यहाँ भी वैकल्पिक कप् नहीं हुआ । इसी प्रकार, प्रियपथः—प्रियः पन्थाः यस्य इस विग्रह में प्रियपथिन् शब्द से समासान्त अ प्रत्यय हुआ है, अतः यहां 'शेषाद्विभाषा'[८९१] (५.४.१५४) इस सूत्र से वैकल्पिक कप् नहीं हुआ ।

शेषाधिकारस्थात्किमिति । 'शेषाद्विभाषा'[८९१] (५.४.१५४) इस सूत्र से उसी बहुव्रीहि से वैकल्पिक कप् होता है जहां 'शेषो बहुव्रीहिः'[८३९] (२.२.२३) इस सूत्र का अधिकार हो । अतः 'उपबहवः' इस प्रयोग में 'शेषाद्विभाषा'[८९१] (५.४.१५४) इस सूत्र से कप् नहीं हुआ क्योंकि वहां 'संख्याव्यय०'[८४३] (२.२.२५) इस सूत्र से बहुव्रीहि हुआ है जो शेषाधिकार में नहीं है । इसी प्रकार 'उत्तरपूर्वा' इस प्रयोग में 'दिङ्नामान्यन्तराले'[८४५] (२.२.२६) इस सूत्र से बहुव्रीहि समास हुआ है जो शेषाधिकार में नहीं है । अतः यहां कप् नहीं हुआ । सपुत्रः—यहां 'तेन सह' इस सूत्र से बहुव्रीहि समास हुआ है । यह भी शेषाधिकार में नहीं है । अतः यहां कप् नहीं हुआ ।

तन्त्रादिनेति । कारण विशेष से शेष शब्द के दो अर्थ हैं ।

यद्यपि सूत्र में केवल शेषात् शब्द ही है तो भी शेषश्च शेषश्चेति शेषः इस प्रकार एकशेष समास हुआ है । एकवचन में प्रयोग आर्ष है । एक शेष का अर्थ है—'उक्त समासान्तों से भिन्न' । दूसरे शेष का अर्थ है—'शेषो बहुव्रीहिः'[८३९] (२.२.२३) इस सूत्र से विहित शेषाधिकार में स्थित । इस प्रकार शेष शब्द के दो अर्थ बनते हैं ।

रूपसिद्धिः

महायशस्कः—लौ० वि०—महत् यशः यस्य । अलौ० वि०—महत् सु यशस् सु । 'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) से समास । प्रातिपदिक संज्ञा । सुप् का लोप (महत् यशस्) । 'आन्महतः०'[८०७] (६.३.४६) से महत् के त् को आ आदेश (मह आ यशस्) । सवर्णदीर्घ (महा यशस्) । 'शेषाद्विभाषा'[८९१] (५.४.१५४) से कप् (महा यशस् क) । 'ससजुषो रुः'[१६२] (८.२.६६) से स् को रु (र्) (महायश र् क) । 'खरवसानयो०'[१७६] (८.३.१५) से र् को विसर्ग (महायशः क) । 'सोऽपदादौ'[१५२] (८.३.३८) से विसर्ग को स् । प्रथमा एकवचन में महायशस्कः ।

जहां कप् नहीं हुआ वहां 'महायशस्' इस स्थिति में 'अत्वसन्तस्य चाधातोः'[४२५] (६.४.१४) इस सूत्र से उपधादीर्घ (महायशास्)। प्रथमा एकवचन में सु (महायशास् सु)। 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[४२२] (६.१.६८) से सु लोप (महायशास्)। स् को रु (र्) और र् को विसर्ग। महायशाः।

८९२. आपोऽन्यतरस्याम् (७.४.१५)

कप्याबन्तस्य ह्रस्वो वा स्यात्। बहुमालाकः, बहुमालकः। कबभावे बहुमालः।

अनु०—कप् प्रत्यय परे रहते आबन्त को विकल्प से ह्रस्व होता है। बहुमालाकः, बहुमालकः—जिसके पास बहुत सी मालाएँ हों। कबभाव में बहुमालः—जिसके पास बहुत सी मालाएँ हों।

रूपसिद्धिः

बहुमालाकः—लौ० वि०—बह्वीः मालाः यस्य। अलौ० वि०—बहु जस् माला जस्।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (जस्, जस्) का लोप (बह्वी माला)। 'शेषाद्विभाषा'[८९१] (५.४.१५४) से कप् (बह्वी माला कप्)। 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) से बह्वी को पुंवद्भाव (बहु माला क)। प्रथमा एकवचन में बहुमालाकः।

'आपोऽन्यतरस्याम्'[८९२] (७.४.१५) इस सूत्र से माला शब्द को ह्रस्व करने पर बहुमालकः।

जहाँ 'शेषाद्विभाषा'[८९१] (५.४.१५४) इस सूत्र से वैकल्पिक कप् नहीं हुआ वहाँ बहुमालः प्रयोग बनता है।

८९३. न संज्ञायाम् (५.४.१५५)

'शेषात्०' (सू० ८९१) इति प्राप्तः कप्न स्यात्संज्ञायाम्। विश्वे देवा अस्य विश्वदेवः।

अनु०—'शेषात्०' (सू० ८९१) इस सूत्र से प्राप्त कप् नहीं होता यदि समस्त शब्द संज्ञा का बोधक हो। विश्वदेवः—जिसके देवता विश्वदेव हों।

रूपसिद्धिः

विश्वदेवः—यह संज्ञावाचक शब्द है। विश्वे देवा अस्य इस विग्रह में 'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। 'शेषाद्विभाषा'[८९१] (५.४.१५४) से कप् प्राप्त हुआ 'न संज्ञायाम्'[८९३] (५.४.१५५) से निषेध। प्रथमा एकवचन में विश्वदेवः।

८९४. ईयसश्च (५.४.१५६)

ईयसन्तोत्तरपदान्न कप्। बहवः श्रेयांसोऽस्य बहुश्रेयान्। 'गोस्त्रियोः–' (सू० ६५६) इति ह्रस्वत्वे प्राप्ते। 'ईयसो बहुव्रीहेर्नेति वाच्यम्' (वा० ६९६) बह्व्यः श्रेयस्योऽस्य बहुश्रेयसी। बहुव्रीहेः किम्–अतिश्रेयसिः।

अनु०—ईयस् प्रत्यय जिसके अन्त में है उस उत्तर पद से कप् न हो। बहुश्रेयान्—जिसके पास बहुत से उत्तम गुण हों। 'गोस्त्रियोः०' (सू० ६५६) सूत्र से ह्रस्व प्राप्त होने पर 'ईयस्' प्रत्ययान्त बहुव्रीहि के परवर्ती स्त्रीप्रत्यय को ह्रस्व न हो।' बहुश्रेयसी—जिसके पास बहुत सी उत्तम स्त्रियाँ हों। 'बहुव्रीहेः' ऐसा क्यों कहा ? अतिश्रेयसिः—(गुणवती स्त्री से बढ़कर)—(यहाँ स्त्रीप्रत्यय बहुव्रीहि–भिन्न तत्पुरुष समास का परवर्ती है। इसलिए उक्त वार्त्तिक से ह्रस्व निषेध नहीं हुआ।)

व्याख्या—बहुव्रीहेः किमिति। 'ईयसो बहुव्रीहेर्नेति वाच्यम्' (वा० ६९६) इस वार्त्तिक में कहा है कि ईयस् प्रत्ययान्त बहुव्रीहि के परवर्ती स्त्री प्रत्यय को ह्रस्व न हो। किन्तु यदि स्त्रीप्रत्यय बहुव्रीहि–भिन्न किसी अन्य समास का परवर्ती हो तब उक्त वार्त्तिक से ह्रस्व निषेध नहीं होगा। जैसे—अतिश्रेयसिः। यहाँ श्रेयसीमतिक्रान्तः इस विग्रह में 'अत्यादयः०' (वा० १३३६) से तत्पुरुष समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। उपसर्जन संज्ञा। उपसर्जन संज्ञक श्रेयसी की 'ई' को 'गोस्त्रियोः०'[६५६] (१.२.४८) से उपसर्जन ह्रस्व। प्रथमा एकवचन में अतिश्रेयसिः। यहां स्त्रीप्रत्यय बहुव्रीहि भिन्न तत्पुरुष समास का परवर्ती है अतः 'ईयसो बहुव्रीहेर्नेति वाच्यम्' (वा० ६९६) इस वार्त्तिक से ह्रस्व निषेध नहीं हुआ है।

रूपसिद्धिः

बहुश्रेयसी—लौ० वि०—बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य। अलौ० वि०—बह्वी जस् श्रेयसी जस्।

'अनेकमन्यपदार्थे'[८३०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (जस्, जस्) का लोप (बह्वी श्रेयसी)। 'स्त्रियाः पुंवत्०'[८३१] (६.३.३४) से 'बह्वी' शब्द को पुंवद्भाव (बहु श्रेयसी)। प्रथमा एकवचन में बहुश्रेयसी।

यहां 'श्रेयसी' शब्द उपसर्जन स्त्रीप्रत्ययान्त है। अतः यहां 'गोस्त्रियोः०'[६५६] (१.२.४८) से 'ई' को ह्रस्व प्राप्त था किन्तु 'ईयसो बहुव्रीहेर्नेति वाच्यम्' (वा० ६९६) इस वार्त्तिक से निषेध हुआ है।

८९५. वन्दिते भ्रातुः (५.४.१५७)

पूजितेऽर्थे यो भ्रातृशब्दस्तदन्तान्न कप् स्यात्। प्रशस्तो भ्राता यस्य प्रशस्तभ्राता, सुभ्राता। 'न पूजनात्' (सू० ९५४) इति निषेधस्तु 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः–' (सू० ८५२) इत्यतः प्रागेवेति वक्ष्यते। वन्दिते किम्–मूर्खभ्रातृकः।

अनु०—पूजित अर्थ में प्रयुक्त भ्रातृ शब्द जिसके अन्त में हो उस बहुव्रीहि से कप्

नहीं होता। प्रशस्तभ्राता, सुभ्राता—जिसका भाई प्रशंसनीय हो। 'न पूजनात्' (सू० ९५४) से कप् निषेध होता है किन्तु इसकी प्रवृत्ति 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०' (सू० ८५२) इस सूत्र के पहले तक ही रहती है। (प्र०) (सूत्र में) 'वन्दिते' ऐसा क्यों कहा? (उ०) (इसलिए कि जहां भ्रातृ शब्द का प्रयोग वन्दित अर्थ में नहीं हुआ वहां कप् का निषेध न हो।) मूर्खभ्रातृकः—जिसका भाई मूर्ख हो।

रूपसिद्धिः

प्रशस्तभ्राता—लौ० वि०—प्रशस्तो भ्राता यस्य। अलौ० वि०—प्रशस्त सु भ्रातृ सु। 'अनेकमन्यपदार्थे'[८१०] (२.२.२४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (सु, सु) का लोप (प्रशस्त भ्रातृ)। 'नद्यृतश्च'[८३३] (५.४.१५३) से कप् प्राप्त होने पर 'वन्दिते भ्रातुः'[८९५] (५.४.१५७) से निषेध। प्रथमा एकवचन में सु (प्रशस्त भ्रातृ सु)। 'ऋदुशनस्०'[२७६] (७.१.९४) से अनङ् (अन्) (प्रशस्त भ्रात् अन्=प्रशस्तभ्रातन् सु)। उपधा दीर्घ (प्रशस्तभ्रातान् सु)। सु लोप। नलोप। प्रशस्तभ्राता। इसी प्रकार सुभ्राता।

८९६. नाडीतन्त्र्योः स्वाङ्गे (५.४.१५९)

स्वाङ्गे यौ नाडीतन्त्रीशब्दौ तदन्तात्कप्न स्यात्। बहुनाडिः कायः। बहुतन्त्रीग्रीवा। बहुतन्त्रीर्धमनी। स्त्रीप्रत्ययान्तत्वाभावाद्ह्रस्वो न। स्वाङ्गे किम्—बहुनाडीकः स्तम्भः। बहुतन्त्रीका वीणा।

अनु०—स्वाङ्गवाची नाडी व तन्त्री शब्द जिसके अन्त में हैं उस बहुव्रीहि से कप् न हो। बहुनाडिः कायः—बहुत सी नाड़ियों वाला (शरीर)। बहुतन्त्रीग्रीवा—बहुत सी नसों वाली (गर्दन)। बहुतन्त्रीर्धमनी—बहुत सी नसों वाली धमनी। स्त्रीप्रत्ययान्त के अभाव के कारण ह्रस्व नहीं हुआ है। (प्र०) (सूत्र में) 'स्वाङ्गे' ऐसा क्यों कहा? (उ०) बहुनाडीकः स्तम्भः (बहुत सी नालियों वाला खम्भा)। बहुतन्त्रीका वीणा—बहुत से तारों वाली वीणा। (इसलिए कि इन उदाहरणों में स्तम्भ की नाड़ी और वीणा की तन्त्री उनके अङ्ग नहीं हैं अतः यहाँ कप् निषेध नहीं हुआ है।)

व्याख्या—स्त्रीप्रत्ययान्तत्वाभावादिति। बहुतन्त्रीः बह्व्यस्तन्त्र्यो यस्य। यहाँ तन्त्री शब्द को 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य'[६५६] (१.२.४८) से ह्रस्व प्राप्त नहीं होता क्योंकि तन्त्री शब्द में 'अवितॄस्तृतन्त्रीभ्य ईः' (सू० ४३८) इस उणादि सूत्र से ई प्रत्यय हुआ है जिस पर 'स्त्रियाम्' इसका अधिकार नहीं है।

स्वाङ्गे किमिति। 'नाडीतन्त्र्योः स्वाङ्गे'[८९६] (५.४.१५९) इस सूत्र में 'स्वाङ्गे' का ग्रहण इसलिए किया गया है कि जब नाड़ी और तन्त्री अपना अङ्ग सूचित करें तभी कप् का निषेध होगा अन्यथा नहीं। अतः उक्त उदाहरणों में कप् का निषेध नहीं हुआ क्योंकि स्तम्भ की नाड़ी और वीणा की तन्त्री उनके अङ्ग नहीं हैं। बहुनाडीकः, बहुतन्त्रीका इन उदाहरणों में 'नद्यृतश्च'[८३३] (५.४.१५३) से कप् हुआ है।

८९७. निष्प्रवाणिश्च (५.४.१६०)

कबभावोऽत्र निपात्यते । प्रपूर्वाद्वयतेर्ल्युट् । प्रवाणी तन्तुवायशलाका । निर्गता प्रवाण्यस्य निष्प्रवाणिः पटः, समाप्तवानः, नव इत्यर्थः ।

अनु०—यहाँ कप् का अभाव निपातन से होता है । प्र पूर्वक वि धातु से ल्युट् करने पर प्रवाणी शब्द बनता है । प्रवाणी तन्तुवायशलाका । निष्प्रवाणिः पटः—जो (वस्त्र) करघे से निकाल लिया गया हो, नवीन वस्त्र ।

रूपसिद्धिः

निष्प्रवाणिः—अलौ० वि०—निर्गता प्रवाणी अस्य । अलौ० वि०—निर् प्रवाणी सु ।

यहाँ 'नद्यृतश्च'[८३३] (५.४.१५३) इस सूत्र से प्राप्त कप् का निषेध 'निष्प्रवाणिश्च'[८९७] (५.४.१६०) सूत्र से हुआ है ।

८९८. सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ (२.२.३५)

सप्तम्यन्तं विशेषणं च बहुव्रीहौ पूर्वं प्रयोज्यम् । कण्ठेकालः । अतएव ज्ञापकाद्व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः । चित्रगुः । 'सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानम्' (वा० १४१६) सर्वश्वेतः । द्विशुक्ल, त्रिशुक्लः । 'मिथोऽनयोः समासे संख्या पूर्वं शब्दपरविप्रतिषेधात्' (वा ५०४४) । द्वयन्यः । 'संख्याया अल्पीयस्याः' (वा० १४१७) द्वित्राः । द्वन्द्वेऽपि । द्वादश । 'वा प्रियस्य' (वा० १४२०) गुडप्रियः, प्रियगुडः । 'गड्वादेः परा सप्तमी' (वा० १४२१) गडुकण्ठः । क्वचिन्न । वहेगडुः ।

अनु०—बहुव्रीहि समास में सप्तम्यन्त और विशेषण पद का पूर्व प्रयोग करना चाहिए । कण्ठेकालः—आसन्नमृत्यु, जिसके प्राण कण्ठ में आ गए हों । बहुव्रीहि में सप्तम्यन्त पद के पूर्व निपात नियम से) सिद्ध होता है कि सूत्रकार को व्यधिकरण (भिन्न विभक्ति) में भी बहुव्रीहि समास इष्ट है । चित्रगुः—जिसकी गाय चितकबरी हों । 'सर्वनामसंज्ञक और संख्यावाचक शब्दों का भी बहुव्रीहि में पूर्व निपात होता है ।' सर्वश्वेतः—बिलकुल सफेद । द्विशुक्लः—जिसके दो सफेद हों । त्रिशुक्लः—जिसके तीन सफेद हों । 'जब सर्वनामसंज्ञक और संख्यावाचक शब्द का परस्पर समास करना हो तब संख्यावाचक शब्द का पूर्व निपात होता है क्योंकि संख्यावाचक पद परवर्ती है ।' द्वयन्यः—जिसके दो अन्य हों ।

'जब दो संख्यावाचक शब्दों का समास करना हो तब लघुसंख्यक शब्द का पूर्व प्रयोग होता है' । द्वित्राः—दो या तीन । द्वन्द्व समास में भी लघुसंख्यावाचक शब्द का पूर्व प्रयोग होता है । द्वादश—दो और दस=बारह । 'बहुव्रीहि में प्रिय शब्द का विकल्प से पूर्व प्रयोग होता है । गुडप्रियः, प्रियगुडः—जिसे गुड प्रिय हो । 'गड्वु आदि शब्दों के साथ समास करने में सप्तम्यन्त पद का अन्त में प्रयोग होता है ।' गडुकण्ठः—जिसके गले में कण्ठमाल हो । कहीं गडु शब्द के होने पर भी सप्तम्यन्त पद का प्रयोग नहीं होता है । वहेगडुः—जिसके कन्धे पर मांसपिण्ड हो ।

व्याख्या—अतएव इति। 'कण्ठेकालः' इस प्रयोग में 'कण्ठे' पद की 'प्रथमानिर्दिष्टं०'[६५३] (१.२.४३) से उपसर्जन संज्ञा होती है क्योंकि 'सप्तमीविशेषणे०'[६५८] (२.२.३५) इस सूत्र में सप्तमी प्रथमानिर्दिष्ट है। उपसर्जनसंज्ञक 'कण्ठे' पद का 'उपसर्जनं पूर्वम्'[६५४] (२.२.३०) से पूर्व प्रयोग होता है।

'कण्ठे' सप्तम्यन्त पद है और 'कालः' प्रथमान्त पद है। यहाँ समानाधिकरण न होने से बहुव्रीहि समास प्राप्त नहीं था तब 'सप्तमीविशेषणे०'[६५८] (२.२.३५) इस सूत्र से सप्तम्यन्त पद का पूर्व-निपात कैसे ?

उत्तर में कहा है कि बहुव्रीहि समास में सप्तम्यन्त पद के पूर्वनिपात नियम से सिद्ध होता है कि सूत्रकार को व्यधिकरण (भिन्न विभक्ति) में भी बहुव्रीहि समास इष्ट है। दूसरा, 'सप्तमीविशेषणे०'[६५८] (२.२.३५) इस सूत्र में विशेषण पद से ही 'कण्ठेकालः' आदि प्रयोग में पूर्वनिपात सम्भव था। जैसे 'कण्ठेकालः' इस प्रयोग में 'कण्ठे' यह पद विशेषण होने से पूर्व में प्रयुक्त हो सकता था। तब उक्त सूत्र में 'सप्तमी' पद व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि समानाधिकरण बहुव्रीहि में ही विशेषण पद का पूर्वनिपात होता है। अतः व्यधिकरण बहुव्रीहि में सप्तम्यन्त पद का पूर्वनिपात करने के लिए उक्त सूत्र में 'सप्तमी' पद का प्रयोग आवश्यक है। तीसरा, इससे व्यधिकरणों में सप्तमी का ही बहुव्रीहि समास होना सिद्ध होता है, द्वितीयादियों का नहीं।

मिथोऽनयोः समासे संख्यापूर्वमिति। जब सर्वनामसंज्ञक और संख्यावाचक शब्द का परस्पर समास करना हो तब संख्यावाचक शब्द का पूर्वनिपात होता है, क्योंकि 'सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानम्' (वा० १४१९) इस वार्त्तिक में सर्वनामसंज्ञक पद पूर्ववर्ती और संख्यावाचक पद परवर्ती है। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'[१७९] (१.४.२) इस सूत्र के अनुसार परवर्ती संख्यावाचक पद बलवान् है, अतः उसका ही पूर्व प्रयोग होता है। जैसे—द्वचन्यः।

८९९. निष्ठा (२.२.३६)

निष्ठान्तं बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात्। कृतकृत्यः। 'जातिकालसुखादिभ्यः परा निष्ठा वाच्या' (वा० १४२२) सारङ्गजग्धी। मासजाता। सुखजाता। प्रायिकं चेदम्। कृतकटः। पीतोदकः।

अनु०—बहुव्रीहि समास में निष्ठान्त पद का पूर्व प्रयोग होता है। कृतकृत्यः—जिसने कर्तव्य पूरा कर लिया हो। 'जाति, काल, सुख आदि शब्दों के साथ समस्यमान निष्ठान्त पद का अन्त में प्रयोग होता है।' सारङ्गजग्धी—जिस स्त्री ने मृग खाया हो। मासजाता—जिसे पैदा हुए एक महीना हुआ हो। सुखजाता—जिसका जन्म सुख से हुआ हो। 'जातिकालसुखादिभ्यः०' (वा० १४२२) इस वार्त्तिक से प्राप्त निष्ठा परत्व बहुलतया होता है अर्थात् कहीं होता है कहीं नहीं होता। कृतकटः—जिसने चटाई बना ली हो। पीतोदकः—जिसने जल पी लिया हो।

९००. वाऽऽहिताग्न्यादिषु (२.२.३७)

आहिताग्निः । अग्न्याहितः । आकृतिगणोऽयम् । 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ' (वा० १४२५) अस्युद्यतः । दण्डपाणिः । क्वचिन्न । विवृतासिः ।

अनु०—(आहिताग्नि गण में पठित निष्ठान्त पदों का बहुव्रीहि समास में विकल्प से पूर्व प्रयोग होता है ।) आहिताग्निः, अग्न्याहितः—जिसने हवन की अग्नि स्थापित कर ली हो । आहिताग्नि गण आकृति गण है । 'बहुव्रीहि समास में निष्ठान्त और सप्तम्यन्त पदों का आयुधार्थक पदों के परे प्रयोग होता है ।' अस्युद्यतः—जिसने तलवार उठा ली है । दण्डपाणिः—जिसके हाथ में लाठी है । कहीं निष्ठान्त और सप्तम्यन्त पदों का आयुधार्थक पदों के परे प्रयोग नहीं भी होता । विवृतासिः—जिसने म्यान से तलवार निकाल ली है ।

इति बहुव्रीहिसमासप्रकरणम् ।

द्वन्द्वसमासप्रकरणम्

९०१. चार्थे द्वन्द्वः (२.२.२९)

अनेकं सुबन्तं चार्थे वर्तमानं वा समस्यते, स द्वन्द्वः । समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोग-समाहाराश्चार्थाः । परस्परनिरपेक्षस्यानेकस्यैकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः । अन्यतरस्यानुषङ्गिकत्वेऽन्वाचयः । मिलितानामन्वयः इतरेतरयोगः । समूहः समाहारः । तत्रेश्वरं गुरुं च भजस्व इति समुच्चये, भिक्षामट गां चानय इत्यन्वाचये च न समासोऽसामर्थ्यात् । धवखदिरौ । संज्ञापरिभाषम् । अनेकोक्तेर्होतृपोतृनेष्टोद्गातारः । द्वयोर्द्वयोर्द्वन्द्वं कृत्वा पुनर्द्वन्द्वे तु होतापोतानेष्टोद्गातारः ।

अनु०—'च' के अर्थ में वर्तमान अनेक सुबन्तों का समास होता है और उसकी द्वन्द्व संज्ञा होती है । समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग और समाहार—ये 'च' के अर्थ हैं । परस्पर निरपेक्ष अनेक पदार्थ के एक पदार्थ में अन्वय को समुच्चय कहते हैं । जब समुच्चीयमान (जिनका समुच्चय हो रहा हो) पदार्थों में एक का आनुषङ्गिकतया—गौण रूप से—अन्वय हो, तब उसे अन्वाचय कहते हैं । जब पदार्थ मिलकर आगे अन्वित हों तब उसे इतरेतर-योग कहते हैं । समूह को समाहार कहते हैं । 'ईश्वरं गुरुं च भजस्व' इस समुच्चय द्वन्द्व में तथा 'भिक्षामट गां चानय' इस अन्वाचय द्वन्द्व में समास नहीं होता क्योंकि यहाँ सामर्थ्य नहीं है । धवखदिरौ—धव और खैर । संज्ञा-परिभाषम्—संज्ञा और परिभाषा । (सूत्र में 'अनेकमन्यपदार्थे' (सू० ८३०) इस सूत्र से) 'अनेकम्' की अनुवृत्ति हुई है । अतः अनेक सुबन्तों का द्वन्द्व समास होकर होतृपोतृ-

नेष्टोद्गातारः रूप बना है। 'होतापोतारौ और नेष्टोद्गातारौ' इन दो द्वन्द्वों का एक द्वन्द्व समास करें तब होतापोतानेष्टोद्गातारः रूप बनता है।

व्याख्या—तत्रेश्वरं गुरुं चेति। 'ईश्वरं गुरुं च भजस्व' इस समुच्चय द्वन्द्व में समास नहीं होता क्योंकि 'च' के अर्थ में सामर्थ्य नहीं है। समुच्चय द्वन्द्व में दोनों पदार्थ निरपेक्ष रहते हैं और सामर्थ्य दोनों के सापेक्ष रहने पर होता है। उपर्युक्त वाक्य में ईश्वर और गुरु पदार्थ निरपेक्ष हैं, एक दूसरे की अपेक्षा नहीं करते, दोनों का स्वतन्त्र रूप से भजन क्रिया में अन्वय होता है, अतः यहाँ सामर्थ्य न होने के कारण समास नहीं हुआ है।

'भिक्षामट गां चानय' इस अन्वाचय द्वन्द्व में समास नहीं होता क्योंकि 'च' के अर्थ में सामर्थ्य नहीं है। अन्वाचय में एक अर्थ गौण रहता है, दोनों समकक्ष नहीं रहते। उपर्युक्त वाक्य में प्रधान कार्य भिक्षा माँगना है और गाय लाना गौण कार्य है। यहाँ समकक्षता न होने के कारण सामर्थ्य नहीं है अतः समास नहीं हुआ है।

अनेकोक्तेरिति। 'चार्थे द्वन्द्वः'[१०१] (२.२.२९) इस सूत्र में 'अनेकमन्यपदार्थे'[८०] (२.२.२४) इस सूत्र से 'अनेकम्' की अनुवृत्ति हुई है, अतः होता च पोता च नेष्टा च उद्गाता च इस विग्रह में अनेक सुबन्तों का द्वन्द्व समास होकर 'होतृपोतृनेष्टोद्गातारः' रूप बना है। किन्तु यदि हम होता च पोता च होतापोतारौ, नेष्टा च उद्गाता च नेष्टोद्गातारौ दो-दो पदों का द्वन्द्व समास करके पुनः "होतापोतारौ च नेष्टोद्गातारौ च" इन दो द्वन्द्वों का एक द्वन्द्व समास करें तब "होतापोतानेष्टोद्गातारौ" रूप बनता है।

होतृपोतृनेष्टोद्गातारः—इस अनेक पदों के द्वन्द्व में उद्गातृ उत्तरपद है, अतः पूर्वपद 'नेष्टृ' को 'आनङृतो द्वन्द्वे'[१११] (६.३.२५) इस सूत्र से आनङ् आदेश हुआ है। किन्तु जहाँ दो पदों के (जैसे होतापोतारौ नेष्टोद्गातारौ) पृथक् दो द्वन्द्वों का एक द्वन्द्व समास होता है वहाँ तीनों पदों को आनङ् आदेश होगा। उदाहरणार्थ—होतापोतारौ' इस द्वन्द्व में पूर्वपद होतृ को आनङादेश हुआ है। इसी प्रकार 'नेष्टोद्गातारौ' में पूर्वपद नेष्टृ को आनङादेश हुआ है। पुनः होतापोतारौ च नेष्टोद्गातारौ च—इन दो द्वन्द्वों के समास में पूर्वपद होतापोतृ को आनङादेश हुआ है।

रूपसिद्धिः

धवखदिरौ—लौ० वि०—धवश्च खदिरश्च। अलौ० वि०—धव सु खदिर सु।

'चार्थे द्वन्द्वः'[१०१] (२.२.२९) से इतरेतर-योग अर्थ में समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (सु, सु) प्रत्ययों का लोप (धव खदिर)। पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। प्रथमा विभक्ति द्विवचन में धवखदिरौ।

संज्ञापरिभाषम्—लौ० वि०—संज्ञा च परिभाषा च तयोः समाहारः। अलौ० वि०—संज्ञा सु परिभाषा सु।

'चार्थे द्वन्द्वः'[१०१] (२.२.२९) से समाहार अर्थ में समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (सु, सु) प्रत्ययों का लोप (संज्ञा परिभाषा)। पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। प्रथमा

विभक्ति एकवचन में सु प्रत्यय (संज्ञा परिभाषा सु)। 'स नपुंसकम्'०[९२१] (२.४.१७) से नपुंसक संज्ञा। प्रथमा विभक्ति एकवचन में संज्ञापरिभाषम्।

होतृपोतृनेष्टोद्गातारः—लौ० वि०—होता च पोता च नेष्टा च उद्गाता च। अलौ० वि०—होतृ सु पोतृ सु नेष्टृ सु उद्गातृ सु।

'चार्थे द्वन्द्वः'[९०१] (२.२.२९) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् (सु, सु, सु, सु) प्रत्ययों का लोप (होतृ पोतृ नेष्टृ उद्गातृ)। 'आनङृतो द्वन्द्वे'[९२१] (६.३.२५) से नेष्टृ को आनङ् आदेश (होतृ पोतृ नेष्टा उद्गातृ)। पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। गुण (होतृपोतृ-नेष्टोद्गातृ)। प्रथमा विभक्ति बहुवचन में होतृपोतृनेष्टोद्गातारः।

९०२. राजदन्तादिषु परम् (२.२.३१)

एषु पूर्वप्रयोगार्हं परं स्यात्। दन्तानां राजा राजदन्तः। 'धर्मादिष्वनियमः' (वा० १४१८) अर्थधर्मौ, धर्मार्थौ। दम्पती, जम्पती, जायापती। जायाशब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च वा निपात्यते। आकृतिगणोऽयम्।

अनु०—राजदन्त आदि शब्दों में जिस पद का पूर्व प्रयोग प्राप्त हो उसे पर रखा जाए। राजदन्तः—दाँतों में सर्वश्रेष्ठ। 'धर्म आदि शब्दों में किसका पूर्वनिपात हो और किसका परनिपात—इसका कोई नियम नहीं है।' अर्थधर्मौ, धर्मार्थौ—धर्म और अर्थ। दम्पती, जम्पती, जायापती—पति-पत्नी। जाया शब्द को जम् अथवा दम् निपातन से होता है। राजदन्तादि गण आकृति गण है।

व्याख्या—राजदन्तादि गण में निम्न शब्द हैं—राजदन्तः, अग्रेवणम्, लिप्त-वासितम्, नग्नमुषितम्, सिक्तसंमृष्टम्, मृष्टलुञ्चितम्, अवक्लिन्नपक्वम्, अर्पितोतम्, (अर्पितोप्तम्), उप्तगाढम्। उलूखलमुसलम्, तण्डुलकिण्वम्, दृषदुपलम्, आरड्वायनि, (आरग्वायनबन्धकी), चित्ररथबाह्लीकम्। अवन्त्यश्मकम्, शूद्रार्यम्, स्नातकराजानौ, विष्वक्सेनार्जुनौ, अक्षिध्रुवम्, दारगवम्, शब्दार्थौ, धर्मार्थौ, कामार्थौ, अर्थशब्दौ, अर्थधर्मौ, अर्थकामौ, वैकारिमतम्, गाजवाजम् (गोजवाजम्), गोपालिधानपूलसम्, (गोपालधानीपूलासम्), पूलासकारण्डम्, (पूलासककुरण्डम्), स्थूलासम्, (स्थूलपूलासम्), उशीरबीजम्, (जिज्ञास्थि), सिञ्जास्थम्, (सिञ्जाश्वत्थम्), चित्रास्वाती, (चित्रस्वाती), भार्यापती, दम्पती, जम्पती, जायापती, पुत्रपती, पुत्रपशू, केशश्मश्रू, शिरोबिजु, (शिरोबीजम्), शिरोजानु, सर्पिर्मधुनी, मधुसर्पिषी, (आद्यन्तौ), अन्तादी, गुणवृद्धी, वृद्धिगुणौ।

राजदन्तादियों में द्वन्द्व के सभी प्रयोग आते हैं, अतएव द्वन्द्व समास प्रकरण में यह सूत्र दिया गया है।

धर्मादिष्विति। धर्म, अर्थ आदि शब्दों में किसको पहले रखा जाए—इसका कोई नियम नहीं है, इच्छानुसार किसी को भी पहले रखा जा सकता है।

राजदन्तादि आकृतिगण है। साहित्य में उपलब्ध प्रयोगों से ही राजदन्तादि गण का निर्धारण हो सकता है।

रूपसिद्धिः

राजदन्तः—लौ० वि०—दन्तानां राजा। अलौ० वि०—दन्त आम् राजन् सु।

'षष्ठी'[७०२] (२.२.८) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप (दन्त राजन्)। पुनः प्रातिपदिक संज्ञा। सु (दन्तराजन् सु)। सु लोप (दन्त राजन्)। न् लोप (दन्त राज)। समासशास्त्र में 'षष्ठी' प्रथमान्त पद है। अतः षष्ठ्यन्त दन्त शब्द को उपसर्जन संज्ञक होने के कारण पूर्वनिपात प्राप्त था किन्तु 'राजदन्तादिषु परम्०'[९०२] (२.२.३१) इस सूत्र से परनिपात हुआ है (राजदन्त)। प्रथमा विभक्ति एकवचन में राजदन्तः।

अर्थधर्मौ, धर्मार्थौ—लौ० वि०—अर्थश्च धर्मश्च। अलौ० वि०—अर्थ सु धर्म सु।

'चार्थे द्वन्द्वः'[९०१] (२.२.२९) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सु लोप (अर्थ धर्म)। पूर्व प्रयोग का नियम न होने से कभी अर्थ शब्द का और कभी धर्म शब्द का पूर्व प्रयोग हुआ। तब दो पदार्थ होने से द्विवचन में अर्थधर्मौ और धर्मार्थौ रूप बने।

दम्पती, जम्पती, जायापती—लौ० वि०—जाया च पतिश्च। अलौ० वि०—जाया सु पति सु।

'चार्थे द्वन्द्वः'[९०१] (२.२.२९) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप (जाया पति)। इस स्थिति में जाया शब्द को दम् अथवा जम् निपातन से होकर प्रथमा द्विवचन में दम्पती, जम्पती प्रयोग हुए। किन्तु जहाँ जाया शब्द को दम् अथवा जम् आदेश नहीं हुआ वहाँ जायापती।

९०३. द्वन्द्वे घि (२.२.३२)

द्वन्द्वे घिसंज्ञं पूर्वं स्यात्। हरिश्च हरश्च हरिहरौ। 'अनेकप्राप्तावेकत्र नियमोऽनियमः शेषे' (वा० १४१०) हरिगुरुहराः—हरिहरगुरवः।

अनु०—द्वन्द्व में घिसंज्ञक शब्द का पूर्व प्रयोग होता है। हरिहरौ—विष्णु और महादेव। 'जहाँ एक से अधिक घिसंज्ञक पद हों वहाँ एक ही घिसंज्ञक पद के पूर्वनिपात का नियम है। अन्य घिसंज्ञक पद इच्छानुसार कहीं भी रखे जा सकते हैं।' हरिगुरुहराः, हरिहरगुरवः—विष्णु, शिव तथा गुरु।

रूपसिद्धि:

हरिहरौ—लौ० वि०—हरिश्च हरश्च। अलौ० वि०—हरि सु हर सु।

'चार्थे द्वन्द्वः'[९०१] (२.२.२९) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सु लोप (हरिहर)।

यहां ह्रस्व इवर्णान्त हरि शब्द की 'शेषो घ्यसखि'[२४३] (१.४.७) से घि संज्ञा होकर 'द्वन्द्वे घि'[९०३] (२.२.३२) से पूर्व निपात हुआ है। प्रथमा विभक्ति द्विवचन में हरिहरौ।

हरिगुरुहराः, हरिहरगुरवः—लौ० वि०—हरिश्च गुरुश्च हरश्च। अलौ० वि०—हरि सु गुरु सु हर सु।

समासादि कार्य पूर्ववत्। यहां ह्रस्व इकारान्त 'हरि' और ह्रस्व उकारान्त 'गुरु' दोनों घिसंज्ञक हैं। 'अनेकप्राप्तावेकत्र नियमोऽनियमः शेषे' (वा० १४१०) से एक घिसंज्ञक हरि का पूर्व प्रयोग होने पर दूसरे घिसंज्ञक गुरु को इच्छानुसार कहीं भी रखा जा सकता है।

९०४. अजाद्यदन्तम् (२.२.३३)

इदं द्वन्द्वे पूर्वं स्यात्। ईशकृष्णौ। बहुष्वनियमः। अश्वरथेन्द्राः, इन्द्राश्वरथाः। 'घ्यन्तादजाद्यदन्तं विप्रतिषेधेन' (वा० १४२६) इन्द्राग्नी।

अनु०—स्वरादि और अकारान्त पदों का द्वन्द्व में पूर्वनिपात होता है। ईशकृष्णौ—ईश्वर और कृष्ण। यदि द्वन्द्व के अवयव अनेक हों तब यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। अश्वरथेन्द्राः, इन्द्राश्वरथाः—घोड़ा, रथ और इन्द्र। 'द्वन्द्वे घि' और 'अजाद्यदन्तम्'—इन दोनों सूत्रों के प्राप्त होने पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इस नियम से परवर्ती सूत्र 'अजाद्यदन्तम्' की-प्रवृत्ति होती है।' इन्द्राग्नी—इन्द्र और अग्नि।

व्याख्या—घ्यन्तादिति। 'द्वन्द्वे घि'[९०३] (२.२.३२) इस सूत्र से द्वन्द्व समास में घि-संज्ञक अर्थात् ह्रस्व इवर्णान्त और ह्रस्व उवर्णान्त शब्द का पूर्व प्रयोग होता है। 'अजाद्यदन्तम्'[९०४] (२.२.३३) इस सूत्र से स्वरादि और अदन्त शब्द का पूर्व प्रयोग होता है। किन्तु जहां 'द्वन्द्वे घि' और 'अजाद्यदन्तम्' दोनों प्राप्त हों वहां 'अजाद्यदन्तम्' इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि 'द्वन्द्वे घि'[९०३] (२.२.३२) की अपेक्षा 'अजाद्यदन्तम्'[९०४] (२.२.३३) यह सूत्र पर है और 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इस नियम के अनुसार पर सूत्र पूर्व की अपेक्षा बलवान् होते हैं। जैसे—इन्द्राग्नी। यहां अग्नि घिसंज्ञक है। अतः 'द्वन्द्वे घि'[९०३] (२.२.३२) से इसका पूर्वनिपात प्राप्त था किन्तु 'अजाद्यदन्तम्'[९०४] (२.२.३३) इस सूत्र से इन्द्र का पूर्वनिपात हुआ है।

९०५. अल्पाच्तरम् (२.२.३४)

शिवकेशवौ। 'ऋतुनक्षत्राणां समाक्षराणामानुपूर्व्येण' (वा० १४२१) हेमन्तशिशिर-वसन्ताः। कृत्तिकारोहिण्यौ। समाक्षराणां किम्—ग्रीष्मवसन्तौ। 'लघ्वक्षरं पूर्वम्' (वा० १४१३) कुशकाशम्। 'अभ्यर्हितं च' (वा० १४१२)। तापसपर्वतौ। 'वर्णानामानु-पूर्व्येण' (वा० १४१५) ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः। 'भ्रातुर्ज्यायसः' (वा० १६१६) युधिष्ठिरार्जुनौ।

अनु०—(जिस पद में अन्य पदों की अपेक्षा थोड़े अच् हों, द्वन्द्व में उसका पहले प्रयोग होता है।) शिवकेशवौ—शिव तथा विष्णु। 'सम स्वर वाले ऋतुसंज्ञक एवं नक्षत्र

संज्ञक शब्दों का द्वन्द्व समास में क्रमपूर्वक प्रयोग होता है ।' हेमन्तशिशिरवसन्ताः—हेमन्त, शिशिर तथा वसन्त । कृत्तिकारोहिण्यौ—कृत्तिका और रोहिणी । (वार्तिक में) 'समाक्षराणाम्' ऐसा क्यों कहा ? ग्रीष्मवसन्तौ—गर्मी और वसन्त । 'दीर्घ स्वर वाले पद की अपेक्षा लघुस्वर वाले पद का पूर्व प्रयोग होता है ।' कुशकाशम्—कुश तथा काश । 'द्वन्द्व में पूजित का प्रथम प्रयोग होता है ।' तापसपर्वतौ—तपस्वी तथा पर्वत । 'द्वन्द्व समास में वर्णवाची शब्दों का यथाक्रम विन्यास होता है ।' ब्राह्मणक्षत्रियविट्-शूद्राः—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र । 'द्वन्द्व समास में ज्येष्ठभ्रातृवाची पद का पूर्व निपात होता है ।' युधिष्ठिरार्जुनौ—युधिष्ठिर और अर्जुन ।

रूपसिद्धिः

शिवकेशवौ—लौ० वि०—शिवश्च केशवश्च । अलौ० वि०—शिव सु केशव सु ।

'चार्थे द्वन्द्वः'[१०१] (२.२.२९) से समास । शेषं पूर्ववत् । यहां केशव पद में तीन अच् हैं और शिव पद में दो । केशव पद की अपेक्षा थोड़े अच् होने के कारण शिव पद का 'अल्पाच्तरम्'[१०५] (२.२.३४) से पूर्व प्रयोग हुआ है ।

हेमन्तशिशिरवसन्ताः—लौ० वि०—हेमन्तश्च शिशिरश्च वसन्तश्च । अलौ० वि०—हेमन्त सु शिशिर सु वसन्त सु ।

'चार्थे द्वन्द्वः'[१०१] (२.२.२९) से समास । शेषं पूर्ववत् । यहाँ 'ऋतुनक्षत्राणां' (वा० १४२१) से हेमन्त, शिशिर, वसन्त शब्दों का क्रमपूर्वक प्रयोग हुआ है ।

कृत्तिकारोहिण्यौ—लौ० वि०—कृत्तिका च रोहिणी च । अलौ० वि०—कृत्तिका सु रोहिणी सु ।

'चार्थे द्वन्द्वः'[१०१] (२.२.२९) से समास । शेषं पूर्ववत् । यहाँ 'ऋतुनक्षत्राणां०' (वा० १४२१) से कृत्तिका तथा रोहिणी शब्दों का क्रमपूर्वक प्रयोग हुआ है ।

कुशकाशम्—लौ० वि०—कुशाश्च काशाश्च । अलौ० वि०—कुश जस् काश जस् ।

'चार्थे द्वन्द्वः'[१०१] (२.२.२९) से समास । शेषं पूर्ववत् । यहाँ 'लघ्वक्षरं पूर्वम्' (वा० १४१३) से लघु स्वर वाले कुश शब्द का पूर्वनिपात हुआ है ।

तापसपर्वतौ—लौ० वि०—तापसश्च पर्वतश्च । अलौ० वि०—तापस सु पर्वत सु ।

'चार्थे द्वन्द्वः'[१०१] (२.२.२९) से समास । शेषं पूर्ववत् । यहाँ 'अभ्यर्हितञ्च' (वा० १४१२) से पर्वत की अपेक्षा तापस का अधिक सम्मानित होने के कारण पूर्व प्रयोग हुआ है ।

ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः—लौ० वि०—ब्राह्मणश्च क्षत्रियश्च विट् च शूद्रश्च । अलौ० वि०—ब्राह्मण सु क्षत्रिय सु विट् सु शूद्र सु ।

'चार्थे द्वन्द्वः'[१०१] (२.२.२९) से समास । शेषं पूर्ववत् । यहाँ 'वर्णानामानुपूर्व्येण' (वा० १४१५) से ब्राह्मण आदि वर्णसंज्ञासूचक पदों का शास्त्रोक्त उत्पत्तिक्रम के अनुसार विन्यास हुआ है ।

युधिष्ठिरार्जुनौ—लौ० वि०—युधिष्ठिरश्च अर्जुनश्च । अलौ० वि०—युधिष्ठिर सु अर्जुन सु ।

'चार्थे द्वन्द्वः'[१०१] (२.२.२९) से समास । शेषं पूर्ववत् । यहाँ 'भ्रातुर्ज्यायसः' (वा० १६१६) से ज्येष्ठभ्रातृवाची युधिष्ठिर पद का पूर्व प्रयोग हुआ है ।

९०६. द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् (२.४.२)

एषां द्वन्द्व एकवत्स्यात् । पाणिपादम् । मार्दङ्गिकपाणविकम् । रथिकाश्वारोहम् । समाहारस्यैकत्वादेकत्वे सिद्धे नियमार्थं प्रकरणम् । प्राण्यङ्गादीनां समाहार एव यथा स्यात् ।

अनु०—प्राणी, तूर्य (बाजे) और सेना इनके अङ्गों के वाचक शब्दों का द्वन्द्व एकवचनान्त हो । पाणिपादम्—हाथ और पैर । मार्दङ्गिकपाणविकम्—मृदङ्ग तथा नगाड़ा बजाने वाले । रथिकाश्वारोहम्—रथसैनिक तथा अश्व सैनिक । समाहार में एकत्व के कारण एकवचन सिद्ध होने पर भी यह एकवद्भावविधायक प्रकरण केवल नियम के निमित्त है, अर्थात् प्राण्यङ्गादियों का समाहार द्वन्द्व ही हो, इतरेतरयोग द्वन्द्व न हो ।

व्याख्या—समाहारस्येति । समाहार द्वन्द्व नपुंसक लिङ्ग के एकवचन में ही होता है। तब इस सूत्र का प्रयोजन नियामक है कि प्राणितूर्य का द्वन्द्व समाहार में ही हो, इतरेतर में नहीं।

रूपसिद्धिः

पाणिपादम्—लौ० वि०—पाणी च पादौ च तयोः समाहारः । अलौ० वि०—पाणि औ पाद औ ।

'चार्थे द्वन्द्वः'[१०१] (२.२.२९) से समास । प्रातिपदिक संज्ञा । सुप् का लोप (पाणि पाद) । 'द्वन्द्वे घि'[१०३] (२.२.३२) से घिसंज्ञक होने से पाणि शब्द का पूर्व निपात । 'द्वन्द्वश्च प्राणि०'[१०६] (२.४.२) से एकवद्भाव । 'स नपुंसकम्'[८२१] (२.४.१७) से नपुंसक । प्रथमा एकवचन में पाणिपादम् ।

मार्दङ्गिकपाणविकम्—लौ० वि०—मार्दङ्गिकश्च पाणविकश्च तयोः समाहारः । अलौ० वि०—मार्दङ्गिक सु पाणविक सु । समासादि पूर्ववत् ।

रथिकाश्वारोहम्—लौ० वि०—रथिकाश्च अश्वारोहाश्च तयोः समाहारः । अलौ० वि०—रथिक जस् अश्वारोह जस् । समासादि पूर्ववत् ।

९०७. अनुवादे चरणानाम् (२.४.३)

चरणानां द्वन्द्व एकवत्स्यात्सिद्धस्योपन्यासे । 'स्थेणोर्लुङीति वक्तव्यम्' (वा० १५३५-१५३६) । उदगात्कठकालापम्, प्रत्यष्ठात्कठकौथुमम् ।

अनु०—शाखाध्येतृवाची चरणों का परस्पर द्वन्द्व एकवचन में होता है यदि किसी सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन करना हो । 'लुङन्त स्था और इण् धातु के योग में

एवं सिद्ध वस्तु के उपन्यास में शाखाध्येतृवाची चरणों का द्वन्द्व एकवचन में हो। ऐसा कहना चाहिए।' उदगात्कठकालापम्—कठ तथा कालाप चरण (शाखा) पुनः उदित हुए। प्रत्यष्ठात्कठकौथुमम्—कठ तथा कौथुम चरण (शाखा) पुनः प्रतिष्ठित हुए।

रूपसिद्धिः

उदगात्कठकालापम्—इस वाक्य में 'अगात्' यह लुङ् में इण् धातु का रूप है जो कि 'उद्' के साथ आया है। इसके योग में शाखाध्येतृवाची कठ और कालाप का कठाश्च कालापाश्च इस विग्रह में 'चार्थे द्वन्द्वः'[१०१] (२.२.२९) से द्वन्द्व समास हुआ है। समासादि पूर्ववत्। 'अनुवादे चरणानाम्'[१०७] (२.४.३) इस सूत्र पर 'स्थेणोर्लुङीति वक्तव्यम्' (वा० १५३५-१५३६) इस वार्त्तिक से एकवद्भाव हुआ है।

प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम्—इस वाक्य में 'अस्थात्' यह लुङ् में स्था धातु का रूप है जो कि 'प्रति' के साथ आया है। कठाश्च कौथुमाश्च इस विग्रह में समासादि पूर्ववत्। 'अनुवादे चरणानाम्'[१०७] (२.४.३) इस सूत्र पर 'स्थेणोर्लुङीति वक्तव्यम्' (वा० १५३५-३६) इस वार्त्तिक से एकवद्भाव हुआ है।

९०८. अध्वर्युक्रतुरनपुंसकम् (२.४.४)

यजुर्वेदे विहितो यः क्रतुस्तद्वाचिनामनपुंसकलिङ्गानां द्वन्द्व एकवत्स्यात्। अर्काश्वमेधम्। अध्वर्युक्रतुः किम्—इषुवज्रौ सामवेदे विहितौ। अनपुंसकं किम्—राजसूयवाजपेये, अर्धर्चादौ।

अनु०—यजुर्वेद में विहित क्रतुओं के वाचक समस्यमान पदों का, जो नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त नहीं होते, द्वन्द्व में एकवद्भाव होता है। अर्काश्वमेधम्—अर्क तथा अश्वमेध नाम के यज्ञ। (प्र०) (सूत्र में) 'अध्वर्युक्रतुः' ऐसा क्यों कहा? (उ०) (इसलिए कि जहाँ यजुर्वेदविहित क्रतु न हों वहाँ एकवद्भाव न हो जैसे—) इषुवज्रौ—सामवेद में प्रोक्त इषु तथा वज्र नाम के यज्ञ। 'अनपुंसकम्' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि यजुर्वेद विहित क्रतु नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होते हों तो उनका एकवद्भाव न हो। जैसे—) राजसूयवाजपेये —राजसूय तथा वाजपेय नाम के यज्ञ। राजसूय और वाजपेय क्रतु नपुंसकलिङ्ग में अर्धर्चादि गण में पढ़े गए हैं।

रूपसिद्धिः

अर्काश्वमेधम्—अर्कश्च अश्वमेधश्च तयोः समाहारः। इस विग्रह में समासादि पूर्ववत्। अर्क और अश्वमेध ये दोनों यजुर्वेदीय क्रतु हैं। इनका नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग भी नहीं होता। अतः इनके द्वन्द्व समास में 'अध्वर्युक्रतुः०'[१०८] (२.४.४) इस सूत्र से एकवद्भाव हुआ है।

इषुवज्रौ—इस द्वन्द्व समास में एकवद्भाव नहीं हुआ क्योंकि इषु और वज्र—ये दोनों सामवेद विहित क्रतु हैं, यजुर्वेदविहित क्रतु नहीं हैं।

राजसूयवाजपेये—अर्धर्चादि गण में पठित राजसूय और वाजपेय क्रतु नपुंसकलिङ्ग में भी आते हैं, अतः 'अध्वर्युक्रतु:०'[१०८] (२.४.४) से उनका एकवद्भाव नहीं हुआ।

९०९. अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम् (२.४.५)

अध्ययनेन प्रत्यासन्ना आख्या येषां तेषां द्वन्द्व एकवत्। पदक्रमकम्।

अनु०—अध्ययनक्रिया में समीपवर्ती क्रमिक सम्बन्ध रखने वाले पदों का द्वन्द्व एकवचन में होता है। पदक्रमकम्—वेदमन्त्रों के पढ़ने की विधि, पद तथा क्रम के पढ़ने वाले।

रूपसिद्धिः

पदक्रमकम्—पदकानाञ्च क्रमकाणाञ्च समाहारः। इस विग्रह में समासादि पूर्ववत्। क्योंकि अध्ययन प्रक्रिया में पदपाठ के अनन्तर क्रमपाठ आता है, अतः यहाँ 'अध्ययनतो०'[१०९] (२.४.५) इस सूत्र से द्वन्द्व एकवचन में हुआ है।

९१०. जातिरप्राणिनाम् (२.४.६)

प्राणिवर्जजातिवाचिनां द्वन्द्व एकवत्। धानाशष्कुलि। प्राणिनां तु विट्छूद्राः। द्रव्यजातीयानामेव, नेह—रूपरसौ, गमनाकुञ्चने। जातिप्राधान्य एवायमेकवद्भावः। द्रव्यविशेषविवक्षायां तु बदरामलकानि।

अनु०—प्राणिभिन्न जातिवाचक शब्दों का द्वन्द्व एकवचन में होता है। धानाशष्कुलि—भूने हुए जौ तथा पूरी। प्राणिवाचक शब्दों के द्वन्द्व में—विट्छूद्राः—वैश्य तथा शूद्र। (सूत्र में जाति से द्रव्यजाति का ग्रहण होता है इसलिए) रूपरसौ (रूप और रस) में द्वन्द्व एकवचन में नहीं होता। गमनाकुञ्चने—जाना तथा सिकुड़ना। जातिप्राधान्य में ही एकवद्भाव होता है। द्रव्य विशेष की विवक्षा में बदरामलकानि—बेर तथा आँवला।

व्याख्या—प्राणिनामिति। 'जातिरप्राणिनाम्'[११०] (२.४.६) इस सूत्र में प्राणिभिन्न जातिवाचक शब्द को द्वन्द्व में एकवद्भाव का विधान कहा है। किन्तु यदि जातिवाचक पद प्राणिभिन्न नहीं हैं तब द्वन्द्व में एकवद्भाव नहीं होता। जैसे—विट्छूद्राः—यहाँ विश् और शूद्र प्राणिभिन्न शब्द नहीं हैं (अर्थात् प्राणिवाचक शब्द हैं) अतः यहाँ एकवद्भाव नहीं हुआ है।

द्रव्येति। 'जातिरप्राणिनाम्'[११०] (२.४.६) इस सूत्र में जाति शब्द का प्रयोग हुआ है। जाति से द्रव्यजाति का ग्रहण होता है; गुणजाति और क्रियाजाति का नहीं। अतः रूपञ्च रसश्च इस विग्रह में 'रूपरसौ' प्रयोग बनेगा। यहां गुणजाति है, द्रव्यजाति नहीं है। इसी प्रकार गमनञ्च आकुञ्चनञ्च इस विग्रह में 'गमनाकुञ्चने' रूप बनता है। यहाँ क्रियाजाति है, द्रव्यजाति नहीं है। अतः गुण और क्रिया के इन क्रमिक उदाहरणों में एकवद्भाव नहीं हुआ है।

द्रव्यविशेषेति । जातिप्राधान्य में ही एकवद्भाव होता है व्यक्तिप्राधान्य में नहीं । जैसे—बदरामलकानि । बदराणि च आमलकानि च इस विग्रह में बदरामलकानि । यहाँ वक्ता के सामने रखे हुए विशेष बदरों और आमलकों का बोध होता है। जहां सामान्य बदरों और आमलकों का बोध अपेक्षित है वहाँ बदराणि च आमलकानि च इस विग्रह में जातिप्राधान्य होकर 'जातिरप्राणिनाम्'[११०] (२.४.६) इस सूत्र से एकवद्भाव होकर 'बदरामलकम्' रूप बनता है ।

६११. विशिष्टलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामाः (२.४.७)

ग्रामवर्जनदीदेशवाचिनां भिन्नलिङ्गानां समाहारे द्वन्द्व एकवत्स्यात् । उद्धचश्च इरावती च उद्धचेरावति। गङ्गा च शोणश्च गङ्गाशोणम् । कुरवश्च कुरुक्षेत्रं च कुरुकुरुक्षेत्रम् । भिन्नलिङ्गानां किम्—गङ्गायमुने, मद्रकेकयाः । अग्रामाः किम्-जाम्बवं नगरम्, शालूकिनी ग्रामः—जाम्बवशालूकिन्यौ ।

अनु०—ग्रामवाचक शब्दों से भिन्न एवं असमान लिङ्ग वाले नदीवाचक एवं देश-वाचक शब्दों का द्वन्द्व एकवचन में होता है । उद्धचेरावति—उद्धच नद (उद्ध) तथा रावी नदी । गङ्गाशोणम्—गङ्गा तथा सोन । कुरुकुरुक्षेत्रम्—कुरुदेश तथा कुरुक्षेत्र । (सूत्र में) 'भिन्नलिङ्गानाम्' ऐसा क्यों कहा ? (इसलिए कि जहाँ लिङ्ग समान हों वहाँ एकवद्भाव न हो । जैसे—) गङ्गायमुने—गङ्गा और यमुना । मद्रकेकयाः—मद्र तथा केकय । (सूत्र में) 'अग्रामाः' ऐसा क्यों कहा ? (इसलिए कि ग्रामवाची पदों के होने पर द्वन्द्व में एकवद्भाव न हो । जैसे—) जाम्बवशालूकिन्यौ—जाम्बव नगर तथा शालूकिनी गांव ।

रूपसिद्धिः

उद्धचेरावति—उद्धचश्च इरावती च इस विग्रह में समासादि पूर्ववत् । यहाँ 'विशिष्टलिङ्गो०'[१११] (२.४.७) इस सूत्र से एकवचन में प्रयोग हुआ है ।

गङ्गाशोणम्—गङ्गा च शोणश्च इस विग्रह में समासादि पूर्ववत् । यहाँ 'विशिष्टलिङ्गो०'[१११] (२.४.७) इस सूत्र से एकवचन में प्रयोग हुआ है ।

कुरुकुरुक्षेत्रम्—कुरवश्च कुरुक्षेत्रं च—इस विग्रह में समासादि पूर्ववत् । 'विशिष्टलिङ्गो०'[१११] (२.४.७) इस सूत्र से एकवचन में प्रयोग हुआ है ।

गङ्गायमुने—गङ्गा च यमुना च इस विग्रह में समासादि पूर्ववत् । यहाँ गङ्गा और यमुना दोनों नदीवाचक स्त्रीलिङ्ग शब्द हैं । दोनों का समान लिङ्ग है, अतः 'विशिष्ट-लिङ्गो०'[१११] (२.४.७) इस सूत्र से एकवद्भाव नहीं हुआ है ।

मद्रकेकयाः—मद्राश्च केकयाश्च इस विग्रह में समासादि पूर्ववत् । यहां मद्र और केकय दोनों नदीवाचक पुंल्लिङ्ग शब्द हैं । दोनों का समान लिङ्ग है । अतः 'विशिष्ट-लिङ्गो०'[१११] (२.४.७) से एकवद्भाव नहीं हुआ है ।

जाम्बवशालूकिन्यौ—जाम्बवश्च शालूकिनी च इस विग्रह में समासादि पूर्ववत्। यहाँ जाम्बव और शालूकिनी दोनों ग्रामवाची पद हैं, अतः एकवद्भाव नहीं हुआ है।

९१२. क्षुद्रजन्तवः (२.४.८)

एषां समाहारे एव द्वन्द्व एकवत्स्यात्। यूकालिक्षम्। आनकुलात्क्षुद्रजन्तवः।

अनु०—समाहार में ही क्षुद्रजन्तुओं का द्वन्द्व एकवचन में होता है। यूकालिक्षम्—जूँ तथा लीख। नेवले से नीचे सभी जीवजन्तु क्षुद्र कोटि में आते हैं।

रूपसिद्धिः

यूकालिक्षम्—यूकाश्च लिक्षाश्च इस विग्रह में समासादि पूर्ववत्। 'क्षुद्रजन्तवः'[९१२] (२.४.८) इस सूत्र से यहाँ एकवद्भाव हुआ है।

९१३. येषां च विरोधः शाश्वतिकः (२.४.९)

एषां प्राग्वत्। अहिनकुलम्। गोव्याघ्रम्, काकोलूकम् इत्यादौ परत्वाद् 'विभाषा वृक्षमृग—' (सू० ९१६) इति प्राप्तं चकारेण बाध्यते।

अनु०—जिनका विरोध स्वाभाविक होता है उन जन्तुओं के द्वन्द्व को भी एकवद्भाव होता है। अहिनकुलम्—साँप तथा नेवला। गोव्याघ्रम्—गाय तथा शेर। काकोलूकम्—कौआ तथा उल्लू। इस स्थल में परत्व के कारण 'विभाषा वृक्षमृग०' (सू० ९१६) इस सूत्र से प्राप्त विकल्प एकवद्भाव का इस सूत्रस्थ चकार से बाध होता है।

व्याख्या—गोव्याघ्रमिति। गोव्याघ्रम्—गावश्च व्याघ्राश्च तेषां समाहारः। काकोलूकम्—काकाश्च उलूकाश्च। इन दोनों उदाहरणों में 'विभाषा वृक्षमृग०'[९१६] (२.४.१२) इस सूत्र से वैकल्पिक एकवद्भाव प्राप्त था उसे बाधित करके 'येषां च विरोधः०'[९१३] (२.४.९) इस सूत्र से नित्य एकवद्भाव हुआ है। इसका समर्थन 'येषां च विरोधः०'[९१३] (२.४.९) इस सूत्र में प्रयुक्त 'च' शब्द से प्राप्त होता है।

९१४. शूद्राणामनिरवसितानाम् (२.४.१०)

अबहिष्कृतानां शूद्राणां प्राग्वत्। तक्षायस्कारम्। पात्राद्बहिष्कृतानां तु चाण्डालमृतपाः।

अनु०—जिन शूद्रों का समाज ने बहिष्कार नहीं किया उनके द्वन्द्व समास में एक वचन होता है। तक्षायस्कारम्—बढई तथा लोहार। किन्तु जो शूद्र समाज से बहिष्कृत हैं, जिनका भोजन पात्र क्षीरोदक से प्रक्षालन करने पर भी शुद्ध नहीं होता उनके द्वन्द्व समास को एकवद्भाव नहीं होता। चाण्डालमृतपाः—चाण्डाल तथा डोम (मृतक दाह कर्म करने वाले)।

रूपसिद्धिः

तक्षायस्कारम्—तक्षाणश्च अयस्काराश्च इस विग्रह में समासादि पूर्ववत् । 'शूद्राणाम्०'[९१४] (२.४.१०) इस सूत्र से एकवद्भाव हुआ है।

चाण्डालमृतपाः—चाण्डालाश्च मृतपाश्च इस विग्रह में समासादि पूर्ववत् । चाण्डाल आदि निकृष्ट वर्ण के लोग जिस पात्र में खाते हैं वह पात्र किसी प्रकार से भी शुद्ध नहीं हो सकता । पात्रबहिष्कृत निकृष्ट वर्ण वाचक शब्दों का समास एकवचन में नहीं होता है ।

९१५. गवाश्वप्रभृतीनि च (२.४.११)

यथोच्चारितानि साधूनि स्युः । गवाश्वम् । दासीदासमित्यादि ।

अनु०—गणपठित गवाश्वप्रभृति पद जिस स्थिति में गण में मिलते हैं वही उनकी स्थिति रहेगी । गवाश्वम्—गाय तथा घोड़े । दासीदासम्—नौकर तथा नौकरानी ।

व्याख्या—गवाश्वप्रभृति शब्द निम्न हैं—गवाश्वम्, गवाविकम्, गवैडकम्, अजाविकम्, (अजैडकम्), कुब्जवामनम्, कुब्जकिरातम्, पुत्रपौत्रम्, श्वचण्डालम्, स्त्रीकुमारम्, दासीमाणवकम्, शाटीपटीरम्, शाटीप्रच्छदम्, शाटीपट्टिकम्, उष्ट्रखरम्, उष्ट्रशशम्, मूत्रशकृत्, मूत्रपुरीषम्,यकृन्मेदः, मांसशोणितम्, दर्भशरम्, दर्भपूतीकम्, अर्जुनशिरीषम्, अर्जुनपुरुषम्, तृणोपलम्, दासीदासम् कुटीकुटम्, भागवतीभागवतम् ।

९१६. विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्यश्ववडवपूर्वापराधरोत्तराणाम् (२.४.१२)

वृक्षादीनां सप्तानां द्वन्द्वः, अश्ववडवेत्यादि द्वन्द्वत्रयं च प्राग्वद्वा । 'वृक्षादौ विशेषाणामेव ग्रहणम्' (वा० ५१८)प्लक्षन्यग्रोधम्, प्लक्षन्यग्रोधाः । रुरुपृषतम्, रुरुपृषताः । कुशकाशम्, कुशकाशाः । व्रीहियवम्, व्रीहियवाः । दधिघृतम्, दधिघृते । गोमहिषम्, गोमहिषाः । शुकबकम्, शुकबकाः । अश्ववडवम्, अश्ववडवौ । पूर्वापरम्, पूर्वापरे । अधरोत्तरम्, अधरोत्तरे । 'फलसेनावनस्पतिमृगशकुनिक्षुद्रजन्तुधान्यतृणानां बहुप्रकृतिरेव द्वन्द्व एकवदिति वाच्यम्' (वा० १५४०) । बदराणि चामलकानि च बदरामलकम् । 'जातिरप्राणिनाम्'(सू० ९१०) इत्येकवद्भावः । नेह—बदरामलके, रथिकाश्वारोहौ, प्लक्षन्यग्रोधावित्यादि । 'विभाषा वृक्ष—' (सू० ९१६) इति सूत्रे येऽप्राणिनस्तेषां ग्रहणं 'जातिरप्राणिनाम्' (सू० ९१०) इति नित्ये प्राप्ते विकल्पार्थम् । पशुग्रहणं हस्त्यश्वादिषु सेनाङ्गत्वान्नित्ये प्राप्ते 'मृगाणां मृगैरेव शकुनीनां तैरेवोभयत्र द्वन्द्वः, अन्यैस्तु सहेतरेतरयोग एव' इति नियमार्थं मृगशकुनिग्रहणम् । एवं पूर्वापरम्, अधरोत्तरम् इत्यपि । अश्ववडवग्रहणं तु पक्षे नपुंसकत्वार्थम् । अन्यथा परत्वात् 'पूर्ववदश्ववडवौ' (सू० ८१३) इति स्यात् ।

अनु०—वृक्ष, मृग, तृण, धान्य, व्यञ्जन, पशु, शकुनि, अश्व, वडव, पूर्वापर, अधरोत्तर इनके द्वन्द्व में वैकल्पिक एकवचन होता है । वृक्ष आदि में विशेष का ही ग्रहण होता है ।

प्लक्षन्यग्रोधम्, प्लक्षन्यग्रोधाः—पाकड़ तथा बरगद । रुरुपृषतम्, रुरुपृषताः—काले मृग तथा चीतल । कुशकाशम्, कुशकाशाः—कुश तथा काश । व्रीहियवम्, व्रीहियवाः—धान तथा जौ । दधिघृतम्—दही तथा घी । गोमहिषम्, गोमहिषाः—गाय तथा भैंसे । शुकबकम्, शुकबकाः—तोता तथा बगुला । अश्ववडवम्, अश्ववडवौ—घोड़े तथा घोड़ियां । पूर्वापरम्, पूर्वापरे—पहिला और अन्तिम । अधरोत्तरम्, अधरोत्तरे—निचला और ऊपरी ।

'फल, सेना, वनस्पति, मृग, शकुनि, क्षुद्रजन्तु, धान्य, तृण—इन बहुवचनान्त शब्दों का ही द्वन्द्व एकवचन में होता है । बदरामलकम्—बेर तथा आँवला । 'जातिरप्राणिनाम्' (सू० ९१०) सूत्र से (जातिवाचक बदर और आमलक को ही द्वन्द्व में) एकवद्भाव होता है । बदरामलके (बेर तथा आँवला), रथिकाश्वारोहौ (रथी तथा घुड़सवार), प्लक्षन्यग्रोधौ (पाकड़ तथा बरगद)—यहाँ एकवद्भाव नहीं हुआ ।

'विभाषा वृक्ष०' (सू० ९१६) इस सूत्र में प्राणिभिन्न वृक्षादि पदार्थवाची पदों का ग्रहण वैकल्पिक एकवद्भाव के लिये किया गया है । यहाँ 'जातिरप्राणिनाम्' (सू० ९१०) से नित्य एकवद्भाव प्राप्त हुआ था ।

('विभाषा वृक्ष०' (सू० ९१६) इस सूत्र में) पशु पद का ग्रहण इसलिए किया गया है कि सेना के अङ्गभूत हस्ती, अश्व आदि के समास में ('द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य०' (सू० ८०६) इस सूत्र से) नित्य एकवद्भाव न हो ।

(उक्त सूत्र में) मृग और शकुनि शब्दों का ग्रहण भी सप्रयोजन है) मृग का मृग के साथ और शकुनि का शकुनि के साथ वैकल्पिक एकवद्भाव (समाहार) होता है । किन्तु यदि मृग और शकुनि का (तदर्थवाची पदों के साथ समास न होकर) अन्यार्थवाचक पदों के साथ समास करना हो तब इतरेतरयोग द्वन्द्व होता है । इसी प्रकार पूर्वापरम्, अधरोत्तरम् ।

(उक्त सूत्र में) 'अश्ववडव' का समावेश करने से पक्ष में समाहार द्वन्द्व होकर नपुंसकलिङ्गान्त रूप भी बनता है । अन्यथा 'पूर्ववदश्ववडवौ' (सू० ८१३) इस सूत्र के अनुसार नित्य इतरेतरयोग होकर पुंल्लिङ्गान्त रूप बनता ।

९१७. विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि (२.४.१३)

विरुद्धार्थानामद्रव्यवाचिनां द्वन्द्व एकवद्वा स्यात् । शीतोष्णम्, शीतोष्णे । वैकल्पिकः समाहारद्वन्द्वः 'चार्थे' (सू० ९०१) इति सूत्रेण प्राप्तः, स विरुद्धार्थानां यदि भवति तर्ह्यद्रव्यवाचिनामेवेति नियमार्थमिदम् । तेन द्रव्यवाचिनामितरेतरयोग एव । शीतोष्णे उदके स्तः । विप्रतिषिद्धं किम् । नन्दकपाञ्चजन्यौ । इह पाक्षिकः समाहारद्वन्द्वो भवत्येव ।

अनु०—द्रव्यभिन्न विरुद्धार्थवाची सुबन्तों को द्वन्द्व में विकल्प से एकवद्भाव होता है । शीतोष्णम्, शीतोष्णे—सर्दी तथा गर्मी ।

'चार्थे द्वन्द्वः' (सू० ९०१) इस सूत्र से च के अर्थ में वैकल्पिक समाहार द्वन्द्व प्राप्त ही था। प्रस्तुत सूत्र 'विप्रतिषिद्धञ्च' (सू० ९१७) इस नियम को प्रवृत्त करता है कि परस्पर विरोधी पदों के समाहार द्वन्द्व में द्रव्यभिन्न सुबन्तों को लेना आवश्यक है। इस दशा में द्रव्यवाची सुबन्तों का द्वन्द्व इतरेतरयोग होगा। शीतोष्णे—सर्दी और गर्मी। (सूत्र में) 'विप्रतिषिद्धम्' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि द्वन्द्व में समस्यमान पद यदि विरुद्धार्थक नहीं हैं तब द्रव्यवाचक पदों को इतरेतरयोग और पक्ष में समाहार द्वन्द्व हो जाता है। जैसे—) नन्दकपाञ्चजन्यौ—नन्दक (विष्णु की तलवार) और पाञ्चजन्य (विष्णु का शंख)। पक्ष में समाहार द्वन्द्व भी होता है।

९१८. न दधिपयआदीनि (२.४.१४)

एतानि नैकवत्स्युः। दधिपयसी। इध्मार्बर्हिषी। निपातनाद्दीर्घः। ऋक्सामे। वाङ्मनसे।

अनु०—दधिपयस् आदि शब्दों का समाहार द्वन्द्व न हो। दधिपयसी—दही और दूध। इध्मार्बर्हिषी—हवन की लकड़ी और दूध। निपातन से (इध्मा शब्द में) दीर्घ हुआ है। ऋक्सामे—ऋग्वेद और सामवेद के मन्त्र। वाङ्मनसे—वाणी और मन।

व्याख्या—दधिपयस् आदि शब्द निम्न हैं—दधिपयसी, सर्पिर्मधुनी, मधुसर्पिषी, ब्रह्मप्रजापती, शिववैश्रवणौ, स्कन्दविशाखौ, परिव्राजककौशिकौ (परिव्राट्कौशिकौ), प्रवर्ग्योपसदा, शुक्लकृष्णौ, इध्मार्बर्हिषी, दीक्षातपसी (श्रद्धातपसी, मेधातपसी), अध्ययनतपसी, उलूखलमुसले, आद्यवसाने, श्रद्धामेधे, ऋक्सामे, वाङ्मनसे। इन शब्दों का समाहार में द्वन्द्व समास नहीं होता। समाहार में समास न होने के कारण एकवद्भाव भी नहीं होता।

९१९. अधिकरणैतावत्त्वे च (२.४.१५)

द्रव्यसङ्ख्याऽवगमे एकवदेवेति नियमो न स्यात्। दश दन्तोष्ठाः।

अनु०—समस्यमान पदों से जिन द्रव्यों का अभिधान होता है उनकी संख्या यदि प्रतीत होती हो तब नित्य एकवद्भाव अर्थात् समाहार द्वन्द्व का नियम चरितार्थ नहीं होता। दश दन्तोष्ठाः—दस दाँत और होंठ।

रूपसिद्धिः

दन्तोष्ठाः (दश)—दन्ताश्च ओष्ठाश्च इस विग्रह में समासादि पूर्ववत्। यहां 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्'[१०६] (२.४.२) इस सूत्र से एकवद्भाव प्राप्त था क्योंकि *यहाँ द्रव्यसंख्या का निर्देश हुआ है, अतः 'अधिकरणैतावत्त्वे च'*[१११] *(२.४.१५) इस सूत्र से एकवद्भाव का निषेध हुआ है।*

९२०. विभाषा समीपे (२.४.१६)

अधिकरणैतावत्त्वस्य सामीप्येन परिच्छेदे समाहार एव इत्येवंरूपो नियमो वा स्यात् । उपदशं दन्तोष्ठम् । उपदशा दन्तोष्ठाः ।

अनु०—समस्यमान पदों से जिन द्रव्यों का अभिधान होता है उनकी संख्या यदि लगभग प्रतीत हो तब एकवद्भाव अर्थात् समाहार द्वन्द्व का नियम विकल्प से होता है। उपदशं दन्तोष्ठम् । उपदशा दन्तोष्ठाः—लगभग दस दांत और होंठ ।

रूपसिद्धिः

(उपदशं) दन्तोष्ठम्—'दन्ताश्च ओष्ठाश्च' इस विग्रह में समासादि पूर्ववत् । यहाँ दन्त और ओष्ठ की संख्या दस के समीप की है, अतः यहाँ 'विभाषा समीपे'[९२०] (२.४.१६) इस सूत्र से वैकल्पिक समाहार द्वन्द्व हुआ है । पक्ष में—(उपदशाः) दन्तोष्ठाः, यहाँ इतरेतरयोग द्वन्द्व हुआ है ।

९२१. आनङृतो द्वन्द्वे (६.३.२५)

विद्यायोनिसम्बन्धवाचिनामृदन्तानां द्वन्द्वे आनङ् स्यादुत्तरपदे परे । होतापोतारौ । होतृपोतृनेष्टोद्गातारः । मातापितरौ । 'पुत्रेऽन्यतरस्याम्' (सू० ९८०) इत्यतो मण्डूकप्लुत्या 'पुत्रे' इत्यनुवृत्तेः पितापुत्रौ ।

अनु०—उत्तरपद परे रहते विद्यासम्बन्धवाची और योनिसम्बन्धवाची ऋदन्त पदों को द्वन्द्व में आनङ् अन्तादेश होता है । होतापोतारौ—होता और पोता । होतृपोतृनेष्टोद्गातारः—होता, पोता, नेष्टा और उद्गाता । मातापितरौ—माता और पिता । 'पुत्रेऽन्यतरस्याम्' (सू० ९८०) इस सूत्र से मण्डूकप्लुति न्याय से 'पुत्रे' इस पद की अनुवृत्ति करने पर 'पितापुत्रौ'—पिता और पुत्र ।

व्याख्या—पुत्रे इति । पितापुत्रौ—पिता च पुत्रश्च । यहाँ पुत्र शब्द का पितृ शब्द के साथ समास हुआ है । यहाँ 'आनङृतो द्वन्द्वे'[९२१] (६.३.२५) इस सूत्र से आनङ् प्राप्त नहीं था क्योंकि उक्त सूत्र से ऋदन्तों का ऋदन्त के साथ ही समास होता है जबकि समस्यमान 'पितृ' पद ऋकारान्त है और पुत्र पद अकारान्त है । अतः यहाँ आनङ् विधान के लिए 'आनङृतो द्वन्द्वे'[९२१] (६.३.२५) इस सूत्र में 'पुत्रेऽन्यतरस्याम्'[९८०] (६.३.२२) इस सूत्र से 'पुत्रे' पद की अनुवृत्ति करनी होगी । किन्तु 'आनङृतो द्वन्द्वे'[९२१] (६.३.२५) और 'पुत्रेऽन्यतरस्याम्'[९८०] (६.३.२२) के बीच 'ऋतो विद्या०'[९८१] (६.३.२३) और 'विभाषा स्वसृपत्योः०'[९८२] (६.३.२४) इन दो सूत्रों का व्यवधान है। तो भी मण्डूकप्लुति न्याय से 'पुत्रे' पद की अनुवृत्ति सम्भव है । अनुवृत्ति करने पर आनङ् विधायक सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है—पुत्र पद के परे रहते ऋदन्त पद को आनङ् अन्तादेश होता है । जहाँ पूर्वपद ऋदन्त नहीं है वहाँ आनङ् आदेश नहीं होता ।

रूपसिद्धिः

होतापोतारौ—'होता च पोता च' इस विग्रह में समासादि पूर्ववत् । यहाँ 'पोतृ' उत्तर पद रहते होतृ पद को आनङ् आदेश हुआ है ।

होतृपोतृनेष्टोद्गातारः—'होता च पोता च नेष्टा च उद्गाता च' इस विग्रह में समासादि पूर्ववत् । यहाँ उद्गातृ उत्तर पद परे रहते नेष्टृ को आनङ् अन्तादेश हुआ है । यहाँ होतृ और पोतृ पदों को आनङ् आदेश नहीं होता क्योंकि इनके और उत्तर पद के बीच नेष्टृ पद का व्यवधान है ।

मातापितरौ—'माता च पिता च' इस विग्रह में समासादि पूर्ववत् । 'पितृ' उत्तर-पद के पूर्व मातृ को आनङ् अन्तादेश होता है ।

९२२. देवताद्वन्द्वे च (६.३.२६)

इहोत्तरपदे परे आनङ् । मित्रावरुणौ । 'वायुशब्दप्रयोगे प्रतिषेधः' (वा० ३९०७) अग्निवायू, वाय्वग्नी । पुनर्द्वन्द्वग्रहणं प्रसिद्धसाहचर्यस्य परिग्रहार्थम् । तेन ब्रह्मप्रजापती इत्यादौ नानङ् । एतद्धि नैकहविर्भागित्वेन श्रुतम्, नापि लोके प्रसिद्धं साहचर्यम् ।

अनु०—उत्तरपद के रहते पूर्वपद को आनङ् आदेश हो । मित्रावरुणौ—सूर्य और वरुण । 'वायु शब्द के पूर्व अथवा उत्तर रहते आनङ् नहीं होता ।' अग्निवायू, वाय्वग्नी—अग्नि और वायु । (सूत्र में) पुनः द्वन्द्व का ग्रहण इसलिए हुआ है कि उन्हीं देवताओं का द्वन्द्व समास हो जिनका साहचर्य शास्त्रप्रसिद्ध है । अतः 'ब्रह्मप्रजापती' इस समस्त पद में आनङ् नहीं हुआ क्योंकि ब्रह्मा और प्रजापति का साहचर्य शास्त्र प्रसिद्ध नहीं है तथा इन दोनों को एक साथ हविर्भाग देने का विधान नहीं है । इसके अतिरिक्त लोक में भी इनका साहचर्य प्रसिद्ध नहीं है ।

रूपसिद्धिः

मित्रावरुणौ—मित्रश्च वरुणश्च इस द्वन्द्व में समासादि पूर्ववत् । यहाँ दोनों पद ऋदन्त नहीं हैं, अतः 'आनडृतो०'[९२१] (६.३.२५) से आनङ् प्राप्त नहीं था । 'देवताद्वन्द्वे च'[९२२] (६.३.२६) इस सूत्र से आनङ् का विधान हुआ है ।

९२३. ईदग्नेः सोमवरुणयोः (६.३.२७)

देवताद्वन्द्वे इत्येव ।

अनु०—(सोम अथवा वरुण के उत्तरपद रहते अग्नि शब्द को ईकारान्तादेश होता है ।) यह विधान देवताद्वन्द्व में ही होता है ।

९२४. अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः (८.३.८२)

अग्नेः परेषामेषां सस्य षः स्यात्समासे । अग्निष्टुत् । अग्निष्टोमः । अग्नीषोमौ । अग्नीवरुणौ ।

अनु०—अग्नि शब्द के परे जब स्तुत्, स्तोम व सोम पद हों तब इनके स को ष होता है । यह विधान समास में ही होता है । अग्निष्टुत्—एक यज्ञ का नाम । अग्निष्टोमः—एक यज्ञ । अग्नीषोमौ—एक यज्ञ । अग्नीवरुणौ—अग्नि तथा वरुण ।

रूपसिद्धिः

अग्निष्टुत्—'अग्निः स्तूयते अत्र' इस अर्थ में क्विप् प्रत्ययान्त स्तुत् पद का अग्नि के साथ उपपद समास। शेषं पूर्ववत्। अग्नि के पूर्वपद रहते 'अग्नेः स्तुत्०'[९२४] (८.३.८२) से स्तुत् के स् को ष् (अग्निष्तुत्)। 'ष्टुना ष्टुः'[११३] (८.४.४१) से स्तुत् के पूर्ववर्ती 'त्' को 'ट्' (अग्निष्टुत्)।

अग्निष्टोमः—अग्नेः स्तोमः इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष समास। शेषं पूर्ववत्। 'अग्नेः स्तुत्०'[९२४] (८.३.८२) से स्तोम के स् को ष् (अग्निष्तोम)। 'ष्टुना ष्टुः०'[११३] (८.४.४१) से स्तोम के 'त्' को 'ट्' (अग्निष्टोम)। प्रथमा एकवचन में अग्निष्टोमः।

अग्नीषोमौ—अग्निश्च सोमश्च इस विग्रह में समासादि पूर्ववत्। यहाँ 'ईदग्नेः'[९२३] (६.३.२७) सूत्र से 'अग्नि' के इकार को ईकार अन्तादेश और 'अग्नेः स्तुत्०'[९२४] (८.३.८२) सूत्र से सोम के 'स्' को 'ष्' आदेश हुआ है। प्रथमा द्विवचन में अग्नीषोमौ।

अग्नीवरुणौ—अग्निश्च वरुणश्च इस विग्रह में समासादि पूर्ववत्। यहां 'ईदग्नेः'०[९२३] (६.३.२७) सूत्र से 'अग्नि' के इकार को ईकार अन्तादेश हुआ है।

९२५. इद्वृद्धौ (६.३.२८)

वृद्धिमत्युत्तरपदे अग्नेरिदादेशः स्याद्देवताद्वन्द्वे। अग्नामरुतौ देवते अस्य आग्निमारुतं कर्म। अग्नीवरुणौ देवते अस्य आग्निवारुणम्। 'देवताद्वन्द्वे च' (सू० १२३९) इत्युभयपदवृद्धिः। अलौकिके विग्रहवाक्ये आनङ्मीत्वं च बाधित्वा इत्। वृद्धौ किम्—आग्नेन्द्रः। 'नेन्द्रस्य परस्य' (सू० १२४०) इत्युत्तरपदवृद्धिप्रतिषेधः। 'विष्णौ न' (वा० ३९०९)। आग्नावैष्णवम्।

अनु०—यदि देवताद्वन्द्व में उत्तरपद को आदि वृद्धि हुई हो तब पूर्वपद अग्नि को इत् अन्तादेश होता है। आग्निमारुतं कर्म—जिस कर्म के अधिष्ठातृ देवता अग्नि तथा मरुत् हों। आग्निवारुणम्—जिस कर्म के अधिष्ठातृ देवता अग्नि तथा वरुण हों। 'देवताद्वन्द्वे च' (सू० १२३९) से उभयपदवृद्धि। अलौकिक विग्रह वाक्य में आनङ् और ईकार आदेश को बाधित करके इत् अन्तादेश होता है। (सूत्र में) 'वृद्धौ' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि जहाँ उत्तरपद में आदि वृद्धि नहीं है वहाँ पूर्वपद अग्नि को इकारान्तादेश न हो। जैसे—) आग्नेन्द्रः—जिसके देवता अग्नि तथा इन्द्र हों। 'नेन्द्रस्य परस्य' (सू० १२४०) इस सूत्र से उत्तरपद वृद्धि का निषेध होता है। 'विष्णुपद के परे रहते पूर्वपद अग्नि की 'इ' को 'इ' नहीं होता।' आग्नावैष्णवम्—जिसके देवता अग्नि तथा विष्णु हों।

रूपसिद्धिः

आग्निमारुतम्—अग्निश्च मरुच्च इस विग्रह में समासादि पूर्ववत। 'देवताद्वन्द्वे च'[९२२] (६.३.२६) इस सूत्र से पूर्वपद को आनङ् अन्तादेश। 'नलोपो०'[७५७] (६.३.७३)

से न का लोप होने पर प्रथमा द्विवचन में अग्नामरुतौ। अग्नामरुतौ देवते अस्य इस अर्थ में 'सास्य देवता'[१२२६] (४.२.२४) इस सूत्र से अण् (अग्नामरुत् औ अण्)। तद्धितान्त अग्नामरुत् की प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। 'देवताद्वन्द्वे च'[१२३९] (७.३.२१) से उभयपदवृद्धि (आग्नामारुत)। 'इद्वृद्धौ'[१२२५] (६.३.२८) से अग्नि को इत् अन्तादेश (आग्निमारुत)। प्रथमा एकवचन में आग्निमारुतम्।

यहाँ 'ईदग्नेः०'[९२३] (६.३.२७) इस सूत्र से अग्नि को ईकारान्तादेश प्राप्त था। 'इद्वृद्धौ'[१२२५] (६.३.२८) से इकार को इकार का ही आदेश हुआ है। इस आदेश से न केवल ईकारादेश का अपितु आनङ् आदेश का भी निषेध हुआ है।

इसी प्रकार आग्निवारुणम्।

आग्नेन्द्रः—अग्निश्च इन्द्रश्च इस विग्रह में समासादि पूर्ववत्। 'देवताद्वन्द्वे च'[९२२] (६.३.२६) से आनङ्। न लोप (अग्ना इन्द्र)। 'आद्गुणः'[६९] (६.१.८७) से गुण। प्रथमा द्विवचन में अग्नेन्द्रौ। अग्नेन्द्रौ देवते अस्य इस अर्थ में 'सास्य देवता'[१२२६] (४.२.२४)से अण् (अग्नेन्द्र औ अण्)। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। आदिवृद्धि। प्रथमा एकवचन में आग्नेन्द्रः। यहाँ 'देवताद्वन्द्वे च'[१२३९] (७.३.२१) इस सूत्र से उभयपद वृद्धि प्राप्त थी किन्तु 'नेन्द्रस्य परस्य'[१२४०] (७.३.२२) इस सूत्र से उत्तरपद वृद्धि का निषेध हुआ है। उत्तरपद को वृद्धि न होने पर यहाँ 'इद्वृद्धौ'[१२२५] (६.३.२८) इस सूत्र से अग्नि की 'इ' को 'इ' का आदेश नहीं हुआ। अतः यहाँ 'इ' को आनङादेश होकर "आग्नेन्द्रः" रूप बना है।

आग्नावैष्णवम्—अग्निश्च विष्णुश्च इस विग्रह में समासादि पूर्ववत्। 'देवताद्वन्द्वे च'[१२२२] (६.३.२६) से आनङ्। न लोप। प्रथमा द्विवचन में अग्नाविष्णू। अग्नाविष्णू देवते अस्य इस अर्थ में 'सास्य देवता'[१२२६] (४.२.२४) इस सूत्र से अण् (अग्नाविष्णु औ अण्)। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। 'देवताद्वन्द्वे च'[१२३९] (७.३.२१) से दोनों पदों को आदिवृद्धि (आग्नावैष्णु अ)। 'ओर्गुणः'[८४७] (६.४.१४६) से 'उ' को 'ओ'। 'एचोऽय०'[६१] (६.१.७८) से ओ को अव्। प्रथमा एकवचन में आग्नावैष्णवम्। यहाँ 'इद्वृद्धौ'[१२२५] (६.३.२८) सूत्र से अग्नि के इकार को इद्भाव प्राप्त था किन्तु 'विष्णौ न' (वा० ३९०९) से उसका निषेध हुआ है।

९२६. दिवो द्यावा (६.३.२९)

देवताद्वन्द्वे उत्तरपदे। द्यावाभूमी। द्यावाक्षमे।

अनु०—देवताद्वन्द्व म उत्तरपद के परे रहते दिव् शब्द को द्यावा आदेश होता है। द्यावाभूमी—आकाश तथा पृथिवी। द्यावाक्षमे—आकाश तथा पृथिवी।

रूपसिद्धिः

द्यावाभूमी—द्यौश्च भूमिश्च इस विग्रह में समासादि पूर्ववत्। यहाँ 'दिवो द्यावा०'[९२५] (६.३.२९) से दिव् शब्द को द्यावा आदेश। प्रथमा द्विवचन में द्यावाभूमी। इसी प्रकार द्यावाक्षमे।

९२७. दिवसश्च पृथिव्याम् (६.३.३०)

दिव इत्येव, चाद्द्यावा । आदेशेऽकारोच्चारणं सकारस्य रुत्वं माभूदित्येतदर्थम् । द्यौश्च पृथिवी च दिवस्पृथिव्यौ, द्यावापृथिव्यौ । 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' । 'द्यावाचिदस्मै पृथिवी' । 'दिवस्पृथिव्योररतिः' इत्यत्र पदकारा विसर्गं पठन्ति ।

अनु०—पृथिवी शब्द उत्तरपद रहते दिव् शब्द को दिवस और द्यावा आदेश होते हैं। दिवस आदेश में अकार का उच्चारण इसलिए किया गया है कि 'दिवस' के 'स' को 'रु' न हो। (वास्तव में दिव् को हलन्त दिवस् आदेश होता है।) दिवस्पृथिव्यौ, द्यावापृथिव्यौ—आकाश तथा पृथिवी। वेद में जैसे शब्द प्रयुक्त मिलते हैं वैसे ही उनकी साधुता माननी होगी। (जैसे—) द्यावा चिदस्मै पृथिवी, दिवस्पृथिव्योररतिः। 'दिवस्पृथिव्योः' का पदपाठ दिवः पृथिव्योः है अर्थात् 'स्' के स्थान पर विसर्ग मिलता है।

९२८. उषासोषसः (६.३.३१)

उषश्शब्दस्योषासादेशो देवताद्वन्द्वे । उषासासूर्यम् ।

अनु०—देवताद्वन्द्व में उषस् शब्द को उषासा आदेश होता है । उषासासूर्यम्—उषा (प्रातःकाल की अधिष्ठात्री देवी) तथा सूर्य ।

रूपसिद्धिः

उषासासूर्यम्—उषाश्च सूर्यश्च इस विग्रह में समाहार द्वन्द्व समास । शेषं पूर्ववत् । यहाँ 'उषासोषसः'[९२८] (६.३.३१) इस सूत्र से उषस् को उषासा आदेश हुआ है ।

९२९. मातरपितरावुदीचाम् (६.३.३२)

मातरपितरौ । उदीचां किम्—मातापितरौ ।

अनु०—(उत्तरप्रदेशीय आचार्यों के मत में पितृ शब्द परे रहते मातृ शब्द को अरङ् अन्तादेश होता है।) मातरपितरौ—माता तथा पिता। (प्र०) (सूत्र में) 'उदीचाम्' ऐसा क्यों कहा ? (उ०) (इसलिए कि अन्य प्रदेशीय आचार्यों के मत में पितृ शब्द परे रहते मातृ शब्द को अरङ् आदेश न हो । जैसे—) मातापितरौ—माता तथा पिता ।

रूपसिद्धिः

मातरपितरौ—माता च पिता च इस विग्रह में समासादि पूर्ववत् । यहाँ पितृ शब्द परे रहते पूर्वपद मातृ शब्द को अरङ् आदेश हुआ है । जहाँ अरङादेश नहीं हुआ वहाँ मातापितरौ रूप बनता है ।

९३०. द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे (५.४.१०६)

चवर्गान्ताद्दषहान्ताच्च द्वन्द्वाट्टच् स्यात्समाहारे । वाक्च त्वक्च वाक्त्वचम् । त्वक्स्रजम् । शमीदृषदम् । वाक्त्विषम् । छत्रोपानहम् । समाहारे किम्—प्रावृट्छरदौ ।

अनु०—समाहार अर्थ में चवर्गान्त, दकारान्त, पकारान्त और हकारान्त द्वन्द्व से समासान्त टच् प्रत्यय होता है। वाक्त्वचम्—वाणी तथा त्वचा। त्वक्स्रजम्—त्वचा तथा माला। शमीदृषदम्—शमी पत्र तथा सिल। वाक्त्विषम्—वाणी तथा कान्ति। छत्रोपानहम्—छाता तथा जूता। (प्र०) (सूत्र में) 'समाहारे' ऐसा क्यों कहा ? (उ०) (इसलिए कि जहाँ समाहार अर्थ न हो वहाँ समासान्त टच् प्रत्यय न हो। जैसे—) प्रावृट्छरदौ— वर्षा तथा शरद्।

रूपसिद्धिः

वाक्त्वचम्—वाक् च त्वक् च इस विग्रह में वाच् और त्वच् पदों का समाहार अर्थ में द्वन्द्व समास। शेषं पूर्ववत्। यहाँ चवर्गान्त होने से 'द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्०'[१९०] (५.४.१०६) से समासान्त टच् (अ) (वाच् त्वच् अ)। पूर्वपद वाच् के चकार को 'चोः कुः'[१९८] (८.२.३०) से क्। समाहार होने से नपुंसकलिङ्ग एकवचन में वाक्त्वचम्।

इसी प्रकार त्वक्स्रजम्, शमीदृषदम्, वाक्त्विषम्, और छत्रोपानहम् रूप बनते हैं।

॥ इति द्वन्द्वसमासप्रकरणम् ॥

एकशेषप्रकरणम्

अथैकशेषः। 'सरूपाणाम्—' (सू० १८८)। रामौ रामाः। 'विरूपाणामपि समानार्थानाम्' (वा० ७४७)। वक्रदण्डश्च कुटिलदण्डश्च—वक्रदण्डौ। कुटिलदण्डौ।

अनु०—एकविभक्ति के विषय में जो समान रूप मिलें उनमें एक ही शेष रहता है, अन्य का लोप हो जाता है। (जैसे—) रामौ—दो राम। रामाः—अनेक राम। 'एकार्थक विरूप शब्दों को भी एकशेष होता है।' (जैसे—) वक्रदण्डश्च कुटिलदण्डश्च वक्रदण्डौ, कुटिलदण्डौ—दो टेढ़ी लाठी वाले।

६३१. वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः (१.२.६५)

यूना सहोक्तौ गोत्रं शिष्यते, गोत्रयुवप्रत्ययमात्रकृतं चेत्तयोः कृत्स्नं वैरूप्यं स्यात्। गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ। वृद्धः किम्। गर्गगार्ग्यायणौ। यूना किम्। गर्गगार्ग्यौ। तल्लक्षणः किम्। भागवित्तिभागवित्तिकौ। कृत्स्नम् किम्। गार्ग्यवात्स्यायनौ।

अनु०—जब युवन् प्रत्ययान्त पद के साथ वृद्ध प्रत्ययान्त पद हो तब वृद्धप्रत्ययान्त पद रह जाता है जबकि दोनों में वृद्धसंज्ञक और युवसंज्ञक प्रत्ययों का ही एकमात्र अन्तर हो।

गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ—गर्ग का पोता और पर पोता। (प्र०) (सूत्र में) 'वृद्धः' ऐसा क्यों कहा ? (उ०) (इसलिए कि युवप्रत्ययान्त पद के साथ वृद्धप्रत्ययान्त

पद ही जब हो तभी वृद्धप्रत्ययान्त शब्द शेष रहेगा, अन्यथा नहीं। जैसे—) गर्गगार्ग्यायणौ—गर्ग और उसका प्रपौत्र। (सूत्र में) 'यूना' ऐसा क्यों कहा ? (इसलिए कि गोत्र (वृद्ध)—प्रत्ययान्त पद के साथ युवप्रत्ययान्त पद के न होने पर एकशेष न हो। जैसे—) गर्गगार्ग्यौ—गर्ग और उसका पौत्र। 'तल्लक्षणः' ऐसा क्यों कहा ? (इसलिए कि जहाँ वृद्धप्रत्ययान्त और युवप्रत्ययान्त पदों का अर्थ भेद हो वहाँ एकशेष न हो। जैसे—) भागवित्तिभागवित्तिकौ—भागवित्ति का पौत्र और उसका निन्दित प्रपौत्र। 'कृत्स्नम्' ऐसा क्यों कहा ? (इसलिए कि एकशेष होने वाले पदों में एकमात्र अन्तर वृद्ध और युव प्रत्ययों का ही होना चाहिए। ऐसा न होने पर एकशेष नहीं होता। (जैसे—) गार्ग्यवात्स्यायनौ—गर्ग का पौत्र और वत्स का युवा प्रपौत्र।

व्याख्या—जब युवन् प्रत्ययान्त पद के साथ गोत्र (वृद्ध) प्रत्ययान्त पद हो तब वृद्धप्रत्ययान्त पद रह जाता है जब कि दोनों में वृद्धसंज्ञक और युवसंज्ञक प्रत्ययों का ही एकमात्र अन्तर हो। जैसे—गार्ग्यौ। गार्ग्य और गार्ग्यायण शब्द के एकशेष में गार्ग्य शब्द शेष रह जाता है क्योंकि गार्ग्य में अपत्यार्थक गोत्र (वृद्ध) संज्ञक यञ् प्रत्यय है जबकि गार्ग्यायण में अपत्यार्थक युवसंज्ञक फक् (आयन्) प्रत्यय है।

वृद्धः किमिति। 'वृद्धो यूना०'[९३१] (१.२.६५) इस सूत्र में वृद्ध शब्द का ग्रहण इसलिए हुआ है कि युवप्रत्ययान्त पद के साथ वृद्धप्रत्ययान्त पद ही जब हो तभी वृद्धप्रत्ययान्त शब्द शेष रहेगा, अन्यथा नहीं। अतः 'गर्गगार्ग्यायणौ' इस द्वन्द्व में एकशेष नहीं हुआ। क्योंकि यद्यपि यहाँ गार्ग्यायण युवप्रत्ययान्त है तो भी गर्ग गोत्र (वृद्ध)—प्रत्ययान्त नहीं है।

यूना किमिति। 'वृद्धो यूना०'[९३१] (१.२.६५) इस सूत्र में कहा गया है कि वृद्ध प्रत्ययान्त पद के साथ युवप्रत्ययान्त पद के होने पर ही गोत्र (वृद्ध) प्रत्ययान्त पद शेष रहता है। अतः गर्गगार्ग्यौ इस द्वन्द्व में गोत्र प्रत्ययान्त गार्ग्य के साथ युव प्रत्ययान्त पद न होने पर एकशेष नहीं हुआ है।

तल्लक्षणः किमिति। 'वृद्धो यूना०'[९३१] (१.२.६५) इस सूत्र में तल्लक्षण पद का प्रयोग इसलिए किया गया है कि गोत्र प्रत्ययान्त और युवप्रत्ययान्त पदों का एकमात्र प्रत्ययनिमित्तक ही भेद हो, अर्थनिमित्तक नहीं। अतः भागवित्ति और भागवित्तिक में एकशेष नहीं हुआ क्योंकि इनमें क्रमशः गोत्र और युवप्रत्यय के होने पर भी अर्थ भेद है। भागवित्तिक में युवसंज्ञक ठक् प्रत्यय कुत्सित अर्थ में हुआ है जबकि भागवित्ति में गोत्रसंज्ञक इञ् प्रत्यय का प्रयोग कुत्सित अर्थ में नहीं हुआ। अतः 'भागवित्तिभागवित्तिकौ' में एकशेष नहीं होता है।

कृत्स्नं किमिति। 'वृद्धो यूना०'[९३१] (१.२.६५) इस सूत्र में कृत्स्न शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि एकशेष होने वाले पदों में एकमात्र अन्तर वृद्ध और युव प्रत्ययों का ही होना चाहिए। अतः 'गार्ग्यवात्स्यायनौ' इस उदाहरण में यद्यपि गार्ग्य वृद्ध प्रत्ययान्त पद है और वात्स्यायन युव प्रत्ययान्त पद है और दोनों प्रत्यय वृद्धत्व और युवत्व को बोधित करने के अतिरिक्त अन्य किसी अर्थ को बोधित नहीं करते तो

भी गार्ग्य और वात्स्यायन शब्दों में मूल पुरुषों का भेद है। 'वृद्धो यूना०'[९३१] (१.२.६५) इस सूत्र में पठित एव शब्द से उपलक्षित कृत्स्न (एकमात्र) अर्थ को निकाल देने से 'गार्ग्यवात्स्यायनौ' में एकशेष हो जाता जो कि इष्ट नहीं है। अतएव उक्त सूत्र में कृत्स्नार्थक एव शब्द का प्रयोग हुआ है।

९३२. स्त्री पुंवच्च (१.२.६६)

यूना सहोक्तौ वृद्धा स्त्री शिष्यते तदर्थश्च पुंवत्। गार्गी च गार्ग्यायणौ च गर्गाः। 'अस्त्रियाम्' इत्यनुवर्तमाने 'यञञोश्च' (सू० ११०८) इति लुक्। दाक्षी च दाक्षायणश्च दाक्षी।

अनु०—युवा प्रत्ययान्त शब्द के साथ गोत्रप्रत्ययान्त स्त्रीवाचक शब्द के आने पर गोत्रप्रत्ययान्त स्त्रीवाचक शब्द शेष रह जाता है और उसका अर्थ पुंवाचक के समान होता है। **गर्गाः**—गर्ग की कन्या और उसके दो युवा प्रपौत्र। 'अस्त्रियाम्' इस अंश की अनुवृत्ति होने पर 'यञञोश्च' (सू० ११०८) इस सूत्र से यञ् प्रत्यय का लुक् हुआ। **दाक्षी**—दक्ष की कन्या और उसका युवा प्रपौत्र।

रूपसिद्धिः

गर्गाः—गार्गी च गार्ग्यायणौ च' इस विग्रह में सुप् आने से पूर्व 'स्त्री पुंवच्च'[९३२] (१.२.६६) से गोत्रप्रत्ययान्त स्त्रीवाचक गार्गी शब्द शेष रह जाता है और उसको पुंवद्भाव होने पर—गर्ग। प्रथमा बहुवचन में गर्गाः।

यहाँ 'गर्गाः' का अर्थ एक गार्गी और दो गार्ग्यायण है। एकशेष होने पर अवशिष्ट गार्गी शब्द से प्रथमा बहुवचन में पुंवद्भाव करने पर 'यञञोश्च'[११०८] (२.४.६४) इस सूत्र द्वारा यञ् प्रत्यय का लोप होकर गर्गाः रूप बनता है।

दाक्षी—दाक्षी च दाक्षायणश्च इस विग्रह में सुप् उत्पत्ति से पूर्व 'स्त्री पुंवच्च'[९३२] (१.२.६६) इस सूत्र से गोत्रप्रत्ययान्त स्त्रीवाचक दाक्षी शब्द शेष रह जाता है। पुंवद्भाव होने पर दाक्षि। प्रथमा द्विवचन में 'दाक्षि औ' इस स्थिति में 'प्रथमयोः पूर्व०'[१६४] (६.१.१०२) से पूर्वसवर्णदीर्घ होने पर दाक्षी।

९३३. पुमान् स्त्रिया (१.२.६७)

स्त्रिया सहोक्तौ पुमाञ्छिष्यते, तल्लक्षण एव विशेषश्चेत्। हंसी च हंसश्च हंसौ।

अनु०—स्त्रीवाचक शब्द के साथ पुंवाचक शब्द आने पर पुंवाचक शब्द शेष रह जाता है यदि उन दोनों में एकमात्र प्रत्ययगत विशेषता ही हो। हंसौ—हंसी और हंस।

व्याख्या—'पुमान् स्त्रिया'[९३३] (१.२.६७) इस सूत्र में 'वृद्धो यूना०'[९३१] (१.२.६५) इस सूत्र से 'तल्लक्षणः' इसकी अनुवृत्ति होती है। इसका अर्थ होगा कि स्त्रीवाचक और

पुंवाचक शब्दों के योग में पुंवाचक शब्द तभी शेष रह जाता है यदि उन दोनों में एकमात्र प्रत्ययगत विशेषता ही हो। जैसे—हंसौ।

किन्तु यदि प्रत्ययगत विशेषता के अतिरिक्त प्रकृतिगत विशेषता भी हो तब उक्त एकशेष नहीं होता। जैसे—हंसश्च वरटा च। यहाँ एकशेष नहीं हुआ क्योंकि दोनों में प्रकृतिगत अन्तर भी है।

६३४. भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम् (१.२.६८)

भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ। पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ।

अनु०—(भ्रातृ और पुत्र के साथ क्रमशः स्वसृ और दुहितृ शब्द का योग होने पर भ्रातृ और पुत्र शब्द ही शेष रह जाते हैं।) भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ—भाई और बहन। पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ—पुत्र और पुत्री।

रूपसिद्धिः

भ्रातरौ—भ्राता च स्वसा च इस विग्रह में सुप् उत्पत्ति से पूर्व 'भ्रातृपुत्रौ०'[१३४] (१.२.६८) इस सूत्र से एकशेष होकर भ्रातृ शब्द रह जाता है। प्रथमा द्विवचन में भ्रातरौ।

पुत्रौ—पुत्रश्च दुहिता च इस विग्रह में सुप् उत्पत्ति से पूर्व 'भ्रातृपुत्रौ०'[१३४] (१.२.६८) इस सूत्र से एकशेष होकर पुत्र शब्द शेष रह जाता है। प्रथमा द्विवचन में पुत्रौ।

६३५. नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् (१.२.६९)

अक्लीबेन सहोक्तौ क्लीबं शिष्यते, तच्च वा एकवत्स्यात्तल्लक्षण एव विशेषश्चेत्। शुक्लः पटः। शुक्ला शाटी। शुक्लं वस्त्रम्। तदिदं शुक्लम्। तानीमानि शुक्लानि।

अनु०—नपुंसकभिन्न शब्द के साथ जब नपुंसक शब्द का प्रयोग होता है तब एकशेष में नपुंसकवाचक शब्द शेष रह जाता है और उसका विकल्प से एकवचन में प्रयोग होता है यदि दोनों पदों में एकमात्र लिङ्ग का ही अन्तर हो। शुक्लः पटः—सफेद वस्त्र। शुक्ला शाटी—सफेद साड़ी। शुक्लं वस्त्रम्—सफेद वस्त्र। (इन भिन्नलिङ्ग-वाचक शब्दों के योग में नपुंसकलिङ्ग वाचक शुक्ल पद ही शेष रह जाता है। उसका प्रयोग प्रथमा एकवचन में 'शुक्लम्' और प्रथमा बहुवचन में 'शुक्लानि' होता है।

६३६. पिता मात्रा (१.२.७०)

मात्रा सहोक्तौ पिता वा शिष्यते। माता च पिता च पितरौ—मातापितरौ वा।

अनु०—मातृ शब्द के साथ प्रयुक्त पितृ शब्द विकल्प से शेष रहता है। माता च पिता च पितरौ मातापितरौ वा—माता और पिता।

रूपसिद्धिः

पितरौ—माता च पिता च इस विग्रह में सुप् उत्पत्ति से पूर्व 'मातृ पितृ' इस स्थिति में 'पिता मात्रा'[१३५] (१.२.७०) सूत्र से पितृ शब्द का एकशेष। प्रथमा द्विवचन में 'पितृ औ' इस स्थिति में 'ऋतो ङि०'[२७५] (७.३.११०) इस सूत्र से 'ऋ' को 'अर्' (गुण) होने पर पितरौ। पक्ष में जहाँ एकशेष नहीं हुआ, वहाँ 'आनङृतो द्वन्द्वे'[१३१] (६.३.२५) इस सूत्र से मातृ शब्द को आनङ् अन्तादेश होकर 'नलोपः०'[२३६] (८.२.७) से नलोप। प्रथमा द्विवचन में मातापितरौ।

९३७. श्वशुरः श्वश्रूवा (१.२.७१)

श्वश्रूवा सहोक्तौ श्वशुरो वा शिष्यते, तल्लक्षण एव विशेषश्चेत्। श्वश्रूश्च श्वशुरश्च श्वशुरौ—श्वश्रूश्वशुरौ वा।

अनु०—श्वश्रू शब्द के साथ प्रयुक्त श्वशुर शब्द विकल्प से शेष रह जाता है। श्वश्रूश्च श्वशुरश्च श्वशुरौ, श्वश्रूश्वशुरौ वा—सास और ससुर।

रूपसिद्धिः

श्वशुरौ—श्वश्रूश्च श्वशुरश्च इस विग्रह में सुप् उत्पत्ति से पूर्व 'श्वश्रू श्वशुर' इस स्थिति में 'श्वशुरः श्वश्रूवा'[१३७] (१.२.७१) सूत्र से श्वशुर शब्द का एकशेष। प्रथमा द्विवचन में श्वशुरौ। पक्ष में इतरेतर द्वन्द्व समास में श्वश्रूश्वशुरौ।

९३८. त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् (१.२.७२)

सर्वैः सहोक्तौ त्यदादीनि नित्यं शिष्यन्ते। स च देवदत्तश्च तौ। 'त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते' (वा० ८०१) स च यश्च यौ (सा चया च ये)। 'पूर्वशेषोऽपि दृश्यते' इति भाष्यम्। स च यश्च तौ। 'त्यदादितः शेषे पुन्नपुंसकतो लिङ्गवचनानि' (वा० ७९९)। स च देवदत्तश्च तौ। तच्च देवदत्तश्च यज्ञदत्ता च तानि। पुन्नपुंसकयोस्तु परत्वान्नपुंसकं शिष्यते। तच्च देवदत्तश्च ते। 'अद्वन्द्वतत्पुरुषविशेषणानामिति वक्तव्यम् (वा० ८००)। कुक्कुटमयूर्याविमे। मयूरीकुक्कुटाविमौ। तच्च सा च अर्धपिप्पल्यौ ते।

अनु०—अन्य शब्दों के साथ प्रयुक्त त्यद्, तद् आदि सर्वनाम शब्द शेष रह जाते हैं। स च देवदत्तश्च तौ—वह और देवदत्त। 'त्यदादिगण के शब्दों में से जब कुछ शब्द एक साथ प्रयुक्त होते हैं तब त्यदादिगण के क्रमानुसार पूर्ववर्ती पद की अपेक्षा उत्तरवर्ती पद शेष रह जाता है।' स च यश्च यौ—वह और जो कोई। किन्तु कहीं कहीं पूर्ववर्ती पद शेष रह जाता है। ऐसा भाष्य में कहा है। स च यश्च तौ—वह और जो कोई। 'त्यदादि शब्दों के एकशेष में जो त्यदादि शेष रह जाता है उसके लिङ्ग का निर्धारण एकशेष होने से पूर्व विद्यमान पुंवाचक अथवा नपुंसकवाचक शब्दों से होता है।' स च देवदत्तश्च तौ—वह और देवदत्त। तच्च देवदत्तश्च यज्ञदत्ता च तानि—

वह पुस्तक, देवदत्त और यज्ञदत्ता । जहाँ पुंल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग शब्द एक साथ प्रयुक्त हुए हों वहाँ नपुंसकलिङ्गवाचक शब्द शेष रहता है । तच्च देवदत्तश्च ते—वह पुस्तक और देवदत्त । 'द्वन्द्व और तत्पुरुष के विशेषणीभूत त्यद् आदि के सम्बन्ध में लिङ्गनियामक उक्त वार्तिक प्रवृत्त नहीं होता ।' (अर्थात् द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में परवल्लिङ्ग का नियम प्रचलित रहता है ।) कुक्कुटमयूर्याविमे—ये मुर्गा और मोरनी । मयूरीकुक्कुटाविमौ—ये दो मोरनी और मुर्गा । तच्च सा च अर्धपिप्पल्यौ ते—वह पिप्पली का आधा और वह अर्धपिप्पली ।

९३९. ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री (१.२.७३)

एषु सहविवक्षायां स्त्री शिष्यते । 'पुमान् स्त्रिया' (सू० ९३३) इत्यस्यापवादः । गाव इमाः । ग्राम्य इति किम् । रुरव इमे । पशुग्रहणं किम् । ब्राह्मणा इमे । संघेषु किम् । एतौ गावौ । अतरुणेषु किम् । वत्सा इमे । 'अनेकशफेष्विति वाच्यम्' (वा० ८०५) । अश्वा इमे । इह सर्वत्रैकशेषे कृतेऽनेकसुबन्ताभावाद् द्वन्द्वो न । तेन शिरसी शिरांसि इत्यादौ समासस्येत्यन्तोदात्तः प्राप्यङ्गत्वादेकवद्भावश्च न । पन्थानौ पन्थानः इत्यादौ समासान्तो न ।

अनु०—तरुणभिन्न ग्राम्य पशुओं के सङ्घ में स्त्रीवाचक शब्द शेष रह जाता है । यह सूत्र 'पुमान् स्त्रिया' (सू० ९३३) इस सूत्र का अपवाद है । गाव इमाः—ये बैल तथा गाय । (सूत्र में) 'ग्राम्य' ऐसा क्यों कहा ? (इसलिए कि यदि ग्राम्य पशुओं का संघ न होकर वन्य पशुओं का सङ्घ हो तब उक्त नियम प्रवृत्त नहीं होता । जैसे—) रुरव इमे—ये काले मृग । (सूत्र में) 'पशु' ऐसा क्यों कहा ? (इसलिए कि 'पशुभिन्न ग्राम्य प्राणियों के संघ की विवक्षा में उक्त सूत्र प्रवृत्त न हो । जैसे—) ब्राह्मणा इमे—ये ब्राह्मणी और ब्राह्मण । 'सङ्घेषु' ऐसा क्यों कहा ? (इसलिए कि द्वित्व-संख्या की विवक्षा में उक्त सूत्र प्रवृत्त न हो । जैसे—) एतौ गावौ—ये दो गाय और बैल । 'अतरुणेषु' ऐसा क्यों कहा ? (इसलिए कि उक्त सूत्र से जिन ग्राम्य पशुओं के सङ्घ का स्त्रीप्रत्ययान्त एकशेष हुआ है वे तरुण न हों । तरुण होने पर उक्त सूत्र प्रवृत्त नहीं होता है । जैसे—) वत्सा इमे—ये बछिया और बछड़े । 'ग्राम्यपशु०' (सू० ९३९) इस सूत्र में जिन ग्राम्य पशुओं का निर्देश हुआ है वे अनेक खुर वाले होने चाहिएँ । अश्वा इमे—ये घोड़ी और घोड़े । (यहाँ अश्व एक खुर वाला पशु है यद्यपि वह ग्राम्य है । अतः यहाँ 'ग्राम्यपशु०' (सू० ९३९) यह सूत्र प्रवृत्त न होकर 'पुमान् स्त्रिया' (सू० ९३३) इस सूत्र से पुंवाचक अश्व शेष रह जाता है ।)

इहेति । उपर्युक्त एकशेष के सभी उदाहरणों में द्वन्द्व समास प्राप्त था । किन्तु यदि हम वहाँ द्वन्द्व समास करते तब एकशेष को स्थान न मिलता । अतः इन उदाहरणों में द्वन्द्व को बाधित करके एकशेष हुआ है ।

एकशेष हो जाने पर द्वन्द्व समास प्राप्त नहीं होता । क्योंकि द्वन्द्व समास के लिए अनेक सुबन्तों का होना आवश्यक होता है ।

यदि हम पहले द्वन्द्व और पीछे एकशेष करते तब 'शिरसी', 'शिरांसि' इत्यादि प्रयोगों में 'समासस्य०'[१७३४] (६.१.२२३) इस सूत्र से अन्तोदात्त हो जाता, प्राण्यङ्ग होने के कारण 'द्वन्द्वश्च०'[१०६] (२.४.२) इस सूत्र से एकवद्भाव हो जाता तथा 'पन्थानौ, 'पन्थानः' इत्यादि प्रयोगों में 'ऋक्पू०'[१४०] (५.४.७४) इस सूत्र से समासान्त 'अ' हो जाता। अतः उपर्युक्त अन्तोदात्त, एकवद्भाव और समासान्त विधानों को रोकने के लिए द्वन्द्व को बाधित करके एकशेष हुआ है।

इत्येकशेषप्रकरणम्

सर्वसमासशेषप्रकरणम्

कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः। परार्थाभिधानं वृत्तिः। वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः। स द्विविधः लौकिकोऽलौकिकश्च। परिनिष्ठितत्वात्साधुर्लौकिकः। प्रयोगानर्होऽसाधुरलौकिकः। यथा राज्ञः पुरुषः, राजन् अस् पुरुष सु इति। अविग्रहो नित्यसमासः, अस्वपदविग्रहो वा। समासश्चतुर्विध इति तु प्रायोवादः। अव्ययीभावतत्पुरुषबहुव्रीहिद्वन्द्वाधिकारबहिर्भूतानामपि 'सह सुपा' (सू० ६४९) इति समासविधानात्। पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः, उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः, अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः, उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः, इत्यपि प्राचां वादः प्रायोऽभिप्रायः। सूपप्रति उन्मत्तगङ्गम् इत्याद्यव्ययीभावे अतिमालादौ तत्पुरुषे, द्वित्राः इत्यादिबहुव्रीहौ, दन्तोष्ठम् इत्यादिद्वन्द्वे चाभावात्। तत्पुरुषविशेषः कर्मधारयः। तद्विशेषो द्विगुः। अनेकपदत्वं द्वन्द्वबहुव्रीह्योरेव। तत्पुरुषस्य क्वचिदेवेत्युक्तम्। किं च।

सुपां सुपा तिङा नाम्ना धातुनाऽथ तिङां तिङा।
सुबन्तेनेति विज्ञेयः समासः षड्विधो बुधैः॥

सुपां सुपा—राजपुरुषः। तिङा—पर्यभूषयत्। नाम्ना—कुम्भकारः। धातुना—कटप्रूः, अजस्रम्। तिङां तिङा—पिबतखादता। खादतमोदता। तिङां सुपा—कृन्त विचक्षणेति यस्यां क्रियायां सा कृन्तविचक्षणा। एहीडादयोऽन्यपदार्थे इति मयूरव्यंसकादौ पाठात्समासः।

अनु०—वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं—(१) कृत्, (२) तद्धित, (३) समास, (४) एकशेष, (५) सनाद्यन्त धातु। प्रक्रिया दशा में प्रत्येक पद अर्थवत् होता है। प्रत्यय के संसर्ग से अथवा अन्य पद के संयोग से उसमें जो विशिष्ट अर्थ उत्पन्न हो जाता है उसे वृत्ति कहते हैं।

समस्यमान पदों का समूह, जो समस्त होकर विशिष्ट एकार्थ का प्रतिपादन करता है, विग्रह कहलाता है। विग्रह दो प्रकार का है (१) लौकिक (२) अलौकिक।

व्याकरण नियमों से साधित पदों का विग्रह लोक में प्रयुक्त होता है। जैसे—राज्ञः पुरुषः। व्याकरण नियमों से असंस्कृत पद लोक में प्रयुक्त नहीं होते अतः वे अलौकिक कहलाते हैं। जैसे राजन् अस् पुरुष सु।

नित्य समास का विग्रह नहीं होता अथवा उसका विग्रह अपने पद से नहीं होता।

समास चार प्रकार का है इस कथन के अपवाद भी हैं। अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुव्रीहि और द्वन्द्व समासों के अतिरिक्त पाँचवाँ सुप्सुपा समास है जिसका विधान 'सह सुपा' इस सूत्र से किया गया है।

जिसमें पूर्व पद का अर्थ प्रधान हो वह **अव्ययीभाव** समास कहलाता है। जिसमें उत्तरपद का अर्थ प्रधान हो वह **तत्पुरुष** कहलाता है। जिसमें अन्य पद का अर्थ प्रधान हो वह **बहुव्रीहि** कहलाता है। जिसमें दोनों पदों का अर्थ प्रधान हो वह **द्वन्द्व** कहलाता है। प्राचीन वैयाकरणों के उपर्युक्त विचार बाहुलिक हैं। अतः कहीं कहीं उपर्युक्त स्व-लक्षण न होने पर भी समास हो जाता है। (जैसे—) अव्ययीभाव में सूपप्रति, तत्पुरुष में अतिमालः, बहुव्रीहि में द्विव्राः, द्वन्द्व में दन्तोष्ठम् रूप बन जाते हैं।

तत्पुरुष का भेद कर्मधारय और कर्मधारय का भेद द्विगु होता है। द्वन्द्व और बहुव्रीहि में और कहीं कहीं तत्पुरुष में भी अनेक पद होते हैं। ऐसा भाष्य में कहा है।

समास छः प्रकार का है—(१) सुबन्त का सुबन्त के साथ, (२) सुबन्त का तिङन्त के साथ, (३) सुबन्त का नाम के साथ, (४) सुबन्त का धातु के साथ, (५) तिङन्त का तिङन्त के साथ और (६) तिङन्त का सुबन्त के साथ। सुबन्त का सुबन्त के साथ समास, जैसे—राजपुरुषः। सुबन्त का तिङन्त के साथ समास, जैसे—पर्यभूषयत्। सुबन्त का नाम के साथ समास, जैसे—कुम्भकारः। सुबन्त का धातु के साथ समास, जैसे—कटप्रूः, अजस्रम्। तिङन्त का तिङन्त के साथ समास, जैसे—पिबतखादता। खादतमोदता। तिङन्त का सुबन्त के साथ समास, जैसे—कृन्तविचक्षणा।

एहीडादयोऽन्यपदार्थे च—"एहि ईड" इति यस्मिन् कर्मणि इस अर्थ में तिङन्त का सुबन्त के साथ समास होकर एहीडम्। मयूरव्यंसकादि गण में 'एहीड' आदि पदों की गणना है अतः 'मयूरव्यंसकादयश्च' (सू० ७५४) इस सूत्र से समास का निपातन हुआ है।

व्याख्या—पूर्वपदार्थेति। जिसमें पूर्व पद का अर्थ प्रधान हो वह अव्ययीभाव, जिसमें उत्तरपद का अर्थ प्रधान हो वह तत्पुरुष, जिसमें अन्य पद का अर्थ प्रधान हो वह बहुव्रीहि, जिसमें दोनों पदों का अर्थ प्रधान हो वह द्वन्द्व समास कहलाता है। प्राचीन वैयाकरणों के ये विचार बाहुलिक हैं। अतः कहीं कहीं उपर्युक्त स्वलक्षण न होने पर भी समास हो जाता है। अपवादों के उदाहरण—सूपप्रति—'सूपस्य लेशः' इस विग्रह में सुबन्त सूप का अल्पार्थक 'प्रति' अव्यय के साथ अव्ययीभाव समास हुआ है। यहाँ उत्तरपद 'प्रति' शब्द का अर्थ प्रधान है जबकि अव्ययीभाव में पूर्व पद का अर्थ प्रधान होता है। इसी प्रकार अतिमालः—'मालामतिक्रान्तः' इस विग्रह में 'अत्यादयः क्रान्ता-

द्यर्थे०' (वा० १३३६) इस वार्त्तिक से द्वितीया तत्पुरुष समास। यहाँ पूर्वपद 'अति' शब्द का अर्थ प्रधान है जबकि तत्पुरुष में उत्तरपद का अर्थ प्रधान होता है। इसी प्रकार

द्वित्राः—द्वौ वा त्रयो वा इस विग्रह में द्वि, त्रि पदों का बहुव्रीहि समास हुआ है। यहाँ दोनों पदों का अर्थ प्रधान है जबकि बहुव्रीहि में अन्य पद का अर्थ प्रधान होता है। इसी प्रकार

दन्तोष्ठम्—दन्तानाम् ओष्ठयोश्च समाहारः इस विग्रह में द्वन्द्व समास हुआ है। यहाँ अन्य पद का अर्थ (समाहारार्थ) प्रधान है जबकि द्वन्द्व में दोनों पदों का अर्थ प्रधान होता है।

॥ इति सर्वसमासशेषप्रकरणम् ॥

सर्वसमासान्तप्रकरणम्

९४०. ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे (५.४.७४)

अ अनक्षे इति च्छेदः। ऋगाद्यन्तस्य समासस्य अप्रत्ययोऽन्तावयवः स्यात्, अक्षे या धूस्तदन्तस्य तु न। अर्धर्चः। अनृचबह्वृचावध्येतर्येव। नेह, अनृक्साम। बह्वृक्सूक्तम्। विष्णोः पूर्विष्णुपुरम्। क्लीबत्वं लोकात्। विमलापं सरः।

अनु०—(सूत्र में स्थित 'आनक्षे' इस पद में) 'अ अनक्षे' ऐसा पदच्छेद है। ऋच्, पुर्, अप्, धुर्, पथिन्—ये शब्द जिस समास के अन्त में हों उस समास को समासान्त 'अ' प्रत्यय हो किन्तु अक्ष में धुर्—तदन्त को न हो। अर्धर्चः—मन्त्र का आधा। अध्येतृ (छात्र) से सम्बन्धित अनृच, बह्वृच पदों में भी समासान्त 'अ' प्रत्यय होता है। अन्यथा अनृक् साम, बह्वृक् सूक्तम्। (इन दोनों सुबन्तों में 'अ' नहीं हुआ है।) विष्णुपुरम्—विष्णु का नगर। लोक में (पुर् का) नपुंसकलिङ्ग में ही प्रयोग होता है। विमलापं सरः—निर्मल जल वाला तालाब।

रूपसिद्धिः

अर्धर्चः—लौ० वि०—अर्धम् ऋचः। अलौ० वि०—अर्ध सु ऋच् ङस्।

यहाँ 'अर्धं नपुंसकम्'[७१३] (२.२.२) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। 'आद्गुणः'[६९] (६.१.८७) से गुण (अर्धर्च्)। 'ऋक्पूरब्धूः०'[१९४०] (५.४.७४) इस सूत्र से समासान्त 'अ' प्रत्यय होने पर 'अर्धर्चाः पुंसि च'[८१६] (२.४.३१) इस सूत्र से पुंल्लिङ्ग में अर्धर्चः। पक्ष में अर्धर्चम्।

विष्णुपुरम्—"विष्णोः पूः" इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष समास। 'ऋक्पूरब्धूः०'[९४०] (५.४.७४) इस सूत्र से समासान्त 'अ' प्रत्यय होने पर अकारान्त विष्णुपुर। नपुंसकलिङ्ग के प्रथमा एकवचन में विष्णुपुरम्। पुर् स्त्रीवाचक शब्द है। यहाँ 'परवल्लिङ्गं०'[९१२] (२.४.२६) से स्त्रीलिङ्ग प्राप्त था किन्तु लोक में इसका नपुंसकलिङ्ग में ही प्रयोग होता है।

विमलापम्—विमला आपो यत्र इस विग्रह में 'ऋक्पूरब्धूः०'[९४०] (५.४.७४) इस सूत्र से समासान्त अ। नपुंसकलिङ्ग के प्रथमा एकवचन में विमलापम्।

९४१. द्वयन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् (६.३.९७)

अप इति कृतसमासान्तस्यानुकरणम्। षष्ठ्यर्थे प्रथमा। एभ्योऽपस्य ईत्स्यात्। द्वयोर्गता आपो यस्मिन्निति द्वीपम्। अन्तरीपम्। प्रतीपम्। समीपम्। 'समापो देवयजन' मिति तु समा आपो यस्मिन्निति बोध्यम्। कृतसमासान्तग्रहणान्नेह—स्वप् स्वपी। 'अवर्णान्ताद्वा' (वा० ५०४५)। प्रेपम्। परेपम्। प्रापम्। परापम्।

अनु०—'अप' यह कृतसमासान्त है। यहाँ (अपः में) षष्ठी के अर्थ में प्रथमा का प्रयोग हुआ है। द्वि, अन्तर् और उपसर्ग के पूर्वावयव होने पर अप् को ईकार आदेश होता है। द्वीपम्—टापू। अन्तरीपम्—वह देश जिसके तीन ओर जल हो। प्रतीपम्—जल प्रवाह के विरुद्ध, प्रतिकूल। समीपम्—पास, नजदीक। समापो देवयजनम्—ऐसी यज्ञ भूमि जिसमें समान जल हो। इसका 'समा आपो यस्मिन्निति' ऐसा अर्थ जानना चाहिए। सूत्र में समासान्त 'अप' का ग्रहण हुआ है अतः स्वप्, स्वपी—इन दोनों पदों में अप् के 'अ' को 'ई' नहीं होता है। 'अवर्णान्त प्रादियों के उत्तरवर्ती अप्रत्ययान्त अप के प्राथमिक 'अ' को 'ई' आदेश विकल्प से होता है।' प्रेपम्—गड़ही। परेपम्—जल निकलने का मार्ग। प्रापम्—गड़ही। परापम्—जल निकलने का मार्ग।

व्याख्या—'द्वयन्तरुपसर्गे०'[९४१] (६.३.९७) इस सूत्र में षष्ठी के अर्थ में प्रथमान्त 'अपः' का प्रयोग हुआ है। अप् के साथ समासान्त 'अ' प्रयुक्त होकर 'अपः' रूप बना है। षष्ठ्यर्थ में षष्ठ्यन्त रूप 'अपस्य' होना चाहिए था।

कृतसमासान्तेति। 'द्वयन्त०'[९४१] (६.३.९७) इस सूत्र से अप के अ को 'ई' आदेश होता है यदि द्वि अथवा अन्तर् अथवा कोई उपसर्ग पद आरम्भ में हो। सूत्र में समासान्त 'अप' का ग्रहण हुआ है अतः समासान्त अप के ही अ को 'ई' आदेश होता है। किन्तु जहाँ अप् के साथ समासान्त 'अ' प्रत्यय नहीं लगा वहाँ अप के अ को ई नहीं होता है। जैसे—स्वप्, स्वपी। इन उदाहरणों में 'न पूजनात्'[९५४] (५.४.६९) सूत्र से समासान्त अ प्रत्यय का निषेध हुआ है। क्योंकि यहाँ 'अ' प्रत्यय नहीं हुआ इसलिए अप् के 'अ' को 'ई' भी नहीं हुआ।

रूपसिद्धिः

द्वीपम्—द्वयोर्गता आपो यस्मिन्, इस विग्रह में व्यधिकरण बहुव्रीहि। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। 'ऋक्पू०'[९४०] (५.४.७४) से अ प्रत्यय। 'द्वयन्त०'[९४१] (६.३.९७)

से अप् के अ को ई (द्वि ईप् अ)। सवर्ण दीर्घ। नपुंसकलिङ्ग के प्रथमा एकवचन में द्वीपम्। इसी प्रकार अन्तरीपम्, प्रतीपम्, समीपम्।

समापः—समा आपो यस्मिन्। यहाँ सम शब्द उपसर्ग नहीं है, अतः 'द्वयन्त०'[१४१] (६.३.९७) इस सूत्र से अप् के 'अ' को 'ई' नहीं हुआ है।

प्रेपम्—प्रगता आपो यस्य—इस विग्रह में समासादि पूर्ववत्। प्र अप् अ इस स्थिति में 'अवर्णान्ताद्वा' (वा० ५०४५) इस वार्त्तिक से विकल्प से 'अ' को 'ई'। गुण। नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में प्रेपम्।

जहाँ अप् के 'अ' को 'ई' नहीं हुआ वहाँ प्रापम् रूप बनता है।

परेपम्—परा अप् इस स्थिति में 'अवर्णान्ताद्वा' (वा० ५०४५) इस वार्त्तिक से विकल्प से अप् के 'अ' को 'ई' आदेश (परा ई प् अ)। गुण। नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में परेपम्।

जहाँ अप् के 'अ' को 'ई' नहीं हुआ वहाँ परापम् रूप बनता है।

९४२. ऊदनोर्देशे (६.३.९८)

अनोः परस्यापस्य ऊत्स्याद्देशे। अनूपो देशः। राजधुरा। अक्षे तु अक्षधूः। दृढधूरक्षः। सखिपथः, रम्यपथो देशः।

अनु०—जब समस्त पद किसी देश की संज्ञा हो तब 'अनु' के परवर्ती अप् के 'अ' को 'ऊ' आदेश होता है। अनूपो देशः—जिस देश में जल न हो। राजधुरा—राजा का शासन भार। अक्षधूः—गाड़ी के अग्रभाग में लगा हुआ जुआ। दृढधूः अक्षः—जिस गाड़ी में दृढ फड़ लगा हो। सखिपथः—मित्र की सड़क। रम्यपथो देशः—जिस देश की सड़क सुन्दर हो।

रूपसिद्धिः

अनूपः (देशः)—अनुगता आपो यस्मिन् इस विग्रह में समासादि पूर्ववत्। अनु अप इस स्थिति में 'ऊदनोर्देशे'[१४२] (६.३.९८) इस सूत्र से 'अप' के आरम्भिक 'अ' को 'ऊ' आदेश। सवर्ण दीर्घ होकर पुंल्लिङ्ग के प्रथमा एकवचन में अनूपः।

राजधुरा—राज्ञो धूः (राजन् ङस् धुर् सु) इस विग्रह में समासादि पूर्ववत्। राजधुर् इस स्थिति में 'ऋक्पूरब्धूः०'[१४०] (५.४.७४) से समासान्त अ प्रत्यय (राजधुर)। स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय लगाकर प्रथमा एकवचन में राजधुरा।

अक्षधूः—'ऋक्पूरब्धूः०'[१४०] (५.४.७४) इस सूत्र में उच्चारित 'आनक्षे' का विग्रह 'अ अनक्षे' है। इसका अर्थ है कि जहां समस्त पद अक्ष की धुरा का वाचक हो वहाँ उक्त सूत्र से समासान्त अ प्रत्यय नहीं होगा। अतः 'अक्षधूः' इस प्रयोग में समासान्त 'अ' प्रत्यय नहीं हुआ है। इसी प्रकार दृढधूः (अक्षः) में भी समासान्त 'अ' प्रत्यय नहीं हुआ है।

सखिपथः—'सख्युः पन्थाः' (सखि ङस् पथिन् सु) इस विग्रह में समासादि पूर्ववत्। 'ऋक्पूर०'[१४०] (५.४.७४) से समासान्त 'अ' प्रत्यय हुआ है। टि का लोप होने पर सखिपथ। पुंल्लिङ्ग के प्रथमा एकवचन में सखिपथः। इसी प्रकार रम्यपथः (देशः) रूप बनता है।

९४३. अच्प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोम्नः (५.४.७५)

एतत्पूर्वात्सामलोमान्तात्समासादच्स्यात्। प्रतिसामम्। अनुसामम्। अवसामम्। प्रतिलोमम्। अनुलोमम्। अवलोमम्। 'कृष्णोदक्पाण्डुसंख्यापूर्वाया भूमेरजिष्यते' (वा० ५०४६) कृष्णभूमः। उदग्भूमः। पाण्डुभूमः। द्विभूमः प्रासादः। 'संख्याया नदीगोदावरीभ्यां च' (वा० ५०४७)। पञ्चनदम्। सप्तगोदावरम्। अच् इति योगविभागादन्यत्रापि। पद्मनाभः।

अनु०—प्रति, अनु, अव पूर्व होने पर सामन् और लोमन् शब्दों से समासान्त अच् प्रत्यय होता है। प्रतिसामम्—रुखाई से। अनुसामम्—सौहार्द से। अवसामम्—असज्जनता से। प्रतिलोमम्—उलटी तरह से, प्राकृतिक नियम के विरुद्ध। अनुलोमम्-नियमानुकूल। 'कृष्ण, उदच्, पाण्डु अथवा संख्यावाचक शब्द पूर्व होने पर भूमि शब्द से अच् प्रत्यय होता है।' कृष्णभूमः—जिस महल की भूमि काली हो। उदग्भूमः—जिस महल की भूमि उत्तर की ओर झुकी हो। पाण्डुभूमः—जिस महल की भूमि सफेद हो। द्विभूमः प्रासादः—जिस महल में दो फर्श हों, दो मञ्जिल का महल। 'संख्यावाचक शब्द पूर्व होने पर नदी अथवा गोदावरी शब्द से समासान्त अच् प्रत्यय होता है।' पञ्चनदम्—जिस देश में पाँच नदियाँ हों, पंजाब। सप्तगोदावरम्—जिस देश में सात गोदावरी हों। 'अच्' इस योग विभाग से अन्य शब्दों से भी समासान्त अच् हो सकता है। पद्मनाभः—जिसकी नाभि में कमल हो, विष्णु।

रूपसिद्धिः

प्रतिसामम्—प्रतिगतं साम (प्रति सामन् सु) इस विग्रह में समासादि पूर्ववत्। प्रतिसामन् इस स्थिति में 'अच्प्रत्यन्वव०'[१४१] (५.४.७५) सूत्र से अच्। 'नस्तद्धिते'[६०९] (६.४.१४४) से टि लोप। विभक्त्यादि कार्य होने पर प्रतिसामम्।

इसी प्रकार अनुसामम्, अवसामम् रूप बनते हैं।

प्रतिलोमम्—प्रतिगतं लोम (प्रति लोमन् सु) इस विग्रह में समासादि पूर्ववत्। प्रति लोमन् इस स्थिति में 'अच्प्रत्यन्वव०'[१४१] (५.४.७५) से अच्। टिलोप। नपुंसक-लिङ्ग प्रथमा एकवचन में प्रतिलोमम्। इसी प्रकार अनुलोमम्, अवलोमम् रूप बनते हैं।

कृष्णभूमः—कृष्णा भूमिः यस्य इस विग्रह में समासादि पूर्ववत्। 'स्त्रियाः पुंवत्०'[६१३] (६.३.३४) से भाषितपुंस्क 'कृष्णा' शब्द को पुंवद्भाव। 'कृष्णोदक्०' (वा० ५०४६) से अच् (कृष्ण भूमि अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से 'इ' का लोप। विभक्ति-कार्य होने पर कृष्णभूमः।

इसी प्रकार उदग्भूमः, पाण्डुभूमः, द्विभूमः रूप बनते हैं।

पञ्चनदम्—पञ्चानां नदीनां समाहारः इस विग्रह में समासादि पूर्ववत्। 'संख्याया नदीगोदावरीभ्याञ्च' (वा० ५०४७) से अच् (पञ्च नदी अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से ई लोप (पञ्च नद)। नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में पञ्चनदम्।

सप्तगोदावरम्—सप्तानां गोदावरीणां समाहारः इस विग्रह में समासादि पूर्ववत्। 'संख्याया नदी०' (वा० ५०४७) से अच् (सप्त गोदावरी अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से ई लोप (सप्त गोदावर)। नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में सप्तगोदावरम्।

पद्मनाभः—पद्म नाभौ यस्य इस विग्रह में समासादि पूर्ववत्। 'अच् प्रत्यन्वव०'[९४३] (५.४.७५) इस सूत्र में स्थित 'अच्' के योगविभाग से अच् (पद्मनाभि अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से इकार लोप (पद्मनाभ)। पुंल्लिङ्ग के प्रथमा एकवचन में पद्मनाभः।

९४४. अक्ष्णोऽदर्शनात् (५.४.७६)

अचक्षुःपर्यायादक्ष्णोऽन्स्यात्समासान्तः। गवामक्षीव गवाक्षः।

अनु०—जब अक्षि शब्द 'आँख' अर्थ का वाचक नहीं होता तब उससे समासान्त अच् प्रत्यय होता है। गवाक्षः—मकान में प्रकाश के लिए छिद्र, खिड़की, झरोखा।

रूपसिद्धिः

गवाक्षः—गवाम् अक्षि इव इस विग्रह में समासादि पूर्ववत्। गो अक्षि इस स्थिति में 'अक्ष्णो०'[९४४] (५.४.७६) से समासान्त अच् (गो अक्षि अ)। 'एचोऽय०'[६१] (६.१.७८) से ओ को अव् (गवाक्षि अ)। 'यस्येति च'[३११] (६.४.१४८) से इ लोप (गवाक्ष)। पुंल्लिङ्ग के प्रथमा एकवचन में गवाक्षः।

९४५. अचतुरविचतुरसुचतुरस्त्रीपुंसधेन्वनडुहर्क्सामवाङ्मनसाक्षिभ्रुवदारगवोर्वष्ठीवपदष्ठीवनक्तन्दिवरात्रिन्दिवाहर्दिवसरजसनिःश्रेयसपुरुषायुषद्व्यायुषत्र्यायुषर्ग्यजुषजातोक्षमहोक्षवृद्धोक्षोपशुनगोष्ठश्वाः (५.४.७७)

एते पञ्चविंशतिरजन्ता निपात्यन्ते। आद्यास्त्रयो बहुव्रीहयः। अविद्यमानानि चत्वारि यस्य अचतुरः। विचतुरः। सुचतुरः। 'द्व्युपाभ्यां चतुरोऽजिष्यते' (वा० ३३५१)। त्रिचतुराः। चतुर्णां समीपे ये सन्ति ते उपचतुराः। तत एकादश द्वन्द्वाः। स्त्रीपुंसौ। धेन्वनडुहौ। ऋक्सामे। वाङ्मनसे। अक्षिणी च भ्रुवौ च अक्षिभ्रुवम्। दाराश्च गावश्च दारगवम्। ऊरू च अष्ठीवन्तौ च ऊर्वष्ठीवम्। निपातनाट्टिलोपः। पदष्ठीवम्। निपातनात्पादशब्दस्य पद्भावः। नक्तं च दिवा च नक्तन्दिवम्। रात्रौ च दिवा च रात्रिन्दिवम्। रात्रेर्मान्तत्वं निपात्यते। अहनि च दिवा चाहर्दिवम्। वीप्सायां द्वन्द्वो निपात्यते। अहन्यहनीत्यर्थः। सरजसमिति साकल्येऽव्ययीभावः। बहुव्रीहौ तु सरजः

पङ्कजम् । निश्चितं श्रेयो निःश्रेयसम् । तत्पुरुष एव । नेह । निःश्रेयान्पुरुषः । पुरुषस्यायुः पुरुषायुषम् । ततो द्विगुः । द्व्यायुषम् । त्र्यायुषम् । ततो द्वन्द्वः । ऋग्यजुषम् । ततस्त्रयः कर्मधारयाः । जातोक्षः । महोक्षः । वृद्धोक्षः । शुनः समीपमुपशुनम् । टिलोपाभावः सम्प्रसारणं च निपात्यते । गोष्ठे श्वा गोष्ठश्वः ।

अनु०—इन पच्चीस अजन्त शब्दों का निपातन होता है। पहले तीन बहुव्रीहि हैं। अचतुरः—जिसके पास चार न हों। विचतुरः—जिसके चार नष्ट हो गये या चले गये हों। सुचतुरः—जिसके चार सुन्दर हों। 'त्रि अथवा उप शब्दों से परे चतुर् शब्द से अच् होता है।' त्रिचतुराः—जिसके पास तीन या चार हों। उपचतुराः—चार के लगभग, तीन या पाँच। अचतुर, विचतुर, सुचतुर—इन तीन बहुव्रीहि समासों के बाद स्त्रीपुंसधेन्वनडुह आदि ग्यारह द्वन्द्व समास हैं। स्त्रीपुंसौ—स्त्री और पुरुष। धेन्वनडुहौ—गाय और बैल। ऋक्सामे—ऋग्वेद और सामवेद। वाङ्मनसे—वाणी और मन। अक्षिभ्रुवम्—आँख और भौंह। दारगवम्—भार्या और गायें। ऊर्वष्ठीवम्-जाँघे तथा घुटने। (ऊर्वष्ठीवम् में) निपातन से टि लोप हुआ है। पदष्ठीवम्—पाँव तथा घुटने। निपातन से पाद शब्द को पद भाव हुआ है। नक्तन्दिवम्—रात दिन। रात्रिन्दिवम्—रात दिन। रात्रि शब्द में मान्तत्व निपातन से हुआ है। अहर्दिवम्—रात दिन। वीप्सा अर्थ में द्वन्द्व समास निपातित हुआ है। अर्थ है—अहनि अहनि। सरजसम् में साकल्य अर्थ में अव्ययीभाव समास हुआ है। बहुव्रीहि समास होने पर सरजः पङ्कजम्। निःश्रेयसम्—परम कल्याण। (निःश्रेयस शब्द से) तत्पुरुष में ही अच् प्रत्यय होता है, अन्यत्र नहीं। निःश्रेयान्पुरुषः—परम कल्याण वाला पुरुष। पुरुषायुषम्—पुरुष की आयु तक। स्त्रीपुंसधेन्वनडुह आदि ग्यारह द्वन्द्व समास के बाद द्व्यायुष, त्र्यायुष—ये दो द्विगु समास हैं। द्व्यायुषम्—दो पुरुषों की आयु तक। त्र्यायुषम्—तीन पुरुषों की आयु तक। तत्पश्चात् द्वन्द्व समास है। ऋग्यजुषम्—ऋग्वेद और यजुर्वेद। इसके पश्चात् तीन कर्मधारय हैं। जातोक्षः—युवा बैल। महोक्षः—बड़ा बैल। वृद्धोक्षः—बूढ़ा बैल। उपशुनम्—कुत्ते के पास। (उपशुनम् में) टि लोप का अभाव और सम्प्रसारण निपातन से हुआ है। गोष्ठश्वः—गो शाला में बैठा हुआ कुत्ता, जो अकारण दूसरों को भौंकता है। जो व्यक्ति अकर्मण्य रहकर दूसरों की निन्दा किया करता है उसके लिए प्रयुक्त।

९४६. ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः (५.४.७८)

अच्स्यात् । ब्रह्मवर्चसम् । हस्तिवर्चसम् । 'पल्यराजभ्यां चेति वक्तव्यम्' (वा० ३३५२) । पल्यवर्चसम् । राजवर्चसम् ।

अनु०—ब्रह्मन् अथवा हस्तिन् शब्द के साथ वर्चस् शब्द के समास में ब्रह्मवर्चस् और हस्तिवर्चस् शब्दों से अच् प्रत्यय होता है। ब्रह्मवर्चसम्—तप से उत्पन्न ब्राह्मण का तेज। हस्तिवर्चसम्—हाथी का बल। 'पल्य अथवा राजन् शब्द के उत्तरवर्ती

वर्चस् शब्द से अच् हो ।' पल्यवर्चसम्—मांसाहारी का बल । राजवर्चसम्—राजा की शक्ति ।

रूपसिद्धिः

ब्रह्मवर्चसम्—'ब्रह्मणो वर्चः' इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष समास । प्रातिपदिक संज्ञा । सुप् का लोप । ब्रह्मन् वर्चस् इस स्थिति में 'नलोपः०'[२३६] (८.२.७) से 'न्' का लोप । 'ब्रह्महस्तिभ्यां०'[९४६] (५.४.७८) से अच् (ब्रह्मवर्चसम् अ) । नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में ब्रह्मवर्चसम् । इसी प्रकार हस्तिवर्चसम् रूप बनता है ।

पल्यवर्चसम्—पल्यस्य वर्चः इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष समास । प्रातिपदिक संज्ञा । सुप् का लोप । 'पल्यराजभ्यां चेति वक्तव्यम्' (वा० ३३५२) इस वार्त्तिक से अच् (पल्य वर्चस् अ) । नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में पल्यवर्चसम् । इसी प्रकार राजवर्चसम् रूप बनता है ।

९४७. अवसमन्धेभ्यस्तमसः (५.४.७९)

अवतमसम् । सन्तमसम् । अन्धयतीत्यन्धम्, पचाद्यच्, अन्धं तमोऽन्धतमसम् ।

अनु०—(अव, सम्, अन्ध इनके परवर्ती तमस् शब्द से अच् हो ।) अवतमसम्—साधारण अन्धकार । सन्तमसम्—अधिक अन्धकार । अन्धयतीति अन्धम् । 'नदि-ग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (सू० २८९६) से पचादि होने के कारण अच् हुआ है । अन्धतमसम्—अन्धा बना देने वाला घोर अन्धकार ।

रूपसिद्धिः

अवतमसम्—अवहीनं तमः इस विग्रह में प्रादि समास । प्रातिपदिक संज्ञा । सुप् का लोप । 'अवसमन्धेभ्यस्तमसः'[९४७] (५.४.७९) से अच् (अवतमस् अ) । नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में अवतमसम् । इसी प्रकार सन्तमसम्, अन्धतमसम् रूप बनते हैं ।

९४८. श्वसो वसीयःश्रेयसः (५.४.८०)

वसुशब्दः प्रशस्तवाची तत ईयसुनि वसीयः । श्वस्शब्द उत्तरपदार्थप्रशंसामाशीर्विषय-माह । मयूरव्यंसकादित्वात्समासः । श्वोवसीयसम् । श्वःश्रेयसं ते भूयात् ।

अनु०—(श्वस् शब्द के परवर्ती वसीयस् और श्रेयस् शब्द से अच् प्रत्यय हो ।) प्रशंसार्थक वसु शब्द से ईयसुन् (ईयस्) प्रत्यय आ जाने पर ('टे': से टि का लोप होने पर) वसीयः रूप बनता है । श्वस् शब्द के प्रयोग से उत्तरपद बोध्य प्रशंसा का आश्वासन मिलता है ।

'मयूरव्यंसकादयश्च' सूत्र से समास होता है । श्वोवसीयसम्—भावी कल्याण । श्वःश्रेयसं ते भूयात्—कल तुम्हारा परम कल्याण हो ।

रूपसिद्धिः

श्वोवसीयसम्—श्वो वसीयः इस विग्रह में 'मयूरव्यंसकादयश्च'[१७५] (२.१.७२) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। 'श्वसो०'[१७८] (५.४.८०) से अच् (श्वोवसीयस् अ)। नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में श्वोवसीयसम्। इसी प्रकार श्वःश्रेयसम् रूप बनता है।

९४९. अन्ववतप्ताद्रहसः (५.४.८१)

अनुरहसम्। अवरहसम्। तप्तरहसम्।

अनु०—(अनु, अव, तप्त इन शब्दों के परवर्ती रहस् शब्द से अच् प्रत्यय होता है।) अनुरहसम्—एकान्त, निर्जन स्थान। अवरहसम्—कुछ अधिक एकान्त, निर्जन स्थान। तप्तरहसम्—एकान्त निर्जन स्थान।

रूपसिद्धिः

अनुरहसम्—अनुगतं रहः इस विग्रह में प्रादि तत्पुरुष समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। 'अन्ववतप्ताद्रहसः'[१७९] (५.४.८१) इस सूत्र से अच् (अनु रहस् अ)। नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में अनुरहसम्। इसी प्रकार अवरहसम्, तप्तरहसम् रूप बनते हैं।

९५०. प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात् (५.४.८२)

उरसि प्रति प्रत्युरसम्। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः।

अनु०—(सप्तम्यर्थद्योतक प्रति के परवर्ती उरस् शब्द से अच् प्रत्यय होता है।) प्रत्युरसम्—वक्षःस्थल के विरुद्ध। विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव समास हुआ है।

रूपसिद्धिः

प्रत्युरसम्—उरसि प्रति—इस विग्रह में विभक्ति के अर्थ में अव्ययीभाव समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। प्रति उरस् इस स्थिति में 'प्रतेरुरसः'[१८०] (५.४.८२) से अ (प्रति उरस् अ)। नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में प्रत्युरसम्।

९५१. अनुगवमायामे (५.४.८३)

एतन्निपात्यते दीर्घत्वे। अनुगवँ यानम्। 'यस्य चायामः' (सू० ६७०) इति समासः।

अनु०—दीर्घत्व द्योत्य होने पर (अनुगवम् शब्द का) निपातन होता है। (अर्थात् अनुपूर्वक गो शब्द से अच्प्रत्यय का निपातन होता है।) अनुगवं यानम्—वह सवारी जो लम्बाई में बैलों के बराबर हो। 'यस्य चायामः' (सू० ६७०) इस सूत्र से समास होता है।

रूपसिद्धिः

अनुगवम्—गोः अनु इस विग्रह में 'यस्य चायामः'[६७०] (२.१.१६) इस सूत्र से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। अनु की उपसर्जन संज्ञा और उसका पूर्व प्रयोग (अनु गो)। 'अनुगवमायामे'[६५१] (५.४.८३) से अच् प्रत्यय का निपातन (अनु गो अ)। 'एचोऽय०'[६१] (६.१.७८) से ओ को अवादेश (अनुगव)। नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में अनुगवम्।

६५२. द्विस्तावा त्रिस्तावा वेदिः (५.४.८४)

अच्प्रत्ययष्टिलोपः समासश्च निपात्यते। यावती प्रकृतौ वेदिस्ततो द्विगुणा त्रिगुणा वा अश्वमेधादौ तत्रेदं निपातनम्। वेदिरिति किम्—द्विस्तावती त्रिस्तावती रज्जुः।

अनु०—(यदि एक वेदि अन्य वेदि की अपेक्षा दुगुनी व तिगुनी हो तब 'दुगुनी' व 'तिगुनी' इस अर्थ के वाचक द्विस्तावा और त्रिस्तावा इन पदों में) अच् प्रत्यय, टिलोप और समास का निपातन होता है। प्रकृति में जितनी बड़ी वेदि विहित है, उसकी अपेक्षा दुगुनी अथवा तिगुनी अश्वमेधादि में होती है, वहां यह निपातन है। 'वेदिः' ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि वेदि से भिन्न अर्थ में पूर्वोक्त रूप नहीं होते हैं। (जैसे—) द्विस्तावती, त्रिस्तावती रज्जुः—दुगुनी अथवा तिगुनी बड़ी रस्सी।

व्याख्या—वेदिरिति किमिति। 'द्विस्तावा त्रिस्तावा वेदिः' (५.४.८४) इस सूत्र से यज्ञ वेदि के लिए प्रयुक्त 'द्विस्तावा' 'त्रिस्तावा' पदों में समास, अच् और टिलोप होता है। किन्तु यदि ये पद वेदि के लिए प्रयुक्त न होकर रस्सी अथवा किसी अन्य पदार्थ के लिए प्रयुक्त हुए हों तब समास, अच् और टिलोप नहीं होते। द्विस्तावती त्रिस्तावती रज्जुः। इस वाक्य में द्विस्तावती, त्रिस्तावती पद समस्त नहीं हैं।

रूपसिद्धिः

द्विस्तावा—द्वे तावती इस विग्रह में 'द्विस्तावा०'[६५२] (५.४.८४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्'[२०८६] (५.४.१८) इस सूत्र से द्वि शब्द से सुच् (स्) (द्विस् तावती)। 'द्विस्तावा०'[६५२] (५.४.८४) से अच् (द्विस्तावती अ)। 'भस्याढे तद्धिते' (वा० ३९२८) से पुंवद्भाव (द्विस्तावत् अ)। 'द्विस्तावा०'[६५२] (५.४.८४) से टि लोप (द्विस्ताव)। स्त्रीलिङ्ग प्रथमा एकवचन में द्विस्तावा। इसी प्रकार त्रिस्तावा रूप बनता है।

६५३. उपसर्गादध्वनः (५.४.८५)

प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः।

अनु०—(उपसर्गपूर्वक अध्वन् शब्द से समास में अच् प्रत्यय होता है।) प्राध्वो रथः—जिस रथ में रस्सी आदि बंध चुकी हो और वह सवारी के लिए सड़क पर पहुंच गया हो।

रूपसिद्धिः

प्राध्वः—प्रगतः अध्वानम् इस विग्रह में प्रादि समास। प्रातिपदिक सज्ञा। सुप् का लोप। 'उपसर्गाद्०'[९५३] (५.४.८५) से अच् (प्र अध्वन् अ)। 'नस्तद्धिते'[६७९] (६.४.१४४) से टि लोप (प्र अध्व)। दीर्घ (प्राध्व)। पुंल्लिङ्ग प्रथमा एकवचन में प्राध्वः।

९५४. न पूजनात् (५.४.६९)

पूजनार्थात्परेभ्यः समासान्ता न स्युः। सुराजा। अतिराजा। 'स्वतिभ्यामेव' (वा० ३३४६) नेह—परमराजः। पूजनात् किम्—गामतिक्रान्तोऽतिगवः। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः—'(सू० ८५२) इत्यतः प्रागेवायं निषेधः। नेह—सुसक्थः, स्वक्षः।

अनु०—पूजनार्थक पदों के परवर्ती शब्दों से समासान्त प्रत्यय न हों। सुराजा—उत्तम राजा। अतिराजा—सर्वश्रेष्ठ राजा। 'पूजनार्थक पद सु और अति के उत्तरवर्ती शब्द से समासान्त का निषेध होता है, अन्यत्र नहीं। परमराजः—श्रेष्ठ राजा। (सूत्र में) 'पूजनात्' ऐसा क्यों कहा ? (इसलिए कि यदि पूर्वपद पूजनार्थक नहीं तब समासान्त का निषेध न हो। जैसे—) अतिगवः—जो बैल से भी बढ़कर हो, महामूर्ख। 'न पूजनात्' इस सूत्र से प्राप्त समासान्त निषेध 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०' (सू० ८५२) इस सूत्र से पूर्व ही प्रवृत्त होता है, पश्चात् नहीं। अतः सुसक्थः (सुन्दर जांघ वाला व्यक्ति), स्वक्षः (सुन्दर आंख वाला)—इन प्रयोगों में समासान्त षच् का निषेध नहीं हुआ।

व्याख्या—स्वस्तिभ्यामेवेति। 'न पूजनात्'[९५४] (५.४.६९) इस सूत्र से पूजनार्थक पद के उत्तरवर्ती शब्द से समासान्त का निषेध होता है जब पूजनार्थक पद सु और अति ही हों, अन्यत्र नहीं। अतः परमराजः इस समस्त पद में जहां पूर्वपद सु और अति से भिन्न है 'न पूजनात्'[९५४] (५.४.६९) इस सूत्र से प्राप्त समासान्तनिषेध चरितार्थ नहीं होता।

पूजनात्किमिति। 'न पूजनात्'[९५४] (५.४.६९) इस सूत्र में पूजनार्थक पद के उत्तरवर्ती शब्द से समासान्त का निषेध कहा है। किन्तु यदि पूर्वपद पूजनार्थक नहीं तब समस्तपद से समासान्त का निषेध नहीं होता। अतः 'अतिगवः' इस पद में समासान्त टच् का निषेध नहीं हुआ।

बहुव्रीहौ इति। 'न पूजनात्'[९५४] (५.४.६९) इस सूत्र से प्राप्त समासान्तनिषेध 'बहुव्रीहौ'[८५२] (५.४.११३) इस सूत्र से पूर्व ही प्रवृत्त होता है, पश्चात् नहीं। अतः सुसक्थः, स्वक्षः इन प्रयोगों में 'बहुव्रीहौ०'[८५२] (५.४.११३) इस सूत्र से समासान्त पच् प्रत्यय हुआ है।

रूपसिद्धिः

सुराजा—शोभनो राजा इस विग्रह में प्रादि समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। यहां 'राजाहः०'[७८८] (५.४.९१) से टच् प्राप्त था, 'न पूजनात्'[९५४] (५.४.६९)

से उसका निषेध हुआ है। प्रथमा एकवचन में सु (सु राजन् सु)। उपधादीर्घ। सुलोप। नलोप। सुराजा।

इसी प्रकार अतिराजा रूप बनता है।

९५५. किमः क्षेपे (५.४.७०)

क्षेपे यः किंशब्दस्ततः परं यत्तदन्तात्समासान्ता न स्युः। कुत्सितो राजा किंराजा। किंसखा। किंगौः। क्षेपे किम्—किंराजः, किंसखः किंगवः।

अनु०—निन्दार्थक 'किं' पद के उत्तरवर्ती शब्द से समासान्त प्रत्यय न हों। किंराजा—बुरा राजा, कैसा राजा? किंसखा—बुरा मित्र, कैसा मित्र? किंगौः—बुरा बैल, कैसा बैल? (सूत्र में) 'क्षेपे' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि निन्दार्थक 'किं' पद के न होने पर उत्तरवर्ती शब्द से समासान्त प्रत्यय का निषेध न हो। जैसे—) किंराजः—किसका राजा? किंसखः—किसका मित्र? किंगवः—किसका बैल?

रूपसिद्धिः

किंराजा—कुत्सितो राजा इस अस्वपद विग्रह में 'किं क्षेपे'[७४१] (२.१.६४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। यहां 'राजाहः'[७८८] (५.४.९१) से टच् प्राप्त था, 'किमः क्षेपे'[९५५] (५.४.७०) से उसका निषेध हुआ है। किंराजन् इस स्थिति में प्रथमा एकवचन में सु। उपधादीर्घ। सुलोप। नलोप। किंराजा।

किंसखा—कुत्सितः सखा इस अस्वपद विग्रह में 'किं क्षेपे'[७४१] (२.१.६४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। यहां 'राजाहः०'[७८८] (५.४.९१) से टच् प्राप्त था, 'किमः क्षेपे'[९५५] (५.४.७०) से उसका निषेध हुआ है। किं सखि इस स्थिति में 'अनङ् सौ'[२४८] (७.१.९३) से सखि की 'इ' को अनङ् (अन्)। प्रथमा एकवचन में सु (किं सखन् सु)। उपधादीर्घ। सुलोप। नलोप। किंसखा।

किंगौः—कुत्सितः गौः इस अस्वपद विग्रह में 'किं क्षेपे'[७४१] (२.१.६४) से समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। 'गोरतद्धितलुकि'[७२९] (५.४.९२) से टच् प्राप्त था, 'किमः क्षेपे'[९५५] (५.४.७०) से उसका निषेध हुआ है। प्रथमा एकवचन में किंगौः।

किंराजः, किंसखः, किंगवः—इन प्रयोगों में जहाँ किम् शब्द प्रश्नार्थक है, समासान्त टच् हो जाता है।

९५६. नञ्स्तत्पुरुषात् (५.४.७१)

समासान्तो न। अराजा। असखा। तत्पुरुषात् किम्—अधुरं शकटम्।

अनु०—नञ् तत्पुरुष से समासान्त टच् न हो। अराजा—जो राजा न हो। असखा—जो मित्र न हो। (सूत्र में) 'तत्पुरुषात्' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि जहां नञ् तत्पुरुष समास न हो वहां समासान्त निषेध न हो। जैसे—) अधुरं शकटम्—बिना जुए की गाड़ी।

व्याख्या—तत्पुरुषात् किमिति । 'नञ्स्तत्पुरुषात्'[१५६] (५.४.७१) इस सूत्र में तत्पुरुष पद का समावेश नञ् बहुव्रीहि में समासान्त निषेध के निवारणार्थ किया गया है। अतः अधुरं (शकटम्)—अविद्यमाना धूर्यस्य। इस विग्रह में नञ् बहुव्रीहि समास हुआ है। यहां अधुर पद में 'ऋक्पू०'[१४०] (५.४.७४) इस सूत्र से प्राप्त समासान्त 'अ' का निषेध नहीं होता है।

अराजा, असखा में नञ् तत्पुरुष समास हुआ है। अतः यहां 'राजाहः०'[७८८] (५.४.९१) से प्राप्त टच् का निषेध हुआ है।

९५७. पथो विभाषा (५.४.७२)

नञ्पूर्वात्पथो वा समासान्तः । अपथम्, अपन्थाः । तत्पुरुषाद् इत्येव, अपथो देशः, अपथं वर्तते ।

अनु०—नञ् पूर्वक पथिन् शब्द से विकल्प से समासान्त प्रत्यय हो। अपथम्, अपन्थाः—मार्ग का अभाव। (नञ् पूर्वक पथिन् शब्द से वैकल्पिक समासान्त प्रत्यय) तत्पुरुष समास में ही होता है, अन्यत्र नहीं। अपथो देशः—जिस देश में मार्ग न हो। अपथं वर्तते—मार्ग का अभाव है।

रूपसिद्धिः

अपथम्, अपन्थाः—न पन्थाः इस विग्रह में नञ्तत्पुरुष समास। प्रातिपदिक संज्ञा। सुप् का लोप। 'नलोपो०'[७५७] (६.३.७३) से न् का लोप (अपथिन्)। 'ऋक्पू०'[१४०] (५.४.७४) से नित्य 'अ' प्राप्त था उसे बाधित करके 'पथो विभाषा'[१५७] (५.४.७२) से वैकल्पिक 'अ' प्राप्त हुआ (अपथिन् अ)। 'नस्तद्धिते'[६७९] (६.४.१४४) से टि लोप (अपथ)। 'पथः सङ्ख्याव्ययादेः' (वा० १५५४) से नपुंसकलिङ्ग। प्रथमा एकवचन में अपथम्। वैकल्पिक समासान्त 'अ' न होने पर अपन्थाः।

अपथः (देशः)—अविद्यमानः पन्था यस्य इस विग्रह में नञ् बहुव्रीहि समास। यहां 'ऋक्पू०'[१४०] (५.४.७४) इस सूत्र से नित्य समासान्त 'अ' प्रत्यय हुआ है। पुंल्लिङ्ग प्रथमा एकवचन में अपथः।

अपथं (वर्तते)—पथोऽभावः इस विग्रह में अभावार्थ में 'अव्ययं विभक्ति०'[६५२] (२.१.६) से अव्ययीभाव समास। यहां 'ऋक्पूर०'[१४०] (५.४.७४) से नित्य समासान्त 'अ' प्रत्यय हुआ है। नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में अपथम्।

इति सर्वसमासान्तप्रकरणम्

अलुक्समासप्रकरणम्

९५८. अलुगुत्तरपदे (६.३.१)

अलुगधिकारः प्रागानङः, उत्तरपदाधिकारस्त्वापादसमाप्तेः ।

अनु०—(उत्तरपद परे रहते पूर्वपद की विभक्ति का लोप नहीं होता।) 'आनङृतो द्वन्द्वे' इस सूत्र तक अलुक् का अधिकार है। उत्तरपद का अधिकार (तृतीय) पाद की समाप्ति तक है।

९५९. पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः (६.३.२)

एभ्यः पञ्चम्या अलुक्स्यादुत्तरपदे । स्तोकान्मुक्तः । एवमन्तिकार्थदूरार्थकृच्छ्रेभ्यः । उत्तरपदे किम्—निष्क्रान्तः स्तोकान्निस्स्तोकः । 'ब्राह्मणाच्छंसिन उपसंख्यानम्' (वा० ३८७८) ब्राह्मणे विहितानि शस्त्राण्युपचाराद् ब्राह्मणानि, तानि शंसतीति ब्राह्मणाच्छंसी ऋत्विग्विशेषः । द्वितीयार्थे पञ्चमी उपसंख्यानादेव ।

अनु०—उत्तरपद परे रहते स्तोक आदि शब्दों की पञ्चमी विभक्ति का लोप नहीं होता।

स्तोकान्मुक्तः—थोड़े से छूटा हुआ। इसी प्रकार उत्तरपद परे रहते समीप एवं दूर अर्थवाची पदों की और कृच्छ्र शब्द की पञ्चमी विभक्ति का लोप नहीं होता। 'अलुगुत्तरपदे' (सू० ९५८) इस सूत्र में 'उत्तरपदे' ऐसा क्यों कहा ? (इसलिए कि जहां उत्तरपद परे नहीं है वहां) निष्क्रान्तः स्तोकात्=निस्स्तोकः (थोड़े से निकला हुआ)। 'पञ्चमी की अलुग्विधि में 'ब्राह्मणाच्छंसी' पद की गणना करनी चाहिए।' ब्राह्मणाच्छंसी ऋत्विग्विशेषः—ब्राह्मणप्रोक्त शास्त्र का पारायण करने वाला ऋत्विग्विशेष। उपसंख्यान (गणना) के ही कारण द्वितीया के अर्थ में पञ्चमी विभक्ति हुई है।

व्याख्या—'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः'[९५९] (६.३.२) इस सूत्र के अनुसार उत्तरपद परे रहते स्तोक आदि शब्दों की पञ्चमी का लोप नहीं होता। जैसे—स्तोकान्मुक्तः—यहाँ उत्तरपद मुक्त परे रहते स्तोक की पञ्चमी विभक्ति का अलुक् हुआ है। इसी प्रकार अन्तिकादागतः, दूरादागतः, कृच्छ्रादागतः प्रयोगों में भी पञ्चमी विभक्ति का अलुक् हुआ है।

उत्तरपदे किम् ? 'अलुगुत्तरपदे'[९५८] (६.३.१) इस सूत्र में 'उत्तरपदे' का समावेश पूर्वपदस्थ पञ्चमी प्रत्यय के लोप का निषेध करने के लिए किया गया है। किन्तु यदि पञ्चमी प्रत्यय पूर्वपदस्थ न होकर उत्तरपदस्थ हो तब उसका लोप हो जाएगा। जैसे—निस्स्तोकः—निष्क्रान्तः स्तोकात्। इस विग्रह में 'स्तोकात्' पञ्चम्यन्त उत्तरपद है। अतः यहां 'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः'[९५९] (६.३.२) से पञ्चमी लोप का निषेध नहीं हुआ है।

ब्राह्मणाच्छंसी—ब्राह्मणे विहितानि शस्त्राण्युपचारात् ब्राह्मणानि, तानि शंसति।

यहाँ 'ब्राह्मणाच्छंसिन उपसंख्यानम्' (वा० ३८७८) से ब्राह्मण शब्द की पञ्चमी का अलुक् हुआ है।

९६०. ओजःसहोऽम्भस्तमसस्तृतीयायाः (६.३.३)

ओजसाकृतमित्यादि। 'अञ्जस उपसंख्यानम्' (वा० ३८८०)। अञ्जसाकृतम्। आर्जवेन कृतमित्यर्थः। 'पुंसानुजो जनुषान्ध इति च' (वा० ३८८१)। यस्याग्रजः पुमान् स पुंसानुजः। जनुषान्धो जात्यन्धः।

अनु०—(उत्तरपद परे रहते ओजस्, सहस्, अम्भस् और तमस् शब्दों की तृतीया का अलुक् हो।) ओजसाकृतम्—शक्ति से किया गया। 'अञ्जस् शब्द की तृतीया का अलुक् हो।' अञ्जसाकृतम्—ठीक प्रकार से किया गया। 'अनुज शब्द परे रहते पुंस् शब्द की और अन्ध शब्द परे रहते जनुष शब्द की तृतीया विभक्ति का अलुक् हो। पुंसानुजः—जिसका बड़ा भाई हो वह व्यक्ति। जनुषान्धः—जन्म से अन्धा।

९६१. मनसः संज्ञायाम् (६.३.४)

मनसागुप्ता।

अनु०—(उत्तरपद परे रहते संज्ञा अर्थ में मनस् शब्द की तृतीया विभक्ति का अलुक् होता है।) मनसागुप्ता—किसी व्यक्ति का नाम।

९६२. आज्ञायिनी च (६.३.५)

मनस इत्येव। मनसा ज्ञातुं शीलमस्य मनसाज्ञायी।

अनु०—(आज्ञायिन् शब्द परे रहते मनस् शब्द की तृतीया विभक्ति का अलुक् होता है।) मनसाज्ञायी—मन से जानने वाला।

९६३. आत्मनश्च (६.३.६)

आत्मनस्तृतीयाया अलुक्स्यात्। 'पूरण इति वक्तव्यम्' (वा० ३८८२) पूरणप्रत्ययान्ते उत्तरपद इत्यर्थः। आत्मनापञ्चमः 'जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव' इति बहुव्रीहिर्बोध्यः। पूरणे किम्—आत्मकृतम्।

अनु०—आत्मन् शब्द की तृतीया का अलुक् होता है। 'पूरणप्रत्ययान्त उत्तरपद परे रहते आत्मन् शब्द की तृतीया विभक्ति का अलुक् हो' ऐसा कहना चाहिए। आत्मनापञ्चमः—अपने को लेकर पाँचवां। 'जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थः' इस स्थल में 'आत्मा चतुर्थो यस्य' ऐसा बहुव्रीहि समास जानना चाहिए। 'पूरणे' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि पूरणप्रत्ययान्त उत्तरपद परे न रहते आत्मन् की तृतीया विभक्ति का लोप हो जाता है (जैसे—) आत्मकृतम्—अपने से किया गया।

९६४. वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः (६.३.७)

आत्मन इत्येव, आत्मनेपदम्, आत्मनेभाषा । तादर्थ्ये चतुर्थी । चतुर्थी इति योगविभागात्समासः ।

अनु०—(वैयाकरण सम्बन्धी संज्ञा होने पर) आत्मन् शब्द की चतुर्थी का अलुक् हो। आत्मनेपदम्, आत्मनेभाषा—व्याकरण का पारिभाषिक शब्दरूप का बोधक। क्रिया के एक रूप का बोधक ।

उपर्युक्त स्थल में तादर्थ्य में चतुर्थी विभक्ति हुई है । 'चतुर्थी तदर्थार्थ०' (सू० ६९८) इस सूत्र में 'चतुर्थी' इस योगविभाग से समास हुआ है।

९६५. परस्य च (६.३.८)

परस्मैपदम् । परस्मैभाषा ।

अनु०—व्याकरण की संज्ञा होने पर 'पर' शब्द की चतुर्थी विभक्ति का लोप नहीं होता । परस्मैपदम्, परस्मैभाषा—व्याकरण का पारिभाषिक शब्दरूप का बोधक। क्रिया के एक रूप का बोधक।

९६६. हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् (६.३.९)

हलन्तादन्ताच्च सप्तम्या अलुक्संज्ञायाम् । त्वचिसारः ।

अनु०—संज्ञा होने पर हलन्त और अकारान्त शब्दों की सप्तमी विभक्ति का अलुक् हो। त्वचिसारः—जिसकी त्वचा दृढ़ हो, बांस।

९६७. गवियुधिभ्यां स्थिरः (८.३.९५)

आभ्यां स्थिरस्य सस्य षः स्यात् । गविष्ठिरः । अत्र गवीति वचनादेवालुक् । युधिष्ठिरः । अरण्येतिलकाः । अत्र 'संज्ञायाम्' (सू० ७२१) इति सप्तमीसमासः । 'हृद्द्युभ्यां च (वा० ३८८५) हृदिस्पृक् । दिविस्पृक् ।

अनु०—गवि और युधि इन दो शब्दों से परे 'स्थिर' शब्द के सकार को 'ष' हो। गविष्ठिरः—आकाश में स्थिर रहने वाला, अत्रिकुल के एक ऋषि का नाम। इस सूत्र में 'गवि' ऐसा कहने से ही सप्तमी विभक्ति का अलुक् हुआ है । युधिष्ठिरः—युद्ध में स्थिर रहने वाला, पाण्डवों में सबसे बड़े भाई धर्मराज का नाम। अरण्येतिलकाः—जंगली तिल, जिनसे तेल नहीं निकलता। कोई निराशाजनक वस्तु । यहां 'संज्ञायाम्' (सू० ७२१) इस सूत्र से सप्तमी तत्पुरुष समास हुआ है । 'हृद् और दिव् शब्दों की सप्तमी का अलुक् हो ।' हृदिस्पृक्—हृदय स्पर्श करने वाला, प्रभावोत्पादक। दिविस्पृक्— आकाश छूने वाला, गगनचुम्बी ।

९६८. कारनाम्नि च प्राचां हलादौ (६.३.१०)

प्राचां देशे यत्कारनाम तत्र हलादावुत्तरपदे हलदन्तात्सप्तम्या अलुक्। मुकुटे-कार्षापणम्। दृषदिमाषकः। पूर्वेण सिद्धे नियमार्थम्, कारनाम्न्येव प्राचामेव, हलादावेवेति। कारनाम्नि किम्। अभ्याहितपशुः। कारादन्यस्यैतद्देशस्य नाम। प्राचां किम्—यूथपशुः। हलादौ किम्—अविकटोरणः। हलदन्तात् किम्— नद्यां दोहो नदीदोहः।

अनु०—पूर्व देश में जो कार नामक विशेष कर है वहां हलादि उत्तरपद परे हलन्त और अदन्त शब्दों की सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है। मुकुटेकार्षापणम्—प्राच्य भारत में प्रतिव्यक्ति लगने वाला एक कर। दृषदिमाषकः—प्राच्य भारत में प्रति चक्की लगने वाला एक कर। यद्यपि 'हलदन्तात् सप्तम्याः' (सू० ९६६) इस सूत्र से अलुक् सिद्ध है तथापि यह सूत्र नियम के निमित्त है। यदि प्राचीन देश–प्रसिद्ध कार नामक हलादि शब्द परे हो तभी हलन्त और अदन्त शब्दों की सप्तमी का अलुक् होता है। (सूत्र में)—'कारनाम्नि' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि कार नामक हलादि परे न रहते हलन्त अथवा अदन्त शब्दों की सप्तमी का अलुक् न हो (जैसे—) अभ्याहित-पशुः—प्राचीन भारत में दक्षिणा में आचार्य को दिया जाने वाला पशु। 'प्राचाम्' ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि प्राचीन देश कहने से 'यूथपशुः' (प्राच्य भारत के बारह पशु-समूह पर लगने वाला कर) इस स्थान में अलुक् नहीं हुआ। 'हलादौ' ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि हलादि कहने से 'अविकटोरणः' (प्राच्य भारत में भेड़ों के झुण्ड पर लगने वाला कर) में अलुक् नहीं हुआ। 'हलदन्तात्' ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि हलन्त और अदन्त कहने से नद्यां दोहः इस विग्रह में नदीदोहः (प्राच्य भारत में नदी पार करने के समय उस समय का दुहाव कर) में अलुक् नहीं हुआ।

९६९. मध्याद् गुरौ (६.३.११)

मध्येगुरुः। 'अन्ताच्च' (वा० ३८९४) अन्तेगुरुः।

अनु०—(गुरु शब्द परे रहते मध्य शब्द की सप्तमी विभक्ति का अलुक् हो।) मध्येगुरुः—मध्य में गुरु। 'गुरु शब्द परे रहते अन्त शब्द की सप्तमी का अलुक् हो।' अन्तेगुरुः—अन्त में गुरु।

९७०. अमूर्धमस्तकात्स्वाङ्गादकामे (६.३.१२)

कण्ठेकालः। उरसिलोमा। अमूर्धमस्तकात् किम्—मूर्धशिखः, मस्तकशिखः। अकामे किम्—मुखे कामोऽस्य मुखकामः।

अनु०—(काम शब्द से भिन्न शब्द परे रहते मूर्ध और मस्तक शब्द से भिन्न स्वाङ्गवाचक शब्द की सप्तमी का अलुक् हो।) कण्ठेकालः—जिसके गले में काला वर्ण हो। उरसिलोमा—जिसकी छाती पर बाल हों। (सूत्र में) 'अमूर्धमस्तकात्' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि मूर्ध और मस्तक शब्द की सप्तमी का लोप हो। जैसे—)

मूर्धशिखः—जिसके सिर पर चोटी हो। मस्तकशिखः—जिसके मस्तक पर चोटी हो। (सूत्र में) 'अकामे' ऐसा क्यों कहा ? (इसलिए कि काम शब्द परे रहते मूर्ध और मस्तक शब्द से भिन्न स्वाङ्गवाची शब्द की सप्तमी का लोप हो जाए। जैसे—) मुखकामः—जिसके मुख में काम हो।

९७१. बन्धे च विभाषा (६.३.१३)

हलदन्तात्सप्तम्या अलुक्। हस्तेबन्धः, हस्तबन्धः। हलदन्त इति किम्–गुप्तिबन्धः।

अनु०—बन्ध शब्द परे रहते हलन्त और अदन्त शब्दों की सप्तमी का विकल्प से अलुक् हो। हस्तेबन्धः, हस्तबन्धः—जिसके हाथ में बन्धन (हथकड़ी) हो। (सूत्र की वृत्ति में) 'हलदन्तात्' ऐसा क्यों कहा ? (इसलिए कि हलन्त और अदन्त शब्दों से भिन्न शब्दों की सप्तमी का लोप हो जाए। जैसे—) गुप्तिबन्धः—जो कारागार में पड़ा हो।

९७२. तत्पुरुषे कृति बहुलम् (६.३.१४)

स्तम्बेरमः, स्तम्बरमः। कर्णेजपः, कर्णजपः। क्वचिन्न—कुरुचरः।

अनु०—(तत्पुरुष समास में कृत्प्रत्ययान्त शब्द परे रहते हलन्त और अदन्त शब्दों की सप्तमी का बहुलता से अलुक् हो।) स्तम्बेरमः, स्तम्बरमः—जो घास के ढेर में सुख माने, हाथी। कर्णेजपः, कर्णजपः—कान में बात करने वाला, पिशुन, चुगलखोर। बहुलग्रहण से कहीं कहीं अलुक् नहीं होता। (जैसे—) कुरुचरः—कुरु देश में भ्रमण करने वाला।

९७३. प्रावृट्छरत्कालदिवां जे (६.३.१५)

प्रावृषिजः। शरदिजः। कालेजः। दिविजः। पूर्वस्यायं प्रपञ्चः।

अनु०—(ज शब्द परे रहते प्रावृट्, शरद्, काल, दिव्, इन शब्दों की सप्तमी का अलुक् हो।) प्रावृषिजः—वर्षा में उत्पन्न होने वाला, तूफान। शरदिजः—शरद् ऋतु में उत्पन्न होने वाला। कालेजः—उपयुक्त समय में उत्पन्न होने वाला। दिविजः—आकाश या स्वर्ग में उत्पन्न होने वाला। यह सूत्र पूर्व रूप का प्रपञ्च है।

९७४. विभाषा वर्षक्षरशरवरात् (६.३.१६)

एभ्यः सप्तम्या अलुग्जे। वर्षेजः, वर्षजः। क्षरेजः, क्षरजः। शरेजः, शरजः। वरेजः, वरजः।

अनु०—ज शब्द परे रहते वर्ष, क्षर, शर, वर इन शब्दों की सप्तमी का विकल्प से अलुक् हो। वर्षेजः, वर्षजः—वर्ष में उत्पन्न होने वाला। क्षरेजः, क्षरजः—अर्क खींचने से उत्पन्न, मेघ से उत्पन्न होने वाला। शरेजः, शरजः—सरकण्डे में उत्पन्न होने वाला, कार्त्तिकेय। वरेजः, वरजः—वरदान से उत्पन्न होने वाला।

९७५. घकालतनेषु कालनाम्नः (६.३.१७)

सप्तम्या विभाषयालुक्स्यात् । घ—पूर्वाह्णेतरे, पूर्वाह्णतरे । पूर्वाह्णेतमे, पूर्वाह्णतमे । काले—पूर्वाह्णेकाले, पूर्वाह्णकाले । तने—पूर्वाह्णेतने, पूर्वाह्णतने ।

अनु०—घसंज्ञक, काल शब्द और तन शब्द परे रहते कालवाचक शब्द की सप्तमी का विकल्प से अलुक् हो । (तरप् और तमप् प्रत्यय की घ संज्ञा है ।) घसंज्ञक शब्द परे होने पर—पूर्वाह्णेतरे, पूर्वाह्णतरे—अधिक पूर्वाह्ण में । पूर्वाह्णेतमे, पूर्वाह्णतमे—बिलकुल पूर्वाह्ण में । काल शब्द परे रहते—पूर्वाह्णेकाले, पूर्वाह्णकाले—पूर्वाह्ण के समय । तन शब्द परे रहते—पूर्वाह्णेतने, पूर्वाह्णतने—पूर्वाह्ण के समय ।

९७६. शयवासवासिष्वकालात् (६.३.१८)

खेशयः, खशयः । ग्रामेवासः । ग्रामवासः । ग्रामेवासी, ग्रामवासी । 'हलदन्तात्' इत्येव, भूमिशयः । 'अपो योनियन्मतुषु' (वा० ३८७६) । अप्सु योनिरुत्पत्तिर्यस्य सोऽप्सुयोनिः । अप्सु भवः अप्सव्यः । अप्सुमन्तावाज्यभागौ ।

अनु०—(शय, वास और वासिन् शब्द परे रहते कालवाचक शब्द से भिन्न शब्द की सप्तमी का विकल्प से अलुक् हो ।) खेशयः, खशयः—आकाश में सोने वाला । ग्रामेवासः, ग्रामवासः—गाँव में रहना । ग्रामेवासी, ग्रामवासी—गाँव में रहने वाला । 'हलदन्त शब्दों की सप्तमी का ही विकल्प से अलुक् हो' । भूमिशयः—भूमि पर सोना । (यहाँ अलुक् नहीं हुआ) । 'योनि शब्द, यत् प्रत्यय और मतुप् प्रत्यय परे रहते अप् शब्द की सप्तमी का अलुक् हो ।' अप्सुयोनिः—जिसकी उत्पत्ति जल में हो । अप्सव्यः—जल में होने वाला । अप्सुमन्तावाज्यभागौ—दो घृताहुतियाँ जिनके वितरण में 'अप्सु' मन्त्र का उच्चारण किया जाता है ।

९७७. नेन्सिद्धबध्नातिषु च (६.३.१९)

इन्नतादिषु सप्तम्या अलुग्न । स्थण्डिलशायी । सांकाश्यसिद्धः । चक्रबद्धः ।

अनु०—इन्प्रत्ययान्त सिद्ध शब्द और बन्धनार्थक बन्ध् धातु परे रहते सप्तमी का अलुक् न हो । स्थण्डिलशायी—यज्ञ भूमि पर सोने वाला तपस्वी । सांकाश्यसिद्धः—सांकाश्य में तैयार हुआ । चक्रबद्धः—पहिये में बँधा हुआ ।

९७८. स्थे च भाषायाम् (६.३.२०)

सप्तम्या अलुग्न । समस्थः । भाषायां किम्—कृष्णोऽस्या खरेष्ठः ।

अनु०—स्थ शब्द परे रहते भाषा में सप्तमी का अलुक् न हो । समस्थः—समतल भूमि पर स्थिर रहने वाला । 'भाषायाम्' ऐसा क्यों कहा ? (इसलिए कि भाषा न होने पर अलुक् होता है । जैसे—) कृष्णोऽस्याखरेष्ठः—इसका सारथि काले वर्ण का

है। (आखर=अश्वशाला; आखरेष्ठः=आखरे तिष्ठतीति=अश्वशाला में रहने वाला सारथि)।

९७९. षष्ठचा आक्रोशे (६.३.२१)

चौरस्य कुलम्। आक्रोशे किम्—ब्राह्मणकुलम्। 'वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेषु' (वा० ३८९७)। वाचोयुक्तिः। दिशोदण्डः। पश्यतोहरः। 'आमुष्यायणाऽऽमुष्यपुत्रिकाऽऽमुष्यकुलिकेति च' (वा० ३८९८–३८९९) अमुष्यापत्यमामुष्यायणः। नडादित्वात्फक्। अमुष्य पुत्रस्य भावः आमुष्यपुत्रिका। मनोज्ञादित्वाद्वुञ्। एवमामुष्यकुलिका। 'देवानांप्रिय इति च मूर्खे' (वा० ३९००)। अन्यत्र देवप्रियः। 'शेषपुच्छलाङ्गूलेषु शुनः' (वा० ३९०१)। शुनःशेपः। शुनःपुच्छः। शुनोलाङ्गूलः। 'दिवसश्च दासे' (वा० ३९०२) दिवोदासः।

अनु०—(आक्रोश अर्थात् निन्दा गम्यमान होने पर षष्ठी का अलुक् हो।) चौरस्यकुलम्—चोर का कुल। 'आक्रोशे' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि आक्रोश (निन्दा) न होने पर षष्ठी का अलुक् नहीं होता। जैसे—) ब्राह्मणकुलम्—ब्राह्मण का कुल। 'युक्ति, दण्ड और हर शब्द परे रहते वाच्, दिश् और पश्यत् शब्दों की षष्ठी का अलुक् हो'। वाचोयुक्तिः—वाणी की युक्ति। दिशोदण्डः—आकाश में तारों की दण्डाकार स्थिति। पश्यतोहरः—डाकू, जो स्वामी के सामने सम्पत्ति चुरा ले। 'आमुष्यायणः, आमुष्यपुत्रिका, आमुष्यकुलिका शब्दों का निपातन होता है।' अमुष्यापत्यम्' इस विग्रह में 'आमुष्यायणः' इस स्थल में नडादित्वप्रयुक्त फक् प्रत्यय हुआ है। 'अमुष्य पुत्रस्य भावः' इस विग्रह में 'आमुष्यपुत्रिका'। यहाँ मनोज्ञादित्व के कारण वुञ् प्रत्यय हुआ है। इसी प्रकार आमुष्यकुलिका। 'मूर्ख अर्थ होने पर 'देवानांप्रियः' इस स्थल में षष्ठी विभक्ति का अलुक् हो।' अन्यत्र (जहाँ मूर्ख अर्थ नहीं है वहाँ) देवप्रियः—जो देवों को प्रिय हो। 'शेप, पुच्छ और लाङ्गूल शब्द परे रहते श्वन् शब्द की षष्ठी विभक्ति का अलुक् हो। शुनःशेपः—एक ऋषि का नाम। शुनःपुच्छः—एक ऋषि का नाम। शुनोलाङ्गूलः—एक ऋषि का नाम। 'दास शब्द परे रहते दिव शब्द की षष्ठी विभक्ति का अलुक् हो।' दिवोदासः—काशी के एक प्राचीन राजा का नाम।

९८०. पुत्रेऽन्यतरस्याम् (६.३.२२)

षष्ठचाः पुत्रे परेऽलुग्वा निन्दायाम्। दास्याः पुत्रो दासीपुत्रः। निन्दायां किम्। ब्राह्मणीपुत्रः।

अनु०—निन्दा अर्थ होने पर पुत्र शब्द परे रहते षष्ठी विभक्ति का विकल्प से अलुक् हो। दास्याः पुत्रो दासीपुत्रः—दासी का पुत्र। 'निन्दायाम्' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि निन्दा गम्यमान न होने पर षष्ठी का अलुक् नहीं होता।) ब्राह्मणीपुत्रः—ब्राह्मणी का पुत्र।

६८१. ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः (६.३.२३)

विद्यासंबन्धयोनिसंबन्धवाचिन ऋदन्तात्षष्ठ्या अलुक्। होतुरन्तेवासी। होतुःपुत्रः। पितुरन्तेवासी। पितुःपुत्रः। 'विद्यायोनिसंबन्धेभ्यस्तत्पूर्वोत्तरपदग्रहणम्' (वा० ३९०३) नेह—होतृधनम्

अनु०—विद्यासम्बन्ध और योनिसम्बन्धवाचक ऋदन्त शब्द से परे षष्ठी का अलुक् हो। होतुरन्तेवासी—होता का छात्र। होतुःपुत्रः—होता का पुत्र। पितुरन्तेवासी—पिता का छात्र। पितुःपुत्रः—पिता का पुत्र। 'विद्या और योनिसम्बन्धवाचक ऋदन्त शब्दों की षष्ठी का विद्यायोनिसम्बन्धवाचक ही उत्तरपद परे रहते अलुक् हो। (अतः) होतृधनम्—होता का धन। (यहां षष्ठी का अलुक् नहीं हुआ)।

६८२. विभाषा स्वसृपत्योः (६.३.२४)

ऋदन्तात्षष्ठ्या अलुग्वा स्वसृपत्योः परयोः।

अनु०—स्वसृ और पति शब्द परे रहते ऋदन्त शब्दों की षष्ठी का वैकल्पिक अलुक् हो।

६८३. मातुःपितुर्भ्यामन्यतरस्याम् (८.३.८५)

आभ्यां स्वसुः सस्य षो वा स्यात्समासे। मातुःष्वसा, मातुःस्वसा। पितुःष्वसा, पितुःस्वसा। लुक्पक्षे तु—

अनु०—समास में मातृ शब्द और पितृ शब्द से परे जो स्वसृ शब्द, उसके सकार को वैकल्पिक षत्व हो। मातुःष्वसा, मातुःस्वसा—माता की बहिन, मौसी। पितुःष्वसा, पितुःस्वसा—पिता की बहिन, बूआ।

लुक्पक्षे तु—लुक् पक्ष में।

६८४. मातृपितृभ्यां स्वसा। (८.३.८४)

आभ्यां परस्य स्वसुः सस्य षः स्यात्समासे। मातृष्वसा। पितृष्वसा। असमासे तु—मातुःस्वसा, पितुःस्वसा।

अनु०—समास में मातृ और पितृ शब्द से परे स्वसृ शब्द के सकार को षत्व हो। मातृष्वसा—माता की बहिन, मौसी। पितृष्वसा—पिता की बहिन, बूआ। जहाँ समास नहीं होता वहाँ मातुःस्वसा और पितुःस्वसा रूप बनते हैं।

॥ इत्यलुक्समासप्रकरणम् ॥

समासाश्रयविधिप्रकरणम्

९८५. घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः (६.३.४३)

भाषितपुंस्काद्यो ङी तदन्तस्यानेकाचो ह्रस्वः स्याद्घरूपकल्पप्प्रत्ययेषु परेयेषु, चेलडादिषु चोत्तरपदेषु । ब्राह्मणितरा । ब्राह्मणितमा । ब्राह्मणिरूपा । ब्राह्मणिकल्पा । ब्राह्मणिचेली । ब्राह्मणिब्रुवा । ब्राह्मणिगोत्रा इत्यादि । ब्रूञ्: पचाद्यच्चि -पच्यादेश-गुणयोरभावोऽपि निपात्यते । चेलडादीनि वृत्तिविषये कुत्सनवाचीनि तैः 'कुत्सितानि कुत्सनैः' (सू० ७३२) इति समासः । ङ्यः किम्—दत्तातरा । भाषितपुंस्कात् किम्—आमलकीतरा, कुवलीतरा ।

अनु०—घसंज्ञक, रूपप् और कल्पप् प्रत्यय तथा चेलड्, ब्रुव, गोत्र, मत, हत, शब्दों के परे रहते भाषितपुंस्क शब्द से परे जो ङी तदन्त जो अनेकाच् उसको ह्रस्व हो । ब्राह्मणितमा—सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मणी । ब्राह्मणिरूपा—प्रशंसनीय ब्राह्मणी । ब्राह्मणिकल्पा—ब्राह्मणी के सदृश । ब्राह्मणिचेली—निन्दिता ब्राह्मणी । ब्राह्मणिब्रुवा—निन्दिता ब्राह्मणी । ब्राह्मणिगोत्रा—निन्दिता ब्राह्मणी आदि । 'ब्रुव' इस स्थल में ब्रूञ् धातु के उत्तर पचादित्व के कारण अच् प्रत्यय होने पर ब्रू धातु के स्थान में वच् आदेश और गुण का अभाव निपातन से सिद्ध हुआ है । वृत्तिविषय में चेलड् आदि शब्द निन्दावाची हैं । इन चेलडादि के साथ 'कुत्सितानि कुत्सनैः' (सू० ७३२) इस सूत्र से समास हुआ है । ङी कहने से दत्तातरा (अधिक दी हुई), इस स्थान में ह्रस्व नहीं हुआ । भाषितपुंस्क शब्द के उत्तर कहने से आमलकीतरा (उत्तम आँवले का वृक्ष), कुवलीतरा (उत्तम उन्नाव का वृक्ष)—यहां ह्रस्व नहीं हुआ ।

९८६. नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम् (६.३.४४)

अङ्यन्तनद्या ङ्यन्तस्यैकाचश्च घादिषु ह्रस्वो वा स्यात् । ब्रह्मबन्धुतरा, ब्रह्मबन्धूतरा । स्त्रितरा, स्त्रीतरा । 'कृन्नद्या न' (वा० ३९३८) । लक्ष्मीतरा ।

अनु०—घसंज्ञक प्रत्यय, रूपप् और कल्पप्प्रत्यय, चेलड्, ब्रुव, गोत्र, मत, हत, शब्द परे रहते अङ्यन्त नदीसंज्ञक शब्द को और ङ्यन्त एकाच् को विकल्प से ह्रस्व हो । ब्रह्मबन्धुतरा, ब्रह्मबन्धूतरा—केवल नाममात्र की ब्राह्मणी । स्त्रितरा, स्त्रीतरा—श्रेष्ठ स्त्री । 'कृत्प्रत्ययान्त नदीसंज्ञक शब्द को ह्रस्व न हो' । लक्ष्मीतरा—श्रेष्ठ लक्ष्मी ।

९८७. उगितश्च (६.३.४५)

उगितः परा या नदी तदन्तस्य घादिषु ह्रस्वो वा स्यात् । विदुषितरा । ह्रस्वाभावपक्षे तु 'तसिलादिषु—' (सू० ८३६) इति पुंवत् । विद्वत्तरा । वृत्त्यादिषु विदुषीतरा इत्यप्युदाहृतम्, तन्निर्मूलम् ।

अनु०—घ आदि परे रहते उगित् के परे जो नदीसंज्ञक शब्द तदन्त को विकल्प से ह्रस्व हो । विदुषितरा—अधिक विदुषी स्त्री । ह्रस्वाभाव पक्ष में 'तसिलादिषु०'

(सू० ८३६) इस सूत्र से पुंवद्भाव होता है। विद्वत्तरा—अधिक विदुषी स्त्री। वृत्त्यादि ग्रन्थ में 'विदुषीतरा' ऐसा भी उदाहरण है, किन्तु वह अमूलक है।

९८८. हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु (६.३.५०)

हृदयं लिखतीति हृल्लेखः। हृदयस्य प्रियं हृद्यम्। हृदयस्येदं हार्दम्। हृल्लासः। लेख इत्यणन्तस्य ग्रहणम्। घञि तु हृदयलेखः। लेखग्रहणं ज्ञापकम् 'उत्तरपदाधिकारे तदन्तविधिर्नास्ति' (प० २६) इति।

अनु०—(लेख शब्द, यत् प्रत्यय, अण् प्रत्यय और लास शब्द परे रहते हृदय शब्द के स्थान में हृद् आदेश हो।) हृदयं लिखतीति हृल्लेखः—हृदय की पीड़ा, अशान्ति। हृदयस्य प्रियं हृद्यम्—प्रिय, मनोहर। हृदयस्येदं हार्दम्—हृदय का, हृदय सम्बन्धी। हृल्लासः—हृदय की धड़कन। लेख यह अणन्त का ग्रहण है। घञ् परे रहते 'हृदयलेखः' रूप बनता है। लेखग्रहण से ही उत्तरपदाधिकार में तदन्तविधि नहीं है; यह विदित होता है।

९८९. वा शोकष्यञ्रोगेषु (६.३.५१)

हृच्छोकः, हृदयशोकः। सौहार्द्यम्, सौहृदय्यम्। हृद्रोगः, हृदयरोगः हृदयशब्दपर्यायो हृच्छब्दोऽप्यस्ति, तेन सिद्धे प्रपञ्चार्थमिदम्।

अनु०—(शोक शब्द, ष्यञ् प्रत्यय और रोग शब्द परे रहते हृदय शब्द को विकल्प से हृदादेश हो।) हृच्छोकः, हृदयशोकः—हृदय का शोक। सौहार्द्यम्, सौहृदय्यम्—सज्जनता। हृद्रोगः, हृदयरोगः—हृदय का रोग। हृदय शब्द का पर्याय हृद् शब्द भी है, इससे यह सम्पूर्ण पद सिद्ध होने पर यह सूत्र शास्त्रविस्तार के निमित्त है।

९९०. पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु (६.३.५२)

एषूत्तरपदेषु पादस्य पद इत्यदन्त आदेशः स्यात्। पादाभ्यामजतीति पदाजिः। पदातिः। 'अज्यतिभ्यां पादे च' (उ० ५७०-५७१) इतीण्प्रत्ययः। अजेर्व्यभावो निपातनात्। पदगः। पदोपहतः।

अनु०—आजि, आति, ग और उपहत शब्द परे रहते पाद शब्द को पदादेश होता है। पदाजिः, पदातिः—पैदल चलने वाला। यहाँ "अज्यतिभ्यां पादे च" इस उणादि सूत्र से इण् प्रत्यय हुआ है। अज् को वि आदेश का अभाव निपातन से हुआ है। पदगः—पैदल चलने वाला। पदोपहतः—पैरों से मारा गया।

९९१. पद्यत्यतदर्थे (६.३.६५)

पादस्य पत्स्यादतदर्थे यति परे। पादौ विध्यन्ति पद्याः शर्कराः। अतदर्थे किम्—पादार्थमुदकं पाद्यम्। 'पादार्घाभ्यां च' (सू० २०९३) इति यत् 'इके चरतावुपसंख्यानम्' (वा० ३९५८)। पादाभ्यां चरति पदिकः। पर्पादित्वात् ष्ठन्।

अनु०—अतदर्थ में विहित यत् प्रत्यय परे रहते पाद शब्द को पदादेश होता है। पद्याः—पैरों में चुभने वाली। (सूत्र में) 'अतदर्थे' ऐसा क्यों कहा ? (इसलिए कि जहाँ अतदर्थक यत् न हो वहाँ) पादार्थमुदकं पाद्यम् (पैरों के लिए जल) ऐसा रूप बनता है। यहाँ 'पादार्घाभ्यां च' (सू० २०९३) इस सूत्र से यत् प्रत्यय हुआ है।

'चरति' अर्थ में विहित इक् शब्द परे रहते पाद शब्द को पदादेश हो। पदिकः—पैदल चलने वाला। यहाँ पर्पादित्व के कारण ष्ठन् प्रत्यय हुआ है।

९९२. हिमकाषिहतिषु च (६.३.५४)

पद्धिमम्। पत्काषी। पद्धतिः।

अनु०—(हिम, काषि और हति शब्द परे रहते पाद को पदादेश होता है।) पद्धिमम्—पैर की सर्दी। पत्काषी—पैर घसीटने वाला, कष्ट से चलने वाला। पद्धतिः—पैरों से घिसा या बनाया हुआ मार्ग।

९९३. ऋचः शे (६.३.५५)

ऋचः पादस्य पत्स्याच्छे परे। गायत्रीं पच्छः शंसति। पादं पादमित्यर्थः। ऋचः किम्—पादशः कार्षापणं ददाति।

अनु०—'श' शब्द परे रहते मन्त्रसम्बन्धी पाद शब्द को पदादेश हो। गायत्रीं पच्छः शंसति—एक एक पाद गायत्री पढ़ता है। (सूत्र में) 'ऋचः' ऐसा क्यों कहा ? (इसलिए कि मन्त्रसम्बन्धी पाद शब्द का ग्रहण करने से) पादशः कार्षापणं ददाति (चौथाई-चौथाई कार्षापण देता है) यहाँ पदादेश नहीं हुआ है।

९९४. वा घोषमिश्रशब्देषु (६.३.५६)

पादस्य पत्। पद्घोषः, पादघोषः। पन्मिश्रः पादमिश्रः। पच्छब्दः, पादशब्दः। 'निष्के चेति वाच्यम्' (वा० ३९५९)। पन्निष्कः, पादनिष्कः।

अनु०—घोष, मिश्र और शब्द—ये शब्द परे रहते पाद शब्द को विकल्प से पदादेश हो। पद्घोषः, पादघोषः—पैरों का शब्द। पन्मिश्रः, पादमिश्रः—पैरों से मिलाया गया। पच्छब्दः, पादशब्दः—पैरों का शब्द। 'निष्क शब्द परे रहते पाद शब्द को विकल्प से पदादेश हो।' पन्निष्कः, पादनिष्कः—स्वर्णमुद्रा (अशर्फी) का चतुर्थांश।

९९५. उदकस्योदः संज्ञायाम् (६.३.५७)

उदमेघः। 'उत्तरपदस्य चेति वक्तव्यम्' (वा० ३९६९)। क्षीरोदः।

अनु०—(संज्ञा में उदक शब्द को उद आदेश होता है।) उदमेघः—जल से भरा हुआ *(विशेष प्रकार का)* मेघ, व्यक्ति विशेष का नाम। 'उदक शब्द के उत्तरपदस्थ होने पर भी उसको उदादेश हो।' क्षीरोदः—क्षीर सागर।

९९६. पेषंवासवाहनधिषु च (६.३.५८)

उदपेषं पिनष्टि। उदवासः। उदवाहनः। उदधिर्घटः। समुद्रे तु पूर्वेण सिद्धम्।

अनु०—(पेषम्, वास, वाहन और धि शब्द परे रहते उदक शब्द को उदादेश होता है।) उदपेषं पिनष्टि—जल डालकर पीसता है। उदवासः—जल में रहना। उदवाहनः—जल ढोने वाला। उदधिर्घटः—जिसमें जल रखा जाए, घड़ा। जिस स्थल में उदधि शब्द से समुद्र का ग्रहण हो वहाँ पूर्वसूत्र (उदकस्योदः संज्ञायाम्' (सू० ९९५)) से ही संज्ञा में उक्त पद सिद्ध होगा।

९९७. एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम् (६.३.५९)

उदकुम्भः, उदककुम्भः। एक इति किम्–उदकस्थाली। पूरयितव्ये इति किम्-उदकपर्वतः।

अनु०—(पूरयितव्य अर्थ में एकमात्र हल् आदि में है जिसके ऐसे पद परे रहते उदक शब्द को विकल्प से उद आदेश होता है।) उदकुम्भः, उदककुम्भः—जल का घड़ा। (सूत्र में) 'एक' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि एकमात्र हल् आदि में न होने पर अर्थात् अनेक हल् आदि में रहते) 'उदकस्थाली' (जल की पतीली)—यहाँ उद आदेश नहीं हुआ। 'पूरयितव्ये' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि 'पूरयितव्य अर्थ न होने पर) उदकपर्वतः (हिमालय की एक चोटी का नाम)—यहाँ उद आदेश नहीं हुआ।

९९८. मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु च (६.३.६०)

उदमन्थः, उदकमन्थः। उदौदनः, उदकौदनः इत्यादि।

अनु०—(मन्थ, ओदन, सक्तु, बिन्दु, वज्र, भार, हार, वीवध और गाह शब्द परे रहते उदक शब्द को विकल्प से उदादेश हो।) उदमन्थः, उदकमन्थः—जल मिला हुआ सत्तू। उदौदनः, उदकौदनः—जल में पकाया गया भात। इत्यादि।

९९९. इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य (६.३.६१)

इगन्तस्याङ्यन्तस्य ह्रस्वो वा स्यादुत्तरपदे। ग्रामणिपुत्रः, ग्रामणीपुत्रः। इकः किम्–रमापतिः। अङ्य इति किम्–गौरीपतिः। गालवग्रहणं पूजार्थम्, अन्यतरस्याम् इत्यनुवृत्तेः। 'इयङुवङभाविनामव्ययानां च नेति वाच्यम्' (वा० ३९६३) श्रीमदः। भ्रूभङ्गः। शुक्लीभावः। 'अभ्रुकुंसादीनामिति वक्तव्यम्' (वा० ३९६४) भ्रुकुंसः, भ्रूकुंसः। भ्रुकुटिः, भ्रूकुटिः। 'अकारोऽनेन विधीयते' इति व्याख्यान्तरम्। भ्रकुंसः। भ्रकुटिः। भ्रुवा कुंसो भाषणं शोभा वा यस्य स स्त्रीवेषधारी नर्तकः। भ्रुवः कुटिः कौटिल्यम्।

अनु०—उत्तरपद परे रहते इगन्त जो अङ्यन्त शब्द उसको विकल्प से ह्रस्व

हो। ग्रामणिपुत्रः, ग्रामणीपुत्रः—गाँव के मुखिया का पुत्र। (सूत्र में) 'इकः' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि इगन्त न होने पर ह्रस्व नहीं होता। जैसे—) रमापतिः—लक्ष्मीपति, विष्णु। 'अङ्चः' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि अङ्चन्त न होने पर ह्रस्व नहीं होता। जैसे—) गौरीपतिः—पार्वती के पति शिव। (पूर्व सूत्र (६.३.५९) से 'अन्यतरस्याम्' इस पद की अनुवृत्ति होने से विकल्प अर्थ हो ही जाता फिर) गालवग्रहण सूत्र में पूजार्थ है। 'इयङ् और उवङ् स्थानी और अव्यय को ह्रस्व न हो।' श्रीमदः—लक्ष्मी का गर्व। भ्रूभङ्गः—भौंहों का सिकुड़ना। शुक्लीभावः—जो सफेद न हो उसका सफेद होना। 'भ्रुकुंसादि शब्द के ह्रस्व का निषेध न हो।) (अर्थात् भ्रुकुंसादि शब्द को विकल्प से ह्रस्व हो।) भ्रुकुंसः, भ्रूकुंसः—भौंहों से बात करने वाला अथवा भौंहों से जिसकी शोभा हो। भ्रुकुटिः, भ्रूकुटिः—भौंहों का टेढ़ापन। उपर्युक्त वार्त्तिक से भ्रुकुंसादि के आदि इक् को अकार आदेश विधान होता है, यह व्याख्यान्तर है। भ्रकुंसः—नट। भ्रकुटिः—भौंहों का टेढ़ापन। भ्रू से कुंस अर्थात् सम्भाषण अथवा शोभा है जिससे वह भ्रुकुंस कहलाता है अर्थात् स्त्रीवेषधारी पुरुष। 'भ्रुवः कुटिः कौटिल्यम्' अर्थात् भ्रू की कुटिलता (टेढ़ापन)।

१०००. एकतद्धिते च (६.३.६२)

एकशब्दस्य ह्रस्वः स्यात्तद्धिते उत्तरपदे च। एकस्या आगतमेकरूप्यम्। एकक्षीरम्।

अनु०—तद्धित प्रत्यय उत्तरपद रहते एक शब्द को ह्रस्व हो। एकरूप्यम्—एक स्त्री से आया या मिला हुआ। एकक्षीरम्—एक (स्त्री) का दूध।

१००१. ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम् (६.३.६३)

रेवतिपुत्रः। अजक्षीरम्।

अनु०—(संज्ञा और वेद में ङ्यन्त और आबन्त शब्द को ह्रस्व हो, बहुलता से अर्थात् कहीं हो, कहीं न हो। रेवतिपुत्रः—रेवती का पुत्र, बलराम। अजक्षीरम्—बकरी का दूध।

१००२. त्वे च (६.३.६४)

त्वप्रत्यये ङ्यापोर्वा ह्रस्वः। अजत्वम्, अजात्वम्। रोहिणित्वम्, रोहिणीत्वम्।

अनु०—त्व प्रत्यय परे रहते ङ्यन्त और आबन्त शब्द को विकल्प से ह्रस्व हो। अजत्वम्, अजात्वम्—बकरी का स्वभाव। रोहिणित्वम्, रोहिणीत्वम्—रोहिणी का स्वभाव।

१००३. ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे (६.१.१३)

ष्यङन्तस्य पूर्वपदस्य सम्प्रसारणं स्यात्पुत्रपत्योरुत्तरपदयोस्तत्पुरुषे।

अनु०—तत्पुरुष समास में पुत्र और पति शब्द परे रहते ष्यङ्प्रत्ययान्त पूर्वपद को सम्प्रसारण हो।

१००४. सम्प्रसारणस्य (६.३.१३९)

सम्प्रसारणस्य दीर्घः स्यादुत्तरपदे । कौमुदगन्ध्यायाः पुत्रः कौमुदगन्धीपुत्रः । कौमुदगन्धीपतिः । व्यवस्थितविभाषया ह्रस्वो न । 'स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न' (प० २७) इति तदादिनियमप्रतिषेधात् परमकारीषगन्धीपुत्रः । उपसर्जने तु तदादिनियमान्नेह—अतिकारीषगन्ध्यापुत्रः ।

अनु०—उत्तरपद परे रहते सम्प्रसारण को दीर्घ हो । कौमुदगन्धीपुत्रः—कौमुदगन्ध्या नाम की स्त्री का पुत्र । कौमुदगन्धीपतिः—कौमुदगन्ध्या नाम की स्त्री का पति। इन दोनों स्थानों में व्यवस्थितविकल्प के कारण ह्रस्व नहीं हुआ । 'स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न' इस परिभाषा से तदादिनियम के प्रतिषेध के कारण परमकारीषगन्धीपुत्रः (परमकारीषगन्ध्या नाम की स्त्री का पुत्र) इस स्थान में सम्प्रसारण नहीं हुआ है । उपसर्जन में तदादि नियम के कारण 'अतिकारीषगन्ध्यापुत्रः (अतिकारीषगन्ध्या नाम की स्त्री का पुत्र) में सम्प्रसारण नहीं हुआ ।

१००५. बन्धुनि बहुव्रीहौ (६.१.१४)

बन्धुशब्द उत्तरपदे ष्यङः सम्प्रसारणं स्याद् बहुव्रीहौ । कारीषगन्ध्या बन्धुरस्येति कारीषगन्धीबन्धुः । बहुव्रीहौ इति किम्—कारीषगन्ध्याया बन्धुः कारीषगन्ध्याबन्धुः । क्लीबनिर्देशस्तु शब्दस्वरूपापेक्षया 'मातज्मातृकमातृषु वा' (वा० ३४४९) कारीषगन्धीमातः, कारीषगन्ध्यामातः । कारीषगन्धीमातृकः, कारीगन्ध्यामातृकः । कारीषगन्धीमाता, कारीषगन्ध्यामाता । अत एव निपातनान्मातृशब्दस्य मातजादेशः, 'नद्यृतश्च' (सू० ८३३) इति कब्विकल्पश्च । बहुव्रीहावेवेदम्, नेह—कारीषगन्ध्याया माता कारीषगन्ध्यामाता । चित्त्वसामर्थ्याच्चित्स्वरो बहुव्रीहिस्वरं बाधते ।

अनु०—बहुव्रीहि समास में बन्धु शब्द उत्तरपद रहते ष्यङ्प्रत्ययान्त को सम्प्रसारण हो । कारीषगन्धीबन्धुः—जिसका बन्धु कारीषगन्ध्या हो । जहाँ बहुव्रीहि समास नहीं होता वहाँ कारीषगन्ध्याबन्धुः रूप होता है । (सूत्र में) 'बन्धुनि' ऐसा नपुंसकलिङ्ग निर्देश शब्दस्वरूप की अपेक्षा से जानना ।

'मातच्, मातृक् और मातृ शब्द परे रहते ष्यङ्प्रत्ययान्त को विकल्प से सम्प्रसारण हो ।' कारीषगन्धीमातः, कारीषगन्ध्यामातः—जिसकी माता कारीषगन्ध्या हो । कारीषगन्धीमातृकः, कारीषगन्ध्यामातृकः—जिसकी माता कारीषगन्ध्या हो । कारीषगन्धीमाता, कारीषगन्ध्यामाता—कारीषगन्ध्या की माता । मातच् आदेश में चित्त्वसामर्थ्य के कारण चित्स्वर बहुव्रीहि स्वर का बाध करता है ।

१००६. इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु (६.३.६५)

इष्टकादीनां तदन्तानां च पूर्वपदानां चितादिषु क्रमादुत्तरपदेषु ह्रस्वः स्यात् इष्टकचितम् । पक्वेष्टकचितम् । इषीकातूलम् । मुञ्जेषीकतूलम् । मालभारी । उत्पलमालभारी ।

अनु०—चित शब्द, तूल शब्द और भारिन् शब्द परे रहते इष्टका, इषीका और माला शब्द को ह्रस्व हो। इष्टकचितम्—ईंटों से चुना गया। पक्वेष्टकचितम्—पकी ईंटों से चुना गया। इषीकतूलम्—सींकों का गुच्छा। मुञ्जेषीकतूलम्—मूंज की सींकों का गुच्छा। मालभारी—माला पहिने या लिए हुए। उत्पलमालभारी—कमल के फूलों की माला पहिने या लिए हुए।

१००७. कारे सत्यागदस्य (६.३.७०)

मुम् स्यात्। सत्यङ्कारः। अगदङ्कारः। 'अस्तोश्चेति वक्तव्यम्' (वा० ३९७३)। अस्तुङ्कारः। 'धेनोर्भव्यायाम्' (वा० ३९७५)। धेनुम्भव्या। 'लोकस्य पृणे' (वा० ३९७६) लोकंपृणः। पृण इति मूलविभुजादित्वात्कः। 'इत्येऽनभ्याशस्य (वा० ३९७७)। अनभ्याशमित्यः। दूरतः परिहर्तव्य इत्यर्थः। 'भ्राष्ट्राग्न्योरिन्धे' (वा० ३९७८) भ्राष्ट्रमिन्धः। अग्निमिन्धः। 'गिलेऽगिलस्य' (वा० ३९७९) तिमिङ्गिलः। अगिलस्य किम्—गिलगिलः। 'गिलगिले च' (वा० ३९८०)। तिमिङ्गिलगिलः। 'उष्णभद्रयोः करणे' (वा० ३९८१)। उष्णङ्करणम्। भद्रङ्करणम्।

अनु०—कार शब्द परे रहते सत्य और अगद शब्द को मुम् का आगम हो। सत्यङ्कारः—शपथ ग्रहण करना। अगदङ्कारः—नीरोग करने वाला वैद्य। 'कार शब्द परे रहते अस्तु शब्द को भी मुमागम हो।' अस्तुङ्कारः—समर्थ। 'भव्या शब्द परे रहते धेनु शब्द को मुम् हो।' धेनुम्भव्या—जो गाय बच्चा देने वाली हो। 'पृण शब्द परे रहते लोक शब्द को मुम् हो।' लोकम्पृणः—संसार में व्याप्त होने वाला। 'पृणः' इसमें मूलविभुजादित्व के कारण क प्रत्यय है। इत्य शब्द परे रहते अनभ्याश शब्द को मुम् हो।' अनभ्याशमित्यः—जिसके पास न जाया जा सके, दूर से त्यागने योग्य। 'इन्ध शब्द परे रहते भ्राष्ट्र और अग्नि शब्द को मुम् हो।' भ्राष्ट्रमिन्धः—भाड़ में भूनने वाला। अग्निमिन्धः—आग जलाने वाला। 'गिल शब्द परे रहते गिलभिन्न शब्द को मुम् हो।' तिमिङ्गिलः—तिमि नाम की मछली को निगलने वाली बहुत बड़ी मछली। 'अगिलस्य' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि गिल शब्द को मुमागम न हो। जैसे—) गिलगिलः—एक मछली। 'गिलगिल शब्द परे रहते गिलभिन्न शब्द को मुम् हो।' तिमिङ्गिलगिलः—तिमिङ्गिल को भी निगल जाने वाली मछली। 'करण शब्द परे रहते उष्ण और भद्र शब्द को मुम् हो।' उष्णङ्करणम्—गर्म करना। भद्रङ्करणम्—कल्याण करना।

१००८. रात्रेः कृति विभाषा (६.३.७२)

कृदन्ते परे। रात्रिञ्चरः, रात्रिचरः। रात्रिमटः, रात्र्यटः। अखिदर्थमिदं सूत्रम्। खिति तु 'अरुर्द्विषत्—(सू० २९४२) इति नित्यमेव वक्ष्यते। रात्रिम्मन्यः।

अनु०—(कृत्प्रत्ययान्त शब्द परे रहते रात्रि शब्द को विकल्प से मुम् हो।) रात्रिञ्चरः, रात्रिचरः—रात में घूमने वाला, राक्षस, निशाचर। रात्रिमटः, रात्र्यटः—

रात में घूमने वाला, राक्षस, निशाचर। यह सूत्र अखिदर्थ है। खित् परे रहते तो 'अरुर्द्विषत्०' (सू० २९४२) इस सूत्र से नित्य ही मुम् होता है। रात्रिमन्यः—अपने को रात समझाने वाला।

१००९. सहस्य सः संज्ञायाम् (६.३.७८)

उत्तरपदे। सपलाशम्। संज्ञायां किम्—सहयुध्वा।

अनु०—सह शब्द को स आदेश होता है उत्तर पद परे होने पर जबकि समस्त पद किसी की संज्ञा हो। सपलाशम्—पत्ते के साथ, पत्ते को भी न छोड़कर। 'संज्ञायाम्' ऐसा क्यों कहा? (इसलिए कि संज्ञा न होने पर सह को स आदेश नहीं होता। जैसे—) सहयुध्वा—साथ युद्ध करने वाला।

१०१०. ग्रन्थान्ताऽधिके च (६.३.७९)

अनयोरर्थयोः सहस्य सः स्यादुत्तरपदे। समुहूर्तं ज्योतिषमधीते। सद्रोणा खारी।

अनु०—ग्रन्थान्त और अधिक अर्थ में उत्तरपद परे रहते सह शब्द को स आदेश होता है। सुमुहूर्तं ज्योतिषमधीते—वह मुहूर्त्तपर्यन्त ज्योतिष पढ़ता है। सद्रोणा खारी—द्रोण सहित खारी परिमाण।

१०११. द्वितीये चानुपाख्ये (६.३.८०)

अनुमेये द्वितीये सहस्य सः स्यात्। सराक्षसीका निशा। राक्षसी साक्षादनुपलभ्यमाना निशयाऽनुमीयते।

अनु०—अनुमेयार्थक द्वितीय पद परे रहते सह शब्द को स आदेश होता है। सराक्षसीका निशा—राक्षसियों वाली रात। यहां राक्षसी साक्षात् उपलभ्यमान नहीं होती है किन्तु निशा से अनुमित होती है।

१०१२. समानस्य च्छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु (६.३.८४)

समानस्य सः स्यादुत्तरपदे, न तु मूर्धादिषु। 'अनुभ्राता सगर्भ्यः। अनु सखा सयूथ्यः। 'यो नः सनुत्यः।' 'तत्र भवः' इत्यर्थे 'सगर्भसयूथसनुताद्यत्' (सू० ३४६०)। अमूर्धादिषु किम्—समानमूर्धा। समानप्रभृतयः। समानोदर्काः। समानस्य इति योगो विभज्यते। तेन सपक्षः साधर्म्यं सजातीयमित्यादि सिद्धमिति काशिका। अथवा सहशब्दः सदृशवचनोऽस्ति, सदृशः सख्या ससखीति यथा। तेनायमस्वपदविग्रहो बहुव्रीहिः। समानः पक्षोऽस्येत्यादि।

अनु०—वेद में उत्तरपद परे रहते समान शब्द को स आदेश होता है किन्तु मूर्ध प्रभृति और उदर्क शब्द परे रहते नहीं होता। अनुभ्राता सगर्भ्यः—एक गर्भ में उत्पन्न होने वाला। अनुसखा सयूथ्यः—एक झुंड में रहने या होने वाला। (यो नः) सनुत्यः—शत्रु, डाकू। यहाँ 'तत्र भवः' इस अर्थ में सगर्भ, सयूथ और सनुत शब्दों से

यत् प्रत्यय हुआ है। 'अमूर्धादिषु' ऐसा क्यों कहा ? (इसलिए कि मूर्धादि शब्द परे रहते समान शब्द को स आदेश न हो। जैसे—) समानमूर्धा– जिसका मस्तक समान हो। समानप्रभृतयः—जिनका आदि अवयव समान, एक सा हो। समानोदर्काः– समान परिणाम वाले। (सूत्र में) 'समानस्य' यह योगविभाग करने से सपक्षः (समान पक्षक), साधर्म्यम् (समान धर्म, कार्य का होना), सजातीयम् (समान जाति का होना) आदि पद सिद्ध होते हैं, यह काशिकाकार का मत है। अथवा सह शब्द सदृशवाचक भी है। सदृशः सख्या ससखि (मित्र के सदृश)। (इस कारण) 'सपक्षः' आदि में 'समानः पक्षोऽस्य' आदि अस्वपद विग्रह में बहुव्रीहि समास समझना चाहिए।

१०१३. ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु (६.३.८५)

एषु द्वादशसूत्तरपदेषु समानस्य सः स्यात्। सज्योतिः। सजनपद इत्यादि।

अनु०—ज्योतिष्, जनपद, रात्रि, नाभि, नाम, गोत्र, रूप, स्थान, वर्ण, वयस्, वचन और बन्धु—ये बारह शब्द परे रहते समान शब्द को स आदेश होता है। सज्योतिः—अशौच का वह काल जो सूर्यास्त तक अथवा नक्षत्रों के निकलने तक हो। सजनपदः—एक जनपद का।

१०१४. चरणे ब्रह्मचारिणि (६.३.८६)

ब्रह्मचारिण्युत्तरपदे समानस्य सः स्याच्चरणे समानत्वेन गम्यमाने। चरणः शाखा। ब्रह्म वेदः, तदध्ययनार्थं व्रतमपि ब्रह्म, तच्चरतीति ब्रह्मचारी, समानस्य सः, सब्रह्मचारी।

अनु०—ब्रह्मचारिन् शब्द परे रहते समान शब्द के स्थान में स आदेश हो यदि समान रूप से वेद का चरण गम्यमान हो। चरण का अभिप्राय शाखा से और ब्रह्म का अभिप्राय वेद से है। वेदाध्ययनार्थ व्रतविशेष को भी ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म चरतीति ब्रह्मचारी। (समानो ब्रह्मचारी इस विग्रह में समान शब्द को स आदेश होने पर) सब्रह्मचारी—वेद की एक ही शाखा को पढ़ने वाला छात्र।

१०१५. तीर्थे ये (६.३.८७)

तीर्थे उत्तरपदे यादौ प्रत्यये विवक्षिते समानस्य सः स्यात्। सतीर्थ्यः—एकगुरुकः। 'समानतीर्थे वासी' (सू० १६५८) इति यत्प्रत्ययः।

अनु०—तीर्थ शब्द उत्तरपद रहते यकारादि प्रत्यय विवक्षित होने पर समान शब्द को स आदेश हो। सतीर्थ्यः—एकगुरुकः—एक ही गुरु का, अध्यापक का छात्र। 'समान तीर्थ में बसने वाला' इस अर्थ में यत् प्रत्यय हुआ है।

१०१६. विभाषोदरे (६.३.८८)

यादौ प्रत्यये विवक्षित इत्येव । सोदर्यः, समानोदर्यः ।

अनु०—यादि प्रत्यय विवक्षित होने पर उदर शब्द परे रहते समान शब्द को स आदेश विकल्प से होता है । सोदर्यः, समानोदर्यः—एक ही गर्भ से उत्पन्न, सगा भाई ।

१०१७. दृग्दृशवतुषु (६.३.८९)

सदृक् । सदृशः । 'दृक्षे चेति वक्तव्यम्' (वा० ३९९२) सदृक्षः । वतुरुत्तरार्थः ।

अनु०—(दृक्, दृश शब्द परे रहते समान शब्द को स आदेश होता है ।) सदृक्, सदृशः—समान । 'दृक्ष शब्द परे रहते भी समान शब्द को स आदेश होता है ।' सदृक्षः—समान । (इस सूत्र में) वतुग्रहण उत्तरार्थ है ।

१०१८. इदंकिमोरीश्की (६.३.९०)

दृग्दृशवतुषु इदम ईश् किमः की स्यात् । ईदृक् । ईदृशः । कीदृक् । कीदृशः । वतूदाहरणं वक्ष्यते । 'दृक्षे चेति वक्तव्यम्' (वा० ३९९३) ईदृक्षः कीदृक्षः । 'आ सर्वनाम्नः' (सू० ४३०) । 'दृक्षे च' (वा० ३९९३) तादृक् । तादृशः । तावान् । तादृक्षः । दीर्घः, मत्वोत्वे । अमूदृक्, अमूदृशः । अमूदृक्षः ।

अनु०—दृक्, दृश् और वतु प्रत्यय परे रहते इदम् को 'ईश्' और किम् शब्द को 'की' आदेश होता है । ईदृक्, ईदृशः—ऐसा । कीदृक्, कीदृशः—कैसा । वतु प्रत्यय का उदाहरण बाद में कहा जाएगा । 'दृक्ष शब्द परे रहते भी इदम् को ईश् और किम् को की आदेश होता है ।' ईदृक्षः—ऐसा । कीदृक्षः—कैसा । दृक्, दृश्, वतु प्रत्यय और दृक्ष शब्द परे रहते सर्वनाम शब्द को आकार आदेश होता है । तादृक्, तादृशः, तादृक्षः—वैसा । तावान्—उतना । दीर्घ, मत्व और उत्व करके—अमूदृशः, अमूदृक्, अमूदृक्षः—ऐसा, इस तरह करके ।

१०१९. समासेऽङ्गुलेः सङ्गः (८.३.८०)

अङ्गुलिशब्दात्सङ्गस्य सस्य मूर्धन्यः स्यात्समासे । अङ्गुलिषङ्गः । समासे किम्—अङ्गुलः सङ्गः ।

अनु०—समास में अङ्गुलि शब्द से परे सङ्ग शब्द के सकार को मूर्धन्य ष होता है । अङ्गुलिषङ्गः—अङ्गुलि में लगा हुआ । 'समासे' ऐसा क्यों कहा ? (इसलिए कि समास न होने पर 'स' को 'ष' नहीं होता । जैसे—) अङ्गुलेः सङ्गः ।

१०२०. भीरोः स्थानम् (८.३.८१)

भीरुशब्दात्स्थानस्य सस्य मूर्धन्यः स्यात्समासे । भीरुष्ठानम् । असमासे तु भीरोः स्थानम् ।

अनु०—समास में भीरु शब्द से परे स्थान शब्द के सकार को मूर्धन्य षकार हो। भीरुष्ठानम्—डरपोक का स्थान। समास न होने पर भीरोः स्थानम्।

१०२१. ज्योतिरायुषः स्तोमः (८.३.८३)

आभ्यां स्तोमस्य सस्य मूर्धन्यः समासे ज्योतिष्टोमः। आयुष्टोमः। समासे किम्—ज्योतिषः स्तोमः।

अनु०—समास में ज्योतिष् और आयुष् शब्द से परे स्तोम शब्द के सकार को षत्व हो। ज्योतिष्टोमः—सोलह ऋत्विगों से किया जाने वाला एक यज्ञ। आयुष्टोमः—दीर्घायु के निमित्त किया जाने वाला एक यज्ञ। समास न होने पर ज्योतिषः स्तोमः।

१०२२. सुषामादिषु च (८.३.९८)

सस्य मूर्धन्यः। शोभनं साम यस्य सुषामा। सुषन्धिः।

अनु०—सुषामादि शब्द में सकार को मूर्धन्य षकार हो। शोभनं साम यस्य सुषामा—सामवेद का सुन्दर गान करने वाला। सुषन्धिः—सुन्दर सन्धि (मेल) करने वाला।

१०२३ एति संज्ञायामगात् (८.३.९९)

(ग० १८२) सस्य मूर्धन्यः। हरिषेणः। एति किम्—हरिसक्थम्। संज्ञायां किम्-पृथुसेनः। अगकारात् किम्–विष्वक्सेनः। इण्कोः इत्येव। सर्वसेनः।

अनु०—संज्ञा में एकार परे रहते शकार से भिन्न शब्द के परे स्थित सकार को षत्व होता है। हरिषेणः—बन्दर जिसकी सेना हो। 'एति' क्यों कहा? (इसलिए कि) एकार परे न होने पर हरिसक्थम्—बन्दर की जाँघ। 'संज्ञायाम्' ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि संज्ञा न होने पर पृथुसेनः—जिसकी सेना बड़ी हो, राजा रुचिर के एक पुत्र का नाम। 'अगकारात्' ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि गकार से परे होने पर विष्वक्सेनः—जिसकी सेना सर्वत्र जाती हो, विष्णु अथवा कृष्ण। इण् और कवर्ग से परे ही सकार को षत्व होता है इससे 'सर्वसेनः' ('सम्पूर्ण सेना का स्वामी' ब्रह्मदत्त के एक पुत्र का नाम (हरिवंश))।

१०२४. नक्षत्राद्वा (८.३.१००)

(ग १८३) एति सस्य संज्ञायामगकारान्मूर्धन्यो वा। रोहिणीषेणः, रोहिणीसेनः। अगकारात् किम्-शतभिषक्सेनः। आकृतिगणोऽयम्।

अनु०—संज्ञा में अगकारान्त नक्षत्रवाचक शब्द से परे सकार को विकल्प से षकार हो यदि एकार परे हो। रोहिणीषेणः, रोहिणीसेनः—**व्यक्ति विशेष का नाम।**

'अगकारात्' ऐसा क्यों कहा ? इसलिए कि गकार के परे होने पर शतभिषक्सेनः—व्यक्ति विशेष का नाम। यह (सुषामादि) आकृतिगण है।

१०२५. अषष्ठ्यतृतीयास्थस्यान्यस्य दुगाशीराशास्थास्थितोत्सुकोतिकारक-रागच्छेषु (६.३.९९)

अन्यशब्दस्य दुगागमः स्यादाशीरादिषु परेषु। अन्यदाशीः। अन्यदाशा। अन्यदास्था। अन्यदास्थितः। अन्यदुत्सुकः। अन्यदूतिः। अन्यद्रागः। अन्यदीयः। अषष्ठीत्यादि किम्—अन्यस्यान्येन वाशीरन्याशीः। 'कारके छे च नायं निषेधः' (वा० ५०४८) । अन्यस्य कारकोऽन्यत्कारकः। अन्यस्यायमन्यदीयः। गहादेराकृतिगणत्वाच्छः।

अनु०—आशिष्, आशा, आस्था, आस्थित, उत्सुक, अति, कारक, राग शब्द और छ प्रत्यय परे रहते षष्ठ्यन्त और तृतीयान्त से भिन्न अन्य शब्द को दुगागम हो। अन्यदाशीः—दूसरा आशीर्वाद। अन्यदाशा—दूसरी आशा। अन्यदास्था—दूसरे में आसक्ति या भक्ति। अन्यदास्थितः—सम्मति या सहायता के लिए दूसरे के पास गया हुआ। अन्यदुत्सुकः—दूसरे के लिए उत्सुक। अन्यदूतिः—दूसरी सहायता, दया अथवा बनावट। अन्यद्रागः—दूसरा राग, रंग। अन्यदीयः—दूसरे का। 'अषष्ठीत्यादि' ऐसा क्यों कहा ? इसलिए कि षष्ठ्यन्त और तृतीयान्त से भिन्न कहने से 'अन्यस्यान्येन वाशीः' इस वाक्य में 'अन्याशीः' (दूसरे का आशीर्वाद) रूप बनता है। कार और छ प्रत्यय परे रहते षष्ठ्यन्त और तृतीयान्त अन्य पद को दुगागम का निषेध नहीं होता है। अन्यस्य कारकः अन्यत्कारकः—दूसरे का करने वाला। अन्यस्यायम् अन्यदीयः—दूसरे का। गहादि के आकृतिगण होने के कारण छ प्रत्यय करके ('अन्यदीयः') सिद्ध हुआ है।

१०२६. अर्थे विभाषा (६.३.१००)

अन्यदर्थः अन्यार्थः।

अनु०—अर्थ शब्द परे रहते अन्य शब्द को विकल्प से दुगागम हो। अन्योर्थः, अन्यार्थः—दूसरा अर्थ।

१०२७. कोः कत्तात्पुरुषेऽचि (६.३.१०१)

अजादावुत्तरपदे। कुत्सितोऽश्वः कदश्वः। कदन्नम्। तत्पुरुषे किम्—कूष्ट्रो राजा। 'त्रौ च' (वा० ३९९८) कुत्सितास्त्रयः कत्त्रयः।

अनु०—तत्पुरुष समास में अजादि उत्तरपद रहते कु शब्द को कत् आदेश होता है। कुत्सितोऽश्वः कदश्वः—खराब घोड़ा। कदन्नम्—खराब अन्न। 'तत्पुरुषे' ऐसा क्यों कहा ? (इसलिए कि तत्पुरुष समास न होने पर कु को कत् आदेश नहीं होता।)

कूष्ट्रो राजा—खराब ऊँटों का राजा। 'त्रि' शब्द परे रहते कु शब्द को कत् आदेश होता है। कत्त्रयः—खराब तीन व्यक्ति।

१०२८. रथवदयोश्च (६.३.१०२)

कद्रथः। कद्वदः।

अनु०—रथ और वद शब्द परे रहते कु शब्द को कत् आदेश होता है। कद्रथः—बुरा रथ। कद्वदः—बुरा बोलने वाला।

१०२९. तृणे च जातौ (६.३.१०३)

कत्तृणम्।

अनु०—जाति होने पर तृण शब्द परे रहते कु को कत् आदेश होता है। कत्तृणम्—एक प्रकार की सुगन्धित घास।

१०३०. का पथ्यक्षयोः (६.३.१०४)

कापथम्। काक्षः। अक्षशब्देन तत्पुरुषः अक्षिशब्देन बहुव्रीहिर्वा।

अनु०—पथिन् और अक्षि शब्द परे रहते कु शब्द को का आदेश होता है। कापथम्—बुरा मार्ग। काक्षः—खराब पासा, बुरी आँख वाला। यहाँ अक्ष शब्द के साथ तत्पुरुष समास अथवा अक्षि शब्द के साथ बहुव्रीहि समास हुआ है।

१०३१. ईषदर्थे (६.३.१०५)

ईषज्जलं काजलम्। अजादावपि परत्वात्कादेशः—काम्लः।

अनु०—ईषत् अर्थ में कु शब्द को का आदेश होता है। ईषज्जलं काजलम्—थोड़ा जल। अजादि शब्द परे रहते भी परत्व के कारण कु शब्द को कादेश होता है। काम्लः—कुछ कुछ खट्टा।

१०३२. विभाषा पुरुषे (६.३.१०६)

कापुरुषः, कुपुरुषः अप्राप्तविभाषेयम्। ईषदर्थे हि पूर्वविप्रतिषेधान्नित्यमेव। ईषत्पुरुषः कापुरुषः।

अनु०—पुरुष शब्द परे रहते कु शब्द को विकल्प से का आदेश होता है। कापुरुषः, कुपुरुषः—कुत्सित पुरुष, कायर। ईषदर्थ में पूर्वविप्रतिषेध के कारण नित्य ही 'का' आदेश होता है। ईषत्पुरुषः कापुरुषः—कुछ कुछ पुरुष।

१०३३. कवं चोष्णे (६.३.१०७)

उष्णशब्दे उत्तरपदे कोः कवं का च वा स्यात्। कवोष्णम्, कोष्णम्, कदुष्णम्।

अनु०—उष्ण शब्द परे रहते किम् शब्द को विकल्प से कव और का आदेश होते हैं। कवोष्णम्, कोष्णम्, कदुष्णम्—कुछ कुछ गर्म।

१०३४. पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (६.३.१०९)

पृषोदरप्रकाराणि शिष्टैर्यथोच्चारितानि तथैव साधूनि स्युः। पृषदुदरं पृषोदरम्, तलोपः। वारिवाहको बलाहकः, पूर्वपदस्य बः, उत्तरपदादेश्च लत्वम्।

'भवेद्वर्णागमाद्धंसः सिंहो वर्णविपर्ययात्।
गूढोत्मा वर्णविकृतेर्वर्णनाशात्पृषोदरम्।'

'दिक्छब्देभ्यस्तीरस्य तारभावो वा' (वा० ३९९९) दक्षिणतारम्, दक्षिणतीरम्। उत्तरतारम्, उत्तरतीरम्। 'दुरो दाशनाशदभध्येषूत्वमुत्तरपदादेः ष्टुत्वं च' (वा० ४००१) दुःखेन नाश्यते दूडाशः। दुःखेन नाश्यते दूणाशः। दुःखेन दभ्यते दूडभः। खल्। त्रिभ्यः दम्भेर्नलोपो निपात्यते। दुःखेन ध्यायतीति दूढ्यः। 'आतश्च—' (सू० २८९८) इति कः। ब्रुवन्तोऽस्यां सीदन्तीति बृसी। ब्रुवच्छब्दस्य बृ आदेशः सदेरधिकरणे डट्। आकृतिगणोऽयम्।

अनु०—पृषोदरादि शब्द शिष्टगण द्वारा जिस प्रकार उच्चारित हुए हैं उस प्रकार ही साधु हैं। पृषत् उदरं पृषोदरम्—चितकबरे मृग का उदर। यहाँ तकार लोप होकर रूप बना है। वारिवाहको बलाहकः—मेघ। यहाँ पूर्वपद के स्थान में ब और उत्तरपद के आदि को ल आदेश होकर 'वलाहकः' पद सिद्ध हुआ है।

वर्णागम के कारण हंस, वर्णविपर्यय के कारण सिंह, वर्ण की विकृति के कारण गूढोत्मा और वर्ण के विनाश के कारण पृषोदरम् पद सिद्ध हुए हैं।

दिग्वाचक शब्द के परवर्ती तीर शब्द के स्थान में विकल्प से तार आदेश होता है। दक्षिणतारम्, दक्षिणतीरम्—दक्षिणी तट। उत्तरतारम्, उत्तरतीरम्—उत्तरी तट।

'दाश, नाश, दभ और ध्य शब्द परे रहते दुर् शब्द को उत्व हो और उत्तर पद के आदि वर्ण को ष्टुत्व हो। दुःखेन दाश्यते दूडाशः—जिसको कठिनता से दिया जा सके या कष्ट पहुँचाया जा सके। दुःखेन नाश्यते दूणाशः—जिसको कठिनता से नष्ट किया जा सके। दुःखेन दभ्यते दूडभः—जिसको कठिनता से दबाया जा सके या कष्ट पहुँचाया जा सके। दाश, नाश और दभ इन तीन शब्दों से खल् प्रत्यय हुआ है। दम्भ् धातु के नकार का लोप निपातन से हुआ है।

दुःखेन ध्यायतीति दूढ्यः—जो कठिनता से ध्यान करे। यहाँ 'आतश्चो०' (सू० २८९८) इस सूत्र से क प्रत्यय हुआ है। ब्रुवन्तोऽस्यां सीदन्तीति बृसी—व्यासासन, ऋषि का आसन, गद्दी। यहाँ ब्रुवत् शब्द को बृ आदेश हुआ है। सद् धातु से अधिकरण में इट् प्रत्यय हुआ है। यह (पृषोदरादि) आकृतिगण है।

१०३५. संहितायाम् (६.३.११४)

अधिकारोऽयम् ।

अनु०—यह संहिताधिकार सूत्र है।

१०३६. कर्णे लक्षणस्याऽविष्टाष्टपञ्चमणिभिन्नच्छिन्नच्छिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य (६.३.११५)

कर्णशब्दे परे लक्षणवाचकस्य दीर्घः । द्विगुणाकर्णः । लक्षणस्य किम्—शोभनकर्णः । अविष्टादीनां किम्—विष्टकर्णः, अष्टकर्णः, मणिकर्णः, पञ्चकर्णः, भिन्नकर्णः, छिन्नकर्णः, छिद्रकर्णः, स्रुवकर्णः, स्वस्तिककर्णः ।

अनु०—(संहिता विषय में) कर्ण शब्द परे रहते लक्षणवाचक शब्द को दीर्घ हो किन्तु विष्ट, अष्टन्, पञ्चन्, मणि, भिन्न, छिन्न, छिद्र, स्रुव और स्वस्तिक शब्द को दीर्घ न हो। द्विगुणाकर्णः—जिस पशु के कान पर दुगुनी रेखाएँ हों। 'लक्षणस्य' ऐसा क्यों कहा ? इसलिए कि लक्षणवाचक न होने पर दीर्घ नहीं होता। शोभनकर्णः—जिस कान सुन्दर हों। विष्टादि शब्द को भी दीर्घ नहीं होता है। विष्टकर्णः—जिसके कान सुन्दर हों। अष्टकर्णः—जिस पशु के कान पर आठ अंक अंकित हों। पञ्चकर्णः—जिसके पशु के कान पर पांच अंक अंकित हों। मणिकर्णः—जिस पशु के कान पर मणि का चिह्न हो। भिन्नकर्णः—जिस पशु के कान फटे हों। छिन्नकर्णः—जिस पशु के कान कटे हों। स्रुवकर्णः—जिस पशु के कान पर स्रुवा का चिह्न हो। स्वस्तिकर्णः—जिस पशु के कान पर स्वस्तिक का चिह्न हो।

१०३७. नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ (६.३.११६)

क्विबन्तेषु एषु परेषु पूर्वपदस्य दीर्घः । उपानत् । नीवृत् । प्रावृट् । मर्मावित् । नीरुक् । अभीरुक् । ऋतीषट् । परीतत् । क्वौ इति किम्—परिणहनम् । 'विभाषा पुरुषे' (सू १०३२) इत्यतो मण्डूकप्लुत्या विभाषा अनुवर्तते, सा च व्यवस्थिता, तेन गतिकारकयोरेव । नेह—पटुरुक्, तिग्मरुक् ।

अनु०—क्विप् प्रत्ययान्त नह्, वृत्, वृष्, व्यध्, रुच्, सह् और तन् धातु परे रहते पूर्वपद को दीर्घ हो। उपानत् (उप+नह्+क्विप्)—जूता। नीवृत् (नि+वृत्+क्विप्)—जो देश बसा हुआ हो, एक राज्य। प्रावृट्—वर्षा ऋतु। मर्मावित्—मर्म स्थल में छेद करने वाला। नीरुक्—चमक या प्रकाश से भागने वाला। अभीरुक्—प्रसन्न करने वाला। ऋतीषट्—आक्रामक को दबा देने वाला। परीतत्—चारों और फैलाने वाला। 'क्वौ' ऐसा क्यों कहा ? इसलिए कि क्विप्रत्ययान्त न होने पर दीर्घ न हो। परिणहनम्—चारों ओर फैलाने वाला। 'विभाषा पुरुषे' (सू० १०३२) इस सूत्र से मण्डूकप्लुतिन्याय से विभाषा की अनुवृत्ति होती है, वह व्यवस्थित विभाषा है, इस कारण गति और कारक इन दोनों को ही दीर्घ होता है। (इसलिए) पटुरुक् (तीव्र या कठिन रोग वाला), तिग्मरुक् (तीव्र या कठिन रोग वाला)—यहां दीर्घ नहीं हुआ।

१०३८. वनगिर्योः संज्ञायां कोटरकिंशुलुकादीनाम् (६.३.११७)

कोटरादीनां वने परे किंशुलुकादीनां गिरौ परे च दीर्घः स्यात्संज्ञायाम्।

अनु०—संज्ञा होने पर वन शब्द परे रहते कोटरादि शब्दों को और गिरि शब्द परे रहते किंशुलुकादि शब्दों को दीर्घ हो।

१०३९. वनं पुरगामिश्रकासिध्रकासारिकाकोटराग्रेभ्यः (८.४.४)

वनशब्दस्योत्तरपदस्य एभ्य एव णत्वं नान्येभ्यः। इह कोटरान्ताः पञ्च दीर्घविधौ कोटरादयो बोध्याः। तेषां कृतदीर्घाणां णत्वविधौ निर्देशो नियमार्थः। अग्रेशब्दस्य तु विध्यर्थः। पुरगावणम्। मिश्रकावणम्। सिध्रकावणम्। सारिकावणम्। कोटरावणम्। एभ्य एव इति किम्–असिपत्रवनम्। वनस्याग्रे अग्रेवणम्। राजदन्तादिषु निपातनात्सप्तम्या अलुक्। प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा किंशुलुकागिरिः।

अनु०—पुरगा, मिश्रका, सिध्रका, सारिका, कोटरा और अग्रे शब्दों से परे वन शब्द के नकार को णत्व हो, अन्य शब्दों से (परवर्ती वन के) 'न' को 'ण' न हो। इस सूत्र में कोटरापर्यन्त पांच शब्द दीर्घविधि में कोटरादि जानने चाहिएँ। कृतदीर्घ इन शब्दों का णत्व विधि में निर्देश नियम के निमित्त है और अग्रे शब्द का विध्यर्थ है। पुरगावणम्—नरक विशेष का नाम, पटना के पास एक वन का नाम। मिश्रकावणम्—मिसरिख का जंगल। सिध्रकावणम्—स्वर्ग का एक जंगल। सारिकावणम्—एक जंगल। कोटरावणम्—एक जंगल। 'एभ्य एव' अर्थात् पुरगा, मिश्रका, सिध्रका, सारिका, कोटरा इन शब्दों से ही परे स्थित वन के 'न' को णत्व हो' ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि एतद्भिन्न शब्दों से परवर्ती वन के नकार को णत्व न हो। असिपत्रवनम्—एक नरक। अग्रेवणम्—आगरा के समीप एक जंगल। यहां (अग्रेवणम् में) राजदन्तादिगण का होने के कारण निपातन से सप्तमी का अलुक् हुआ है और प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा हुई है। किंशुलुकागिरिः—मकरानश्रृंखला, हिंगुलानदी का उद्गम, इसी पर हिंगुला देवी का मन्दिर है।

१०४०. वले (६.३.११८)

वलप्रत्यये परे दीर्घः स्यात्संज्ञायाम्। कृषीवलः।

अनु०—संज्ञा में वल प्रत्यय परे रहते पूर्ववर्ती पद को दीर्घ हो। कृषीवलः—जिसके पास खेती हो, किसान।

१०४१. मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम् (६.३.११९)

अमरावती। अनजिरादीनां किम्—अजिरवती। बह्वचः किम्—व्रीहिमती। संज्ञायाम् इत्येव, नेह —वलयवती।

अनु०—मतुप् प्रत्यय परे रहते अजिरादि शब्दों से भिन्न अनेकाच् शब्दों को दीर्घ हो। अमरावती—इन्द्रपुरी। 'अनजिरादीनाम्' ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि अजिरादि

शब्दों को दीर्घ न हो। अजिरवती—राप्ती नदी। 'बह्वचः' ऐसा क्यों कहा ? इसलिए कि बहुत अच् न होने पर दीर्घ न हो। व्रीहिमती—जिस स्त्री के पास धान हो। संज्ञा में ही दीर्घ होता है इसलिए 'वलयवती' (जिस स्त्री के पास कंगन हों) में दीर्घ नहीं हुआ।

१०४२. शरादीनां च (६.३.१२०)

शरावती।

अनु०—मतुप् प्रत्यय परे रहते शर आदि शब्दों को दीर्घ हो। शरावती—दृषद्वती का एक नाम, घग्घर, अम्बाला जिले में बहती है।

१०४३. इको वहेऽपीलोः (६.३.१२१)

इगन्तस्य दीर्घः स्याद्वहे। ऋषीवहम्। कपीवहम्। इकः किम्—पिण्डवहम्। अपीलोः किम्—पीलुवहम्। 'अपील्वादीनामिति वाच्यम्' (वा० ४००५) दारुवहम्।

अनु०—वह शब्द परे रहते पीलु शब्द से भिन्न इगन्त शब्द को दीर्घ हो। ऋषीवहम् कपीवहम्—वाहीक देश का ग्रामविशेष। 'इकः' ऐसा क्यों कहा ? इसलिए कि इगन्त न होने पर दीर्घ न हो। पिण्डवहम्—वाहीक देश में एक ग्राम। 'अपीलोः' ऐसा क्यों कहा ? इसलिए कि पीलु शब्द को दीर्घ न हो। पीलुवहम्—वाहीक देश में एक ग्राम 'पीलु आदि शब्दों को दीर्घ न हो' ऐसा कहना चाहिये।' दारुवहम्—वाहीक देश का एक ग्राम।

१०४४. उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् (६.३.१२२)

उपसर्गस्य बहुलं दीर्घः स्याद्घञन्ते परे, न तु मनुष्ये। परीपाकः, परिपाकः। अमनुष्ये किम्—निषादः।

अनु०—घञन्त शब्द परे रहते उपसर्ग को बहुलता से दीर्घ हो मनुष्य वाच्य रहते न हो। परीपाकः, परिपाकः—अच्छी तरह से पकना या पचना, परिणाम। 'अमनुष्ये' ऐसा क्यों कहा ? इसलिए कि मनुष्यवाचक होने पर दीर्घ नहीं होता। निषादः—एक जंगली जाति का मनुष्य।

१०४५. इकः काशे (६.३.१२३)

इगन्तस्योपसर्गस्य दीर्घः स्यात्काशे। वीकाशः नीकाशः। इकः किम्—प्रकाशः।

अनु०—काश शब्द परे रहते इगन्त उपसर्ग को दीर्घ हो। वीकाशः—प्रकाश, तेज, चमक। नीकाशः—आकृति, ढंग, शोभा। 'इकः' ऐसा क्यों कहा ? इसलिए कि इगन्त भिन्न उपसर्ग को दीर्घ न हो। प्रकाशः—उजाला।

१०४६. अष्टनः संज्ञायाम् (६.४.१२५)

उत्तरपदे दीर्घः । अष्टापदम् । संज्ञायां किम्—अष्टपुत्रः ।

अनु०—संज्ञा में उत्तरपद परे रहते अष्टन् शब्द को दीर्घ होता है । अष्टापदम्—सुवर्ण, मकड़ा । 'संज्ञायाम्' ऐसा क्यों कहा ? इसलिए कि संज्ञा न होने पर दीर्घ नहीं होता है । अष्टपुत्रः—जिसके आठ पुत्र हों ।

१०४७. चितेः कपि (६.३.१२७)

एकचितीकः । द्विचितीकः ।

अनु०—कप् प्रत्यय परे रहते चिति शब्द को दीर्घ अन्तादेश हो । एकचितीकः—जिसके पास अग्नि नामक एक वेदी हो ।

१०४८. नरे संज्ञायाम् (६.३.१२९)

विश्वानरः ।

अनु०—संज्ञा में नर शब्द परे रहते पूर्व पद को दीर्घ हो । विश्वानरः—सूर्य, अग्नि के पिता का नाम ।

१०४९ मित्रे चर्षौ (६.३.१३०)

विश्वामित्रः । ऋषौ किम्–विश्वमित्रो माणवकः । 'शुनो दन्तदंष्ट्राकर्णकुन्दवराह-पुच्छपदेषु दीर्घो वाच्यः' (वा० ५०४९) श्वादन्त इत्यादि ।

अनु०—ऋषि वाच्य होने पर मित्र शब्द परे रहते पूर्वपद को दीर्घ हो । विश्वामित्रः—एक ऋषि । 'ऋषौ' ऐसा क्यों कहा ? इसलिए कि ऋषि वाच्य न होने पर दीर्घ न हो । विश्वमित्रो माणवकः—विश्वमित्र एक छात्र । 'दन्त, दंष्ट्रा, कर्ण, कुन्द, वराह, पुच्छ और पद शब्द परे रहते श्वन् शब्द को दीर्घ हो ।' श्वादन्तः—कुत्ते का दांत ।

१०५०. प्रनिरन्तःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्यखदिरपीयूक्षाभ्योऽसंज्ञायामपि (८.४.५)

एभ्यो वनस्य णत्वं स्यात् प्रवणम् । कार्ष्यवणम् । इह षात्परत्वाण्णत्वम् ।

अनु०—संज्ञा न होने पर भी प्र, निर्, अन्तर, शर, इक्षु, प्लक्ष, आम्र, कार्ष्य, खदिर और पीयूक्षा शब्दों से परवर्ती वन शब्द के 'न' को 'ण' हो । प्रवणम्—उत्तम जंगल । कार्ष्यवणम्—साल का जङ्गल । यहाँ ('कार्ष्यवणम्' में) परे होने से 'न' को 'ण' हुआ है ।

१०५१. विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः (८.४.६)

एभ्यो वनस्य णत्वं वा स्यात् । दूर्वावणम्, दूर्वावनम् । शिरीषवणम्, शिरीषवनम् । 'द्व्यच्त्र्यज्भ्यामेव' (वा० ४६८४) । नेह—देवदारुवनम् । 'इरिकादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः' (वा० ४६८५) । इरिकावनम् । मिरिकावनम् । तिमिरावनम् ।

अनु०—औषधि और वनस्पति वाचक शब्दों से परवर्ती वन शब्द के 'न' को विकल्प से 'ण' हो । दूर्वावणम्, दूर्वावनम्—दूब का जंगल । शिरीषवणम्, शिरीषवनम्—सिरस का जंगल । दो और तीन अचों से युक्त शब्दों से परवर्ती वन शब्द के 'न' को 'ण' हो । इसलिए देवदारुवनम् (देवदार का जंगल)—यहाँ नहीं हुआ । 'इरिकादि शब्दों से परवर्ती वन शब्द के 'न' को 'ण' न हो ।' इरिकावनम्—इरिका (एक प्रकार की घास या पेड़) का वन । मिरिकावनम्—मिरिका (एक पौधा) का जंगल ।

१०५२. वाहनमाहितात् (८.४.८)

आरोप्य यदुह्यते तद्वाचिस्थान्निमित्तात्परस्य वाहननकारस्य णत्वं स्यात् । इक्षुवाहणम् । आहितात् किम्—इन्द्रवाहनम् । इन्द्रस्वामिकं वाहनमित्यर्थः । वहतेर्ल्युटि वृद्धिरिहैव सूत्रे निपातनात् ।

अनु०—जो उठाकर ले जाया जाए तद्वाची निमित्त के परे वाहन शब्द के 'न' को 'ण' हो । इक्षुवाहणम्—ईख ढोने की गाड़ी । 'आहितात्' ऐसा क्यों कहा ? इसलिए कि आहित न होने पर 'ण' नहीं होता है । इन्द्रवाहनम्—इन्द्र की सवारी । 'वाहनम्' में वह धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर इसी सूत्र से निपातन से वृद्धि हुई है ।

१०५३. पानं देशे (८.४.९)

पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य पानस्य नस्य णत्वं स्याद्देशे गम्ये । क्षीरं पानं येषां ते क्षीरपाणाः उशीनराः । सुरापाणाः प्राच्याः । पीयत इति पानम्, कर्मणि ल्युट् ।

अनु०—देश गम्य होने पर पूर्वपदस्थ निमित्त से परे पान शब्द के 'न' को 'ण' हो । क्षीरपाणा उशीनराः—दूध पीने वाले उसीनर । सुरापाणाः प्राच्याः—शराब पीने वाले, पूर्वी । पीयते इति पानम् । यहाँ कर्म में ल्युट् प्रत्यय हुआ है ।

१०५४. वा भावकरणयोः (८.४.१०)

पानस्य इत्येव । क्षीरपानम्, क्षीरपाणम् । 'गिरिनद्यादीनां वा' (वा० ४६८६) गिरिनदी, गिरिणदी । चक्रनितम्बा, चक्रणितम्बा ।

अनु०—पूर्वपदस्थ निमित्त से परे भाव और करण में विहित ल्युट्प्रत्ययान्त पान शब्द के 'न' को विकल्प से 'ण' हो ।' क्षीरपाणम्, क्षीरपानम्—दूध का पीना । 'गिरिनद्यादि शब्दों को भी विकल्प से 'ण' हो । गिरिणदी, गिरिनदी—पहाड़ी नदी । चक्रणितम्बा, चक्रनितम्बा—जिस स्त्री का नितम्ब चक्र के समान हो ।

१०५५. प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च (८.४.११)

पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य एषु स्थितस्य नस्य णो वा स्यात् । प्रातिपदिकान्ते-माषवापिणौ । नुमि—व्रीहिवापाणि । विभक्तौ—माषवापेण । पक्षे माषवापिनावित्यादि । 'उत्तरपदं यत्प्रातिपदिकं तदन्तस्यैव णत्वम्' (वा० ४९९०) नेह—गर्गाणां भगिनी गर्ग-भगिनी । अत एव नुम्ग्रहणं कृतम् । अङ्गस्य नुम्विधानात्तद्भक्तो हि नुम्, न तूत्तर-पदस्य । किं च 'प्रहिण्वन्' इत्यादौ हिवेर्नुमो णत्वार्थमपि नुम्ग्रहणम् । प्रेन्वनम् इत्यादौ तु क्षुभ्नादित्वान्न । 'युवादेर्न' (वा० ४९९९) । रम्ययूना । परिपक्वानि । 'एकाजुत्तर-पदे णः' (सू० ३०७)। नित्यम् इत्युक्तम् । वृत्रहणौ । हरिं मानयतीति क्विपि हरिमाणी । नुमि—क्षीरपाणिः । विभक्तौ—क्षीरपेण, रम्यविणा ।

अनु०—पूर्वपदस्थ निमित्त से परे प्रातिपदिकान्त, नुम् और विभक्ति में स्थित 'न्' को विकल्प से 'ण्' हो । प्रातिपदिकान्त में, जैसे—माषवापिणौ—उड़द बोने वाले दो व्यक्ति । नुम् में जैसे—व्रीहिवापाणि—धान बोने वाले किसानों के कुल । विभक्ति में, माषवापेण—उड़द बोने से । पक्ष में माषवापिनौ आदि । उत्तरपद जो प्रातिपदिक तदन्त 'न्' को ही 'ण्' होता है इस कारण गर्गाणां भगिनी गर्गभगिनी (गर्ग गोत्र वाले की बहिन) में 'ण' नहीं हुआ । इस निमित्त से ही नुम् का ग्रहण हुआ है । अङ्ग को नुम् विधान के कारण अङ्गावयव नुम् होता है, किन्तु उत्तरपद सम्बन्धी नुम् नहीं होता है, अथवा प्रहिण्वन् आदि में हिविधातु सम्बन्धी जो नुम् उसके 'न्' को भी 'ण्' करने के लिए इस सूत्र में नुम् ग्रहण हुआ है । प्रेन्वनम् आदि में क्षुभ्नादित्व के कारण णत्व नहीं होता है । 'युवादि को णत्व नहीं होता है ।' रम्ययूना—सुन्दर युवक द्वारा । परिपक्वानि—अच्छी तरह पके हुए । 'एकाजुत्तरपदे णः' (सू० ३०७) इस सूत्र से न को नित्य 'ण' उक्त हुआ है । वृत्रहणौ—वृत्रासुर को मारने वाले । हरिमाणी—विष्णु को पूजने वाला । नुम् में, जैसे—क्षीरपाणिः—दूध पीने वाला । विभक्ति में, क्षीरपेण—दूध पीने वाले के द्वारा । रम्यविणा—सुन्दर पक्षी द्वारा ।

१०५६. कुमति च (८.४.१३)

कवर्गवत्युत्तरपदे प्राग्वत् । हरिकामिणौ । हरिकामाणि । हरिकामेण ।

अनु०—कवर्गयुक्त उत्तरपद रहते पूर्वपदस्थ निमित्त से परे विभक्तिस्थ प्रातिपदिकान्त, नुम् और 'न्' को 'ण्' हो । हरिकामिणौ—विष्णु को चाहने वाले दो व्यक्ति । हरिकामाणि—विष्णु को चाहने वाले कुल । हरिकामेण—विष्णु की कामना वाले व्यक्ति द्वारा ।

१०५७. पदव्यवायेऽपि (८.४.३८)

पदेन व्यवधानेऽपि णत्वं न स्यात् । माषकुम्भवापेन । चतुरङ्गयोगेन । 'अतद्धित इति वाच्यम्' (वा० ५०१५) आर्द्रगोमयेण । शुष्कगोमयेण ।

अनु०—किसी पद से व्यवधान होने पर भी पूर्वपदस्थ निमित्त से परे प्रातिपदिकान्त, नुम् और विभक्ति में स्थित 'न' को 'ण' न हो। माषकुम्भवापेन—एक घड़े उड़द के बोने योग्य खेत द्वारा। चतुरङ्गयोगेन—चार अंगों वाली सेना के सम्बन्ध से। 'तद्धितप्रत्ययान्त पद से व्यवधान रहते निषेध न हो।' आर्द्रगोमयेण—गीले गोबर से। शुष्कगोमयेण—सूखे गोबर से।

१०५८. कुस्तुम्बुरूणि जातिः (६.१.१४३)

अत्र सुञ्निपात्यते। कुस्तुम्बुरुर्धान्याकम्। क्लीबत्वमतन्त्रम्। जातिः किम्—कुतुम्बुरूणि, कुत्सितानि तिन्दुकीफलानीत्यर्थः।

अनु०—जातिवाचक होने पर कुस्तुम्बुरु शब्द में निपातन से सुट् हो। कुस्तुम्बुरुः—धनिया। सूत्र में क्लीबनिर्देश अविवक्षित है। 'जातिः' ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि जातिवाचक न होने पर सुट् नहीं होता है। कुतुम्बरूणि—तेन्दू के खराब फल।

१०५९. अपरस्पराः क्रियासातत्ये (६.१.१४४)

सुञ्निपात्यते। अपरस्पराः सार्था गच्छन्ति, सततमविच्छेदेन गच्छन्तीत्यर्थः। क्रिया इति किम्—अपरपराः गच्छन्ति, अपरे च परे च सकृदेव गच्छन्तीत्यर्थः।

अनु०—क्रिया सातत्य होने पर 'अपरस्पराः' इस शब्द में निपातन से सुट् आगम होता है। अपरस्पराः सार्था गच्छन्ति—व्यापारी साथ-साथ जाते हैं। 'क्रिया' ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि निरन्तरता न होने पर सुट् नहीं होता है। अपरपरा गच्छन्ति—भिन्न भिन्न लोग एक बार एक साथ जाते हैं।

व्याख्या—गमनादि क्रिया निरन्तर होनी चाहिये।

१०६०. गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु (६.१.१४५)

सुट् सस्य षत्वं च निपात्यते। गावः पद्यन्तेऽस्मिन्देशे स गोभिः सेवितो गोष्पदः। असेविते—अगोष्पदान्यरण्यानि। प्रमाणे—गोष्पदमात्रं क्षेत्रम्। सेवित इत्यादि किम्—गोः पदं गोपदम्।

अनु०—सेवित, असेवित और प्रमाण अर्थ होने पर 'गोष्पदम्' शब्द में निपातन से सुट् और सुट् के सकार को 'ष्' होता है। गोष्पदः—जिस प्रदेश में गाएँ अधिक हों। असेवित अर्थ में, अगोष्पदान्यरण्यानि—जिन जंगलों में गाय न हों। प्रमाण अर्थ में, गोष्पदमात्रं क्षेत्रम्—गाय के खुर के बराबर (थोड़ा सा) खेत। सेवित आदि ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि सेवित, असेवित, प्रमाण अर्थ न होने पर सुट् और षत्व नहीं होते। गोः पदम् गोपदम्—गाय का पैर।

१०६१. आस्पदं प्रतिष्ठायाम् (६.१.१४६)

आत्मयापनाय स्थाने सुट् निपात्यते। आस्पदम्। प्रतिष्ठायाम् इति किम्—आपदापदम्।

अनु०—अपनी शरीररक्षा के निमित्त जो स्थान, वह वाच्य रहते 'आस्पदम्' शब्द में सुट् का निपातन से आगम हो। आस्पदम्—प्रतिष्ठित स्थान। 'प्रति' ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि प्रतिष्ठा अर्थ न होने पर 'आपदापदम्' (आपत्ति) रूप बनता है।

१०६२. आश्चर्यमनित्ये (६.१.१४७)

अद्भुते सुट्। आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत। अनित्ये किम्—आचर्यं कर्म शोभनम्।

अनु०—अद्भुत अर्थ होने पर 'आश्चर्यम्' में निपातन से सुट् हो। आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत—आश्चर्य है यदि वह भोजन करे। 'अनित्ये' ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि अद्भुत अर्थ न होने पर सुट् नहीं होता है। आचर्यम्—सुन्दर (उत्तम) काम।

१०६३. वर्चस्केऽवस्करः (६.१.१४८)

कुत्सितं वर्चो वर्चस्कमन्नमलम्। तस्मिन् सुट्। अवकीर्यत इत्यवस्करः। वर्चस्के किम्—अवकरः।

अनु०—कुत्सित वर्चस् को वर्चस्क अर्थात् अन्नमल (विष्ठा) कहते हैं, वर्चस्क अर्थ होने पर निपातन से 'अवस्कर' शब्द में सुट् का आगम होता है। अवस्करः—मल, विष्ठा रखने का स्थान। 'वर्चस्के' ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि वर्चस्क अर्थ न होने पर सुट् नहीं होता है। अवकरः—धूल।

१०६४. अपस्करो रथाङ्गम् (६.१.१४९)

अपकरोऽन्यः।

अनु०—रथाङ्ग अर्थ होने पर अपस्कर शब्द में निपातन से सुट् होता है। अपस्करः—पहिया। अन्य अर्थ में सुट् नहीं होता, अपकरः—सिन्धु तट् पर स्थित आधुनिक भक्खर।

१०६५. विष्किरः शकुनिर्विकिरो वा (६.१.१५०)

पक्षे विकिरः। 'वावचनेन सुड्विकल्पे सिद्धे विकिरग्रहणं तस्यापि शकुनेरन्यत्र प्रयोगो मा भूत्' इति वृत्तिः। तन्न, भाष्याविरोधात्।

अनु०—शकुनि अर्थ होने पर विष्किरः शब्द में निपातन से विकल्प से सुट् हो। विष्किरः—पक्षी। पक्ष में विकिरः—पक्षी। सूत्रस्थ 'वा' शब्द से ही सुट् का विकल्प सिद्ध है (एवं "विष्करः विकरः" रूप बन सकते हैं) फिर विकिर शब्द का सूत्र में ग्रहण करने से ज्ञात होता है कि विकिर शब्द का शकुनि से भिन्न अर्थ में प्रयोग नहीं होता। वृत्तिकार का यही अभिप्राय है, किन्तु भाष्यकार इससे सहमत नहीं हैं। अतः वे "विष्किरः शकुनौ वा" ऐसा सूत्र पढ़ते हैं।

१०६६. प्रतिष्कशश्च कशेः (६.१.१५२)

'कश गतिशासनयोः' इत्यस्य प्रतिपूर्वस्य पचाद्यचि सुट् निपात्यते षत्वं च। सहायः पुरोयायी वा प्रतिष्कश इत्युच्यते। कशेः किम्–प्रतिगतः कशां प्रतिकशोऽश्वः। यद्यपि कशेरेव कशा, तथापि कशेरिति धातोर्ग्रहणमुपसर्गस्य प्रतेर्ग्रहणार्थम्, तेन धात्वन्तरोपसर्गान्न।

अनु०—प्रति पूर्वक गतिशासनार्थक कश धातु के उत्तर पचादित्व के कारण अच् प्रत्यय करने पर निपातन से सुट् का आगम और सुट् के 'स्' को 'ष्' होता है। प्रतिष्कशः—सहायक या अग्रगामी। 'कशे' ऐसा धातुनिर्देश क्यों किया? प्रतिगतः कशां प्रतिकशोऽश्वः (कोड़ा खाने वाला (खराब) घोड़ा)— यहाँ सुट् और षत्व न हों। यद्यपि 'कशा' कश् धातु से ही बना है, तथापि कशेः यह धातुग्रहण उपसर्ग प्रति के ग्रहण के निमित्त है, अर्थात् कश् धातु के योग में जहाँ उपसर्ग संज्ञा प्रति की हुई हो वहीं सुट् के स् को ष् हो इसलिए प्रतिगतः कशाम्—प्रतिकशोऽश्वः—यहाँ गम् धातु के योग में प्रति की उपसर्ग संज्ञा होने के कारण कश् धातु के योग में प्रति को उपसर्गत्व नहीं है। अतः सुट् के स् को ष् नहीं हुआ है।

१०६७. प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी (६.१.१५३)

हरिश्चन्द्रग्रहणममन्त्रार्थम्। ऋषी इति किम्–कण्वो देशः, हरिश्चन्द्रो माणवकः।

अनु०—(ऋषि वाच्य होने पर प्रस्कण्व और हरिश्चन्द्र इन दो शब्दों में निपातन से सुट् होता है।) सूत्र में हरिश्चन्द्रग्रहण अमन्त्रार्थ है। 'ऋषी' ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि ऋषि न होने पर सुट् नहीं होता है। प्रकण्वः—एक देश का नाम। हरिचन्द्रः—एक छात्र का नाम।

व्याख्या—हरिश्चन्द्रग्रहणम् इति। **प्र०**—मन्त्र होने पर 'ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे' (६.१.१५१) से सुट् का आगम सिद्ध ही था, फिर हरिश्चन्द्र के ग्रहण करने की क्या आवश्यकता थी। **उ०**—इस सूत्र में हरिश्चन्द्र ग्रहण अमन्त्रार्थ है, अर्थात् मन्त्र से भिन्न स्थल में भी सुट् हो सके इसलिए सूत्र में हरिश्चन्द्र शब्द का ग्रहण किया है।

१०६८. मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः (६.१.१५४)

मकरशब्दोऽव्युत्पन्नः तस्य सुडिनिश्च निपात्यते। वेणु इति किम्–मकरो ग्राहः, मकरी समुद्रः।

अनु०—(वेणु और परिव्राजक अर्थ होने पर मस्कर और मस्करिन् निपातन से सिद्ध होते हैं।) मकर शब्द व्युत्पत्तिसिद्ध नहीं है उसको निपातन से सुट् और इन् प्रत्यय होकर मस्करिन् शब्द सिद्ध हुआ है। 'वेणु इति' ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि वेणु और परिव्राजक अर्थ न होने पर सुट् आगम नहीं होता। मकरो ग्राहः—मगर, ग्राह। मकरी—मगरों वाला समुद्र।

१०६९. कास्तीराजस्तुन्दे नगरे (६.१.१५५)

ईषत्तीरमस्यास्तीति कास्तीरं नाम नगरम् । अजस्येव तुन्दमस्येति अजस्तुन्दं नाम नगरम् । नगरे किम्—कातीरम्, अजतुन्दम् ।

अनु०—(नगर अर्थ होने पर कास्तीर और अजस्तुन्द शब्दों में निपातन से सुट् होता है ।) 'ईषत्तीरम् अस्यास्ति' इस विग्रह में 'कास्तीरम्' बना । इस नाम का नगर है । 'अजस्येव तुन्दमस्य' इस विग्रह में 'अजस्तुन्दम्'—एक नगर । 'नगरे' ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि नगर अर्थ न होने पर सुट् नहीं होता है । कातीरम्—खराब तट । अजतुन्दम्—बकरे की तोंद ।

१०७०. कारस्करो वृक्षः (६.१.१५६)

(ग० १५३) कारं करोतीति कारस्करो वृक्षः । अन्यत्र कारकरः । केचित् कस्कादिष्विदं पठन्ति, न सूत्रेषु ।

अनु०—(वृक्ष अर्थ में कारस्कर शब्द में निपातन से सुट् होता है ।) 'कारं करोति' इस विग्रह में कारस्करः—एक वृक्ष । वृक्ष अर्थ न होने पर कारकरः—कार्यकर्त्ता । किसी किसी ने सूत्र में पाठ न करके कस्कादि गण में इसका पाठ किया है ।

१०७१. पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् (६.१.१५७)

एतानि ससुट्कानि निपात्यन्ते नाम्नि । पारस्करः । किष्किन्धा । 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च' (वा० ३७१३) तात्पूर्वं चर्त्वेन दकारो बोध्यः । तद्बृहतोर्दकारतकारौ लुप्येते । करपत्योस्तु सुट् । चोरदेवतयोरिति समुदायोपाधिः । तस्करः बृहस्पतिः । 'प्रायस्य चित्तिचित्तयोः' (वा ३७१४) । प्रायश्चित्तिः, प्रायश्चित्तम् । वनस्पतिरित्यादि । आकृतिगणोऽयम् ।

अनु०—संज्ञा अर्थ होने पर पारस्करादि शब्दों को निपातन से सुट् होता है । पारस्करः—एक मुनि, आधुनिक थरपारकर । किष्किन्धा—बालि की राजधानी, हैदराबाद के दक्षिण में मैसूर राज्य का एक स्थान । 'चोर और देवता' अर्थ होने पर कर और पति शब्द परे रहते तद् और बृहत् शब्द को सुट् का आगम होता है और तद् के द् का, एवं बृहत् के त् का लोप होता है ।' कर और पति शब्द परे रहते सुट् का आगम होता है । तस्करः—चोर । बृहस्पतिः—देवता । 'चित्ति और चित्त शब्द परे रहते प्रायः शब्द को सुट् का आगम होता है ।' प्रायश्चित्तिः—पापों के शोधन का कर्म । प्रायश्चित्तम्—पापों के शोधन का कर्म । इसी प्रकार वनस्पति पारस्कर आदि । पारस्करादि आकृतिगण है ।

व्याख्या—आकृतिगणोऽयम् । पारस्करादि गण का अर्थ है—वह गण जिसमें पारस्करादि उन शब्दों की सूची है जिनमें सुट् का आगम हुआ है । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं समझ लेना चाहिए कि इस गण में पठित शब्दों में ही सुट् का आगम होता है अन्यत्र नहीं । कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनमें सुट् का आगम हुआ है किन्तु वे इस गण में पठित नहीं हैं ।

अतः पारस्करादि गण आकृतिगण है अर्थात् पारस्करादि आकार के शब्दों को जो पारस्करादि गण में संकलित नहीं हैं किन्तु जिनमें 'सुट्' का आगम हुआ है पारस्करादि गण का ही समझ लेना चाहिए ।

॥ इति समासाश्रयविधिप्रकरणम् ॥

सूत्र-सूची

सूत्राङ्काः	सूत्राणि
६६४.	अक्षशलाका०
९४४.	अक्ष्णोऽदर्शनात्
९२४.	अग्नेः स्तुत्०
७९५.	अग्राख्या०
८८३.	अग्रान्तशुद्ध०
८५३.	अङ्गुलेर्दारुणि
९४५.	अचतुरविचतुर०
७७०.	अच्छ गत्यर्थ०
९४३.	अच्प्रत्यन्नव०
९०४.	अजाद्यदन्तम्
८५६.	अञ्नासिकायाः०
७९८.	अतेः शुनः
६९१.	अत्यन्तसंयोगे०
७७१.	अदोऽनुपदेशे
७०७.	अधिकरणवाचि०
९१९.	अधिकरणैतावत्त्वे
९०९.	अध्ययनतोऽवि०
९०८.	अध्वर्युक्रतु०
७७६.	अनत्याधान०
६७८.	अनश्च
७६३.	अनुकरणं चानिति०
९५१.	अनुगवम्०
६६९.	अनुर्यत्
९०७.	अनुवादे चरणा०
८०३.	अनेकमन्य०
७९६.	अनोऽश्मायः०
७६६.	अन्तरपरिग्रहे
८५५.	अन्तर्बहिर्भ्यां०
६९६.	अन्नेन व्यञ्जनम्
६७५.	अन्यपदार्थे च०
९४९.	अन्ववतप्तात्०
८१५.	अपथं नपुंसकम्
६६६.	अपपरिबहिरञ्चवः०
१०५९.	अपरस्पराः०
१०६४.	अपस्करो०
७००.	अपेतापोढ०
८३२.	अप्पूरणी०
९७०.	अमूर्धमस्तकात्०
७८३.	अमैवाव्ययेन
१०२६.	अर्थे विभाषा
७१३.	अर्धं नपुंसकम्
८१६.	अर्धर्चाः०

सूत्राङ्काः	सूत्राणि
८०२.	अर्धाच्च
९५८.	अलुगुत्तरपदे
८७५.	अल्पाख्यायाम्
९०५.	अल्पाच्तरम्
९४७.	अवसमन्धेभ्यः०
६५२.	अव्ययं विभक्ति०
६५१.	अव्ययीभावः
६५९.	अव्ययीभावश्च
६६०.	अव्ययीभावे चा०
६७७.	अव्ययीभावे शरत्०
८२७.	अशाला च
१०२५.	अषष्ठ्यतृतीया०
१०४६.	अष्टनः संज्ञायाम्
७६९.	अस्तञ्च
८१८.	अस्मदो द्वयोश्च
७८७.	अहःसर्वैक०
७८९.	अह्नष्ट०
७९१.	अह्नोऽद०
७९०.	अह्नोऽह्न०
९६२.	आज्ञायिनी च
६६७.	आङ् मर्यादाभि०
९६३.	आत्मनश्च
७६४.	आदरानादरयोः०
९२१.	आनङ् तो०
८०७.	आन्महतः०
८९२.	आपोऽन्य०
१०६२.	आश्चर्यमनित्ये
१०६१.	आस्पदं०
१०४५.	इकः काशे
१०४३.	इको वहे०
९९९.	इको ह्रस्वो०
८६६.	इच्कर्मव्यतिहारे
१०१८.	इदंकिमोः०
९२५.	इद्भ्दौ
८९०.	इनः स्त्रियाम्
१००६.	इष्टकेषीका०
९२३.	ईदग्नेः सोम०
८९४.	ईयसश्च
७५५.	ईषदकृता
१०३१.	ईषदर्थे
९८७.	उगितश्च
७९४.	उत्तमैका०

सूत्राङ्काः	सूत्राणि
८००.	उत्तरमृग०
९९५.	उदकस्योदः०
८८६.	उद्विभ्यां काकुदस्य०
८२४.	उपज्ञोपक्रमं०
७८२.	उपपदमतिङ्
८७६.	उपमानाच्च
७९९.	उपमानादप्राणिषु
७३४.	उपमानानि सामान्य०
७३५.	उपमितं व्याघ्रा०
८५८.	उपसर्गाच्च
१०४४.	उपसर्गस्य०
९५३.	उपसर्गादध्वनः
८५९.	उपसर्गादनोत्परः
६५४.	उपसर्जनं पूर्वम्
७७४.	उपाजेऽन्वाजे
८८९.	उरःप्रभृतिभ्यः०
९२८.	उषासोषसः
९४२.	ऊदनोर्देशे
८६९.	ऊर्ध्वाद्विभाषा
७९२.	ऊर्यादिच्वि०
९४०.	ऋक्पूरब्धूः०
९९३.	ऋचः शे
९८१.	ऋतो विद्या०
१०००.	एकतद्धिते च
६५५.	एकविभक्ति०
९९७.	एकहलादौ०
८११.	एकादिश्चैकस्य०
१०२३.	एति संज्ञायाम्०
९६०.	ओजःसहोऽम्भः०
८४७.	ओगुणः०
८८४.	ककुदस्या०
७५१.	कडाराः कर्म०
७६७.	कणेमनसी०
७४२.	कतरकतमौ जाति०
१०३६.	कर्णे लक्षणस्या०
७१०.	कर्तरि च
६९४.	कर्तृकरणे कृता०
७०८.	कर्मणि च
१०३३.	कवं चोष्णे
१०३०.	का पथ्यक्षयोः
९६८.	कारनाम्नि च०
१०७०.	कारस्करो०
१००७.	कारे सत्या०
६९०.	कालाः

सूत्राङ्काः	सूत्राणि
७१६.	कालाः परि०
१०६९.	कास्तीराजस्तुन्दे०
७४३.	किं क्षेपे
९५५.	किमः क्षेपे
७६१.	कुगति०
७३२.	कुत्सितानि०
१०५६.	कुमति च
८०६.	कुमहद्०
७५२.	कुमारः श्रमणा०
८७८.	कुम्भपदीषु च
१०५८.	कुस्तुम्बुरूणि०
७४९.	कृत्यतुल्याख्या०
६९५.	कृत्यैरधिकार्थे०
७२०.	कृत्यैर्ऋणे
८३४.	केऽणः
१०२७.	कोः कत्तत्पुरुषे०
७०६.	क्तेन च
७३९.	क्तेन नञ्०
७२२.	क्तेनाहो०
७८५.	क्त्वा च
८३७.	क्यङमानिनोश्च
९१२.	क्षुद्रजन्तवः
७९२.	क्षुभ्नादिषु०
७२४.	क्षेपे
६८८.	खट्वा क्षेपे
८०३.	खार्याः
८७४.	गन्धस्येत्०
९१५.	गवाश्च०
९६७.	गवियुधिभ्यां०
६८३.	गिरेश्च सेनकस्य
७२९.	गोरतद्धित०
१०६०.	गोष्पदं सेविता०
६५६.	गोस्त्रियोरुप०
१०१०.	ग्रन्थान्ताधिके च
७९७.	ग्रामकौटाभ्यां०
९३९.	ग्राम्यपशु०
९७५.	घकालतनेषु०
९८५.	घरूपकल्प०
१००१.	ङ्यापोः संज्ञा०
६९८.	चतुर्थी तदर्थार्थ०
७५३.	चतुष्पादो०
१०१४.	चरणे ब्रह्मचारिणि
९०१.	चार्थे द्वन्द्वः

सूत्राङ्काः	सूत्राणि
१०४७.	चितेः कपि
८२५.	छाया बाहुल्ये
८६४.	जम्भा सुहरित०
९१०.	जातिरप्राणिनाम्
८४२.	जातेश्च
८१७.	जात्याख्यायाम्०
८७२.	जायाया निङ्
७८०.	जीविकोपनिषदा०
१०२१.	ज्योतिरायुषः०
१०१३.	ज्योतिर्जनपद०
६८२.	झयः
६८४.	तत्पुरुषः
७४५.	तत्पुरुषः समाना०
७८६.	तत्पुरुषस्याङ्गुलेः०
९७२.	तत्पुरुषे कृति०
८२२.	तत्पुरुषोऽनञ्
७२३.	तत्र
८४६.	तत्र तेनेदमिति
७८१.	तत्रोपपदं०
७२८.	तद्धितार्थोत्तर०
८३६.	तसिलादिष्वा०
७५८.	तस्मान्नुडचि
७७२.	तिरोऽन्तर्धौ
८४४.	ति विंशतेर्डिति
६७१.	तिष्ठद्गु०
८२०.	तिष्यपुनर्वस्वो०
१०१५.	तीर्थे ये
७०९.	तृजकाभ्यां०
१०२९.	तृणे च०
६९२.	तृतीया तत्कृता०
७८४.	तृतीयाप्रभृतीन्य०
६५८.	तृतीयासप्तम्योः०
८४८.	तेन सहेति०
९३८.	त्यदादीनि०
८८५.	त्रिककुत्
८०९.	त्रेस्त्रयः
१००२.	त्वे च
८६५.	दक्षिणेर्मा०
७२७.	दिवसंख्ये०
८४५.	दिङ्नामान्य०
९२७.	दिवसश्च
९२६.	दिवो द्यावा
१०१७.	दृग्दृशवतुषु
९२२.	देवताद्वन्द्वे च
९०६.	द्वन्द्वश्च प्राणि०
९३०.	द्वन्द्वाच्चुदष०
९०३.	द्वन्द्वे घि
७३१.	द्विगुरेक०
६५८.	द्विगुश्च
७१४.	द्वितीयतृतीय०
६८६.	द्वितीया श्रिता०
१०११.	द्वितीये चानु०
८५४.	द्वित्रिभ्यां ष मूर्धनः
८०४.	द्वित्रिभ्यामञ्जलेः
८६७.	द्विदण्डचादिभ्यश्च
९५२.	द्विस्तावा०
९४१.	द्व्यन्तरुप०
८०८.	द्व्यष्टनः संख्या०
८७०.	धनुषश्च
८६३.	धर्मादनिच्
९१९.	ध्वाङ्क्षेण क्षेपे
८३५.	न कपि
८३८.	न कोपधायाः
१०२४.	नक्षत्राद्वा
७६०.	नगोऽप्राणिष्वन्य०
७५६.	नञ्
९५६.	नञस्तत्पुरुषात्
८६१.	नञ्दुःसुभ्यो०
९१८.	न दधिपय०
६८१.	नदीपौर्णमास्या०
६७४.	नदीभिश्च
९८६.	नद्याः शेषस्या०
८३३.	नद्यृतश्च
७०४.	न निर्धारणे
९३५.	नपुंसकमनपुंसकेन०
६८०.	नपुंसकादन्य०
९५४.	न पूजनात्
७५९.	नभ्राण्नपात्०
१०४८.	नरे संज्ञायाम्
७५७.	नलोपो नञः
७९३.	न संख्यादेः०
८९३.	न संज्ञायाम्
६७९.	नस्तद्धिते
१०३७.	नहिवृति०
८९६.	नाडीतन्त्र्योः०
८०१.	नावो द्विगोः
६५७.	नाव्ययीभावात्०
७७८.	नित्यं हस्ते०
७११.	नित्यं क्रीडा०

सूत्राङ्काः	सूत्राणि
८६२.	नित्यमसिच्०
८९९.	निष्ठा
८९७.	निष्प्रवाणिश्च
९७७.	नेन्सिद्ध०
६९९.	पञ्चमी भयेन
९५९.	पञ्चम्याः स्तोका०
९५७.	पथो विभाषा
१०५७.	पदव्यवायेऽपि
९९१.	पद्यत्यतदर्थे
८१२.	परवल्लिङ्गं०
९६५.	परस्य च
७२५.	पात्रेसमिता०
९९०.	पादस्य पदाज्याति०
८७७.	पादस्य लोपो०
१०५३.	पानं देशे
७३३.	पाषाणके०
१०७१.	पारस्करप्रभृतीनि०
६७२.	पारे मध्ये०
९३६.	पिता मात्रा
७४६.	पुंवत्कर्मधारय०
९८०.	पुत्रेऽन्यतरस्याम्
९३३.	पुमान् स्त्रिया
७६८.	पुरोऽव्ययम्
७०५.	पूरणगुण०
८८७.	पूर्णाद्विभाषा
७२६.	पूर्वकालैक०
८५७.	पूर्वपदात्संज्ञाया०
८१३.	पूर्ववदश्व०
६९३.	पूर्वसदृश०
७३७.	पूर्वापरप्रथम०
७१२.	पूर्वापराधरो०
१०३४.	पृषोदरादीनि०
९९६.	पेषंवास०
७४४.	पोटायुवति०
८५०.	प्रकृत्याशिषि
१०६६.	प्रतिष्कशश्च
९५०.	प्रतेरुरसः०
६५३.	प्रथमानिर्दिष्टं०
१०५०.	प्रनिरन्तःशरेक्षु०
७४७.	प्रशंसावचनैश्च
८६८.	प्रसंभ्यां०
१०६७.	प्रस्कण्वहरिश्च०
६४८.	प्राक्कडारात्०
१०५५.	प्रातिपदिकान्तनु०
७७९.	प्राध्वं बन्धने
७१५.	प्राप्तापन्ने च
९७३.	प्रावृट्शरत्०

सूत्राङ्काः	सूत्राणि
८१९.	फल्गुनीप्रोष्ठ०
१००५.	बन्धुनि बहुव्रीहौ
९७१.	बन्धे च
८५२	बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०
८५१.	बहुव्रीहौ संख्येये०
८०५.	ब्रह्मणो जानपदा०
८४६.	ब्रह्महस्तिभ्यां०
६९७.	भक्ष्येण मिश्रीकरणम्
१०२०.	भीरोः स्थानम्
७३५.	भूषणेऽलम्
९३४.	भ्रातृपुत्रौ स्वसृ०
१०४१.	मतौ बह्वचो०
९६९.	मध्यादगुरौ
७७७.	मध्ये पदे०
९६१.	मनसः संज्ञायाम्
९९८.	मन्थौदन०
७५४.	मयूरव्यंसकाद०
१०६८.	मस्करमस्करिणौ०
९२९.	मातरपितरावुदीचाम्
९८३.	मातुःपितुर्भ्यामन्य०
९८४.	मातृपितृभ्यां स्वसा
१०४९.	मित्रे चर्षौ
६६१.	यथाऽसादृश्ये
६७०.	यस्य चायामः
७०३.	याजकादिभिश्च
६६२.	यावदवधारणे
७४८.	युवा खलति०
९१३.	येषां च विरोधः०
१०२८.	रथवदयोश्च
९०२.	राजदन्तादिषु०
७८८.	राजाहःसखिभ्य०
८१४.	राट्राज्ञाहाः०
१००८.	राज्ञः कृति०
६६८.	लक्षणेनाभिप्रती०
८७३.	लोपो व्योर्वलि
१०३८.	वनगिर्योः०
१०३९.	वनं पुरगामिश्रका०
८९५.	वन्दिते भ्रातुः
८८०.	वयसि दन्तस्य०
१०६३.	वर्चःकेऽवस्करः
७५०.	वर्णो वर्णेन
१०४०.	वले
९९४.	वा घोङ्गमिश्रशब्देषु
९८९.	वा शोकष्यञ्रोगेषु
१०५४.	वा भावकरणयोः

सूत्राङ्काः	सूत्राणि
८७१.	वा संज्ञायाम्
१०५२.	वाहनमाहितात्
९०७.	वाऽऽहिताग्न्यादिषु
९१७.	विप्रतिषिद्धं चानधि०
६६५.	विभाषा
७७३.	विभाषा कृञि
८१०.	विभाषा चत्वारिंशत्०
१०३२.	विभाषा पुरुषे
९७४.	विभाषा वर्षक्षरश०
९१६.	विभाषा वृक्षमृग०
८८२.	विभाषा श्यावारो०
९२०.	विभाषा समीपे
८२८.	विभाषा सेनासुरा०
९८२.	विभाषा स्वसृपत्योः
१०१६.	विभाषोदरे
१०५१.	विभाषौषधिवनस्प०
९११.	विशिष्टलिङ्गो०
७३६.	विशेषणं विशेष्येण०
१०६५.	विष्किरः शकुनौ०
८४०.	वृद्धिनिमित्तस्य०
९३१.	वृद्धो यूना तल्लक्षण०
७४१.	वृन्दारकनाग०
९६४.	वैयाकरणाख्यायां०
८४९.	वोपसर्जनस्य
९७६.	शयवासः०
१०४२.	शरादीनां च
९१४.	शूद्राणामनिरवसि०
८९१.	शेषाद्विभाषा
८२९.	शेषो बहुव्रीहिः
७३८.	श्रेण्यादयः कृता०
९३७.	श्वशुरः श्वश्रूवा
९४८.	श्वसो वसीयः०
७०२.	षष्ठी
९७९.	षष्ठया आक्रोशे
१००३.	ष्यङः सम्प्रसारणं०
१०३५.	संहितायाम्
८४३.	संख्ययाव्यया०
७३०.	संख्यापूर्वो द्विगुः
६७३.	संख्या वंश्येन
८७९.	संख्यासुपूर्वस्य
८३९.	संज्ञापूरण्योश्च
७२१.	संज्ञायाम्
८२३.	संज्ञायां कन्थोशी०
८२१.	स नपुंसकम्
७४०.	सन्महत्परमो०
८९८.	सप्तमीविशेषणे०
७१७.	सप्तमी शौण्डैः
८२६.	सभा राजा०
६४७.	समर्थः पदविधिः
१०१२.	समानस्यच्छन्दस्य०
६७६.	समासान्ताः
१०१९.	समासेऽङ्गुलेः सङ्ग०
१००४.	सम्प्रसारणस्य
६४९.	सह सुपा
१००९.	सहस्य सः संज्ञा०
७७५.	साक्षात्प्रभृतीनि०
६८९.	सामि
७१८.	सिद्धशुष्क०
६५०.	सुपो धातु०
६६३.	सुप्प्रातिना०
८६०.	सुप्रातसुश्व०
१०२२.	सुषामादिषु च
८८८.	सुहृद्दुर्हृदौ०
७०१.	स्तोकान्तिक०
८३१.	स्त्रियाः पुंवत्०
८८१.	स्त्रियां संज्ञायाम्
९३२.	स्त्री पुंवच्च
९७८.	स्थे च भाषायाम्
६८७.	स्वयं क्तेन
८४१.	स्वाङ्गाच्चेतः
९६६.	हलदन्ता०
९९२.	हिमकाषि०
९८८.	हृदयस्य हृल्लेख०

वार्त्तिक-सूची

अकारान्तोत्तरपदो० (८२१)
अगोवत्सहलेष्विति० (८५०)
अञ्जस उपसंख्यानम् (९६०)
अतद्धित इति वाच्यम् (१०५७)
अत्यादयः क्रान्ताद्यथ० (७८०)
अद्रुतायामसंहितम् (७५०)
अद्वन्द्वतत्पुरुष० (९३८)
अन्ताच्च (९६९)
अनेकप्राप्तावेकत्र० (९०३)
अनेकशफेष्विति (९३९)
अनो नलोपश्च० (८२१)
अपरस्यार्धे० (७३७)
अपील्वादीनामिति० (१०४३)
अभ्यर्हितं च (९०५)
अभ्रूकुंसादीना० (९९९)
अमानिनीति (८४१)
अर्थेन नित्यसमासो० (६९८)
अवरस्योप० (६९३)
अवर्णान्ताद्वा (९४१)
अवादयः० (७८०)
अष्टनः कपाले० (८०७)
अस्तोश्चेति० (१००७)
अहर्गृहणं० (७८७)
आबन्तो वा (८२१)
आमुष्यायणा० (९७९)

इके चरतावुप० (९९१)
इत्येऽजभ्याशस्य (१००७)
इयङुवङ भाविना० (९९९)
इरिकादिभ्यः (१०५१)
इवेन समासो (६५०)
ईयसो बहुव्रीहे० (८९४)
ईषद् गुणवचने० (७५५)

उत्तरपदं यत्प्रातिपदिकं० (१०५५)
उत्तरपदस्य चेति० (९९५)
उत्तरपदेन० (७१६)
उष्णभद्रयोः० (१००७)

ऋतुनक्षत्राणां० (९०५)

एकविभक्ता० (७१३)

कर्मप्रवचनीयानां० (७८०)
कल्पब्देशीयरौ (८३६)
कुक्कुटचादीना० (८३६)
कृद्योगा च षष्ठी० (७०३)
कृन्नद्या न (९८६)
कृष्णोदक्पाण्डु० (९४३)
कारिकाशब्दस्यो० (७६२)
कारके छे च (१०२५)
कोपधप्रतिषेधे (८३८)

ख्यश्च (८५९)
खुरखराभ्यां वा नस् (८५७)

गड्वादेः परा सप्तमी (८९८)
गन्धस्येत्त्वे तदेकान्त० (८७४)
गम्यादीना० (६८६)
गवि च युक्ते (८०७)
गिरिनद्यादीनां वा (१०५४)
गिलगिले च (१००७)
गिलेऽगिलस्य (१००७)
गणात्तरेण० (७०३)

घ्यन्तादजाद्यदन्तं० (९०४)

चतुष्पाज्जाति० (७५३)
च्व्यर्थ इति वाच्यम् (७७५)
चरट्जातीयरौ (८३६)

जातिकाल० (८९९)

ठक्छसोश्च (८३६)

तद्वृहतोः (१०७१)
त्यदादितः शेषे० (९३८)
त्यदादीनां मिथः० (९३८)
तरप्तमपौ (८३६)
त्वतलोर्गुणवचनस्य (८३६)
त्वतसौ (८३६)
त्र्यपाभ्यां (९४५)
त्रौ च (१०२७)
तिल्ध्यनौ (८३६)
थाल् (८३६)

दिक्छब्देभ्य० (१०३४)
दिवसश्च दासे (९७९)
द्व्यच्त्र्यज्भ्यामेव (१०५१)

द्वन्द्वतत्पुरुषयो० (७२८)
द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्व० (८१२)
दुरो दाशनाशदभ० (१०३४)
दृक्षे च (१०१८)
दृक्षे चेति वक्तव्यम् (१०१७)
देवानांप्रिय इति च मूर्खे (९७९)

धर्मादिष्वनियमः (९०२)
धेनोर्भव्यायाम् (१००७)

नञो नलोप० (७५८)
नञोऽस्त्यर्थानां (८३०)
निरादयः क्रान्ताद्यर्थे० (७८०)
निष्के चेति (९९४)
नेतुर्नक्षत्रे (८५४)

पथः संख्याव्ययादेः (८२१)
पर्यादयः ग्लानाद्यर्थे० (७८०)
पर्यायस्यैवेष्यते (८२६)
पल्यराजभ्यां० (९४६)
पात्राद्यन्तस्य न (८२१)
पुण्यसुदिनाभ्यां० (८२१)
पुंवद्भावप्रतिषेधो० (८३२)
पुंसानुजो जनुषान्ध० (९६०)
पूरण इति वक्तव्यम् (९६३)
प्रतिपदविधाना षष्ठी न० (७०४)
प्रहरणार्थेभ्यः परे० (९००)
प्राक्शतादिति (८०८)
प्रादयो गताद्यर्थे (७८०)
प्रादिभ्यो धातुजस्य० (८३०)
प्रायस्य चित्तिचित्तयोः (१०७१)

फलसेनावनस्पति० (९१६)

ब्राह्मणाच्छंसिन (९५९)

भयभीतभीतिभीभि० (६९९)
भस्याढे तद्धिते (८३६, ८४२)
भ्रातुर्ज्यायसः (९०५)
भ्राष्ट्राग्न्योरिन्धे (१००७)

महत आत्त्वे घासकर० (८०७)
मिथोऽनयोः समासे (८९८)
मातज्मातृकमातृषु वा (१००५)
युवादेर्न (१०५५)

रूपप्पाशपौ (८३६)

लघ्वक्षरं पूर्वम् (९०५)
लोकस्य पूणे (१००६)

वेर्गो वक्तव्यम् (८५९)
वर्णानामानुपूर्व्येण (९०५)
वाक्दिग्पश्यद्भ्यो० (९७९)
वा प्रियस्य (८९८)
वायुशब्दप्रयोगे० (९२२)
विद्यायोनि० (९८१)
विरूपाणामपि० (वा० ७४७)
विष्णौ न (९२५)
वृक्षादौ विशेषणामेव० (९१६)

शसि बह्वल्पार्थस्य (८३६)
शाकपार्थिवादीनां० (७३९)
शुनो दन्तदंष्ट्रा (१०४९)
शेषपुच्छ० (९७९)
श्रेण्यादिषु० (७३८)
षष उत्त्वं० (८११)
संख्यापूर्व० (८१४)
संख्याया अल्पीयस्याः (८९८)
संख्याया नदी० (९४३)
संख्यायास्तत्पुरुषस्य (८५१)
समाहारे० (६७८)
सर्वनामसंख्ययो० (८९८)
सर्वनाम्नो० (७२८)
सविशेषणस्य० (८१८)
सामान्ये० (८२१)
स्थेणोर्लुङीति (९०७)
स्वस्तिभ्यामेव (९५४)
हृद्द्युभ्याञ्च (९६७)

गणसूत्राणि

अर्थान्निञः (८८९)
आख्यातमाख्यातेन (७५४)
एहीडादयो० (७५४)
जराया जरस्० (६७७)
जहि कर्मणा० (७५४)
प्रतिपरसमनुभ्यो० (६७७)

परिभाषासूत्राणि

अनिनस्मन्० (८९०)
उत्तरपदाधिकारे० (९८८)
कृद्ग्रहणे० (६९४)
गतिकारकोपपदानां० (७८२)
लक्षणप्रतिपदोक्तयोः (८०७)
संज्ञापूर्वको० (८४७)
स्त्रीप्रत्यये० (१००४)

श्रीभट्टोजिदीक्षितकृत

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

कारक प्रकरण : हिन्दी व्याख्या सहित

श्रीधरानन्द शास्त्री

इस प्रकरण में विभक्तियों के अर्थों का सविस्तार विवेचन किया गया है इसलिये इस प्रकरण का नाम विभक्त्यर्थ है । विभक्तियाँ जिन अर्थों को प्रकट करती हैं उन्हें कारक कहते हैं । प्रथमा, द्वितीया आदि विभक्तियाँ हैं, कर्ता, कर्म आदि कारक हैं । कारक विभक्तियों के अतिरिक्त उन विभक्तियों का भी निरूपण किया गया है जो पदों के योग में आती हैं और जिन्हें उपपद कहते हैं । तृतीय कोटि में काल, अध्वन् आदि अर्थवाचक शब्दों के साथ आनेवाली विभक्तियों का भी वर्णन है जो न कारक हैं, न उपपद । हिन्दी व्याख्या में इन तीनों का सोदाहरण विवेचन किया गया है । इस सम्बन्ध में तीन परिशिष्ट भी जोड़ दिये हैं ।

श्रीभट्टोजिदीक्षितकृत

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (सम्पूर्ण)

बालमनोरमा-तत्त्वबोधिनी-सहिता

संस्कर्ता-गिरिधर शर्मा एवं परमेश्वरनन्द शर्मा

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी पर चार भागों में विभक्त यह एक प्रतिनिधि टीका ग्रन्थ है । पहला और दूसरा भाग मिल कर पूर्वार्ध कहलाता है तथा तीसरा और चौथा भाग उत्तरार्ध । प्रत्येक भाग के अन्त में सूत्र सूचिका भी जोड़ दी गई है ।

प्रथम भाग - कारक प्रकरणान्त है जिसमें सातों विभक्तियों तथा उपपद व विभक्तियों के प्रयोगार्थ सूत्र दिए गए हैं ।

द्वितीय भाग में समास-प्रकरण, तद्धिताधिकार-प्रकरण तथा द्विरुक्त-प्रकरण सूत्रों सहित वर्णित हैं ।

तृतीय भाग - दसों गण (भ्वादि से चुरादि तक) तथा तिङन्त (णिच्, सन्, यङ्, यङ्लुक्, नामधातु, प्रत्ययमाला, आत्मनेपद, परस्मैपद के साथ भावकर्मतिङ् और कर्मकर्तृतिङ् के सूत्र हैं और लकारार्थ के साथ इस भाग को समाप्त किया है ।

चतुर्थ भाग - कृदन्त प्रभृति समाप्तिपर्यन्त है । कृत्य, पूर्वकृदन्त, उणादि, उत्तर कृदन्त, वैदिकी प्रक्रिया, स्वर प्रक्रिया तथा लिङ्गानुशासन विषय सूत्रबद्ध हैं । अन्त में परिशिष्ट में पाणिनीय शिक्षा तथा गणपाठ भी दे दिए गए हैं ।

मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राईवेट लिमिटेड

मूल्य: रु० ५८

ISBN 81-208-2352-4